स्वात्मोपलब्धि

(आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित समाधितंत्र ग्रंथ पर आधारित
प्रवचनों का संकलन)

प्रवचनकार

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी

आचार्य श्री १०८ वसुनंदी जी मुनिराज

प्रकाशक

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति

कृति : स्वात्मोपलब्धि (समाधितंत्र वाचना)

मंगलाशीष : परम पूज्य सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 विद्यानंद जी मुनिराज

प्रवचनकार : परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108 वसुनंदी जी मुनिराज

संपादन : आर्यिका वर्धस्वनंदनी

प्रकाशक : निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति रजि. (सर्वाधिकार सुरक्षित)

प्राप्ति स्थान : निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति
ई-16, सेक्टर 51, (गौतमबुद्ध) नोएडा: 201301
मो. 9971548889, 9867557666

संस्करण : प्रथम सन् 2018
द्वितीय सन् 2022

प्रतियाँ : 1000

I. S. B. N. No. 978-93-94199-32-3

मूल्य : सदुपयोग

मुद्रक : एन.एस. एन्टरप्राईजिज
2578, गली पीपल वाली,
धर्मपुरा, दिल्ली-110006
दूरभाष : मोबाईल : 9811725356, 9810035356
e-mail : swaneeraj@rediffmail.com

पुरोवाक्

जिणवयण मोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जर-मरण-वाहि-वेयण-खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥९५॥

जिनेन्द्र भगवान् की वचन रूपी औषधि इंद्रिय जनित विषय सुखों का विरेचन करने वाली है, अमृत स्वरूप है और जरा, मरण, व्याधि, वेदनादि सब दु:खों का नाश करने वाली है।

-मूलाचार

मनुष्यों ने ज्ञान समुद्र का मंथन कर जिन रत्न राशियों को प्राप्त किया, साहित्य रूप में सहृदयों की कण्ठाभरण होकर वे सहस्र-सहस्र आलोक किरणों में दमक रही हैं। वह विवेक का व ज्ञान का अंतर ही मनुष्य को पशुवर्ग से श्रेष्ठ सिद्ध करता है। सत्शास्त्रों से जीवन का निर्माण करना प्रत्येक विवेकशील का कर्त्तव्य है। किंतु शास्त्रों को मात्र अल्मारियों में सजाकर अपने चारों ओर रखने से ज्ञाननिधि का अवतरण जीवन में नहीं होता। साहित्य से लाभ प्राप्त करने के लिये 'स्वाध्याय' की अपेक्षा है। पुरुषार्थशील के ही सिद्धि होती है। **''क्रियासिद्धि:सत्त्वे वसति महतां नोपकरणं''** क्रिया सिद्धि पुरुषार्थ की अपेक्षा करती है, उसे उपकरणों से नहीं प्राप्त किया जा सकता।

जिस प्रकार चित्र निर्माण हेतु वर्णवर्तिका, तूलिका, रंग आदि सभी उपादान उपस्थित हों किंतु उन उपकरणों का विधिवत् उपयोग करते हुये चित्रकार को श्रम करना होगा, उसी प्रकार शास्त्रों को रखने मात्र से कुछ भी प्राप्त नहीं होगा, स्वाध्याय रूप श्रम तो करना होगा और पुन: आत्मसात् करना भी आवश्यक होगा। स्वाध्याय तो प्रत्येक विवेकी मनुष्य को करना ही चाहिये क्योंकि इससे ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। स्वाध्याय से आत्मसिद्धि का मार्ग ज्ञात होता है। यह पापों का निराकरण करने में समर्थ है। स्वाध्याय से संस्कारों में परिणामों में विशुद्धि आती है। और परिणाम विशुद्धि महान् फला है। मन को स्थिर रखने की महौषधि स्वाध्याय है। स्वाध्याय में आप्लावित मनुष्य सांसारिक भोग-विषय वासना आदि से दूर होकर अपरिमित पुण्य राशि का संचय करता है। स्वाध्याय इस लोक में ही नहीं अपितु मनुष्य का मार्गनिर्देशन कर परलोक में भी उपकारी सिद्ध होता है।

आचार्य भगवन् श्री शिवकोटि जी मुनिराज ने भगवती आराधना ग्रंथ में कहा-

आदहिद पइण्णा भाव संवरो णवणवो य संवेगो।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसि गत्तं च॥१००॥

स्वाध्याय से आत्महित का ज्ञान होता है। भाव संवर होता है, नवीन-नवीन संवेग होता है, रत्नत्रय में निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है, गुप्तियों की भावना होती है और दूसरों को उपदेश देने की क्षमता होती है।

और भी कहा है-

णाणं पयासओ सो वओ, तवो संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हंपि समाओगे मोक्खो, जिणसासणे दिट्ठो॥७६८॥भ.आ.

ज्ञान संसार, संसरण के कारण, मोक्ष व मोक्ष के कारणों का प्रकाशक है। व्रत,तप निर्जरा का कारण है, संयम गुप्तिकारक है, इन तीनों के मिलने पर ही जिनागम में मोक्ष कहा है।

सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशमान करने वाला मिहिर भी अस्त होता रहता है, परंतु ज्ञान अखंडदीप है। इसकी ज्योतिर्मयता रात्रि में तिमिर बाधित नहीं होती। स्वाध्याय से विमुख जन प्रतिकूलताओं में साम्य भाव रखने में असमर्थ होते हैं। जबकि स्वाध्याय में प्रवृत्त अध्ययनशील जन जीवन में आयी बाधाओं को समताभाव से बांधकर उन्नति की ओर पग रखते हैं।

स्वाध्याय के विषय में कहा है-

ज्ञानाभ्यास परोजीवः त्रिगुप्तेन्द्रिय संवराः।
भवेदेकाग्र चित्तस्य, तस्मात् ज्ञानं परं तपं॥

ज्ञानाभ्यास से युक्त तीन गुप्ति, पंचइन्द्रिय निरोध या संवर करता है, स्वाध्याय से मन एकाग्र होता है इसलिए ज्ञान। स्वाध्याय को परम तप कहा है।

नित्य स्वाध्याय करने वाला मानो नियमित रूप से अपने ज्ञानपात्र को ज्योति के परमाणुओं से माँजता है। प्रारंभ से स्वाध्याय को अत्यंत महत्त्व दिया गया है। **'अज्झयणमेव झाणं'** कहते हुये आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी के समक्ष स्वाध्याय की उच्च सत्ता का आदर्श विद्यमान था। उच्च आत्मज्ञान परक साहित्य का पठन ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय के माध्यम से जीवन जीने की कला आती है। जीवन एक यात्री के समान देह-सराय में रहकर अवधि बीतने पर चला जाता है।

ज्ञान के माध्यम से मानव को हित-अहित के परिज्ञान की सामर्थ्य प्राप्त होती है। परीक्षामुख में कहा गया है-

''हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्''।

जो हित प्राप्ति व अहित परिहार करने में समर्थ है वही स्वपूर्वार्थ

व्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान है, वही प्रमाण है। यह सम्यक्त्वानुमोदित सम्यग्ज्ञान प्राणी के अनंतानुबंधी कर्मों का क्षय करने में सहायक होता हुआ भव्यात्मा को सम्यक्चारित्र में प्रवृत्त कर मोक्षमार्ग पर ले जाता है।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा है कि जिस प्रकार धागे से युक्त सुई कहीं गिर जाए, खो जाए तो भी वह प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार श्रुत का अध्ययन करने वाला स्वाध्यायशील पुरुष अनंत संसार में प्रमाद से नष्ट नहीं हो सकते।

सुई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्त पुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण॥९७३॥ मूला.

जो गुरुओं के दिव्य संदेश को नवनीत के समान स्वाध्याय की मथानी से मंथन कर उसका आस्वादन करता है, वह जीवन के वास्तविक परिचय को प्राप्त करता है, वही जीवन की अमरता के स्वाद को जान पाता है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'स्वात्मोपलब्धि' आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित 'समाधितंत्र' पर परमपूज्य अभीक्षण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा 2017 में ग्रीनपार्क दिल्ली में चातुर्मास के दौरान ली गई अनुपम वाचना है। समाधितंत्र, शतक काव्य परंपरा से सम्बद्ध एक सौ पाँच पद्यात्मक अध्यात्म रस का प्रवाह प्रवाहित करने वाली पूज्य आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी की अनुपम कृति है। इसमें कृतिकार की प्रतिज्ञा है कि शुद्धात्म सुख का अनुभव प्राप्त करने के इच्छुक प्राणियों को प्रकाशमान शुद्धात्म तत्त्व को दिखलाऊँगा। प्रतिज्ञा के अनंतर तीन प्रकार की आत्मा का वर्णन है और बहिरात्मा को हेय बतलाकर अंतरात्मा में प्रवृत्ति करने की प्रेरणा पूर्वक परमात्मा को ही उपादेय बतलाया गया है। शुद्धात्मा का स्वरूप प्रतिपादन पूर्वक उसकी महत्ता का सविस्तार वर्णन आचार्य महाराज को इष्ट है। यह चिंतन की विधि का अनूठा ग्रंथ है। आचार्य श्री ने कहा है कि मैं ही उपास्य परमात्मा हूँ।

यः परमात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥३१॥

अर्थात् जो परम शुद्ध निकल-सकल परमात्मा है वही मैं हूँ। वह परमात्मा है इस कारण मेरे द्वारा मैं ही उपासना करने योग्य हूँ। एतावता वस्तु व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुये रागद्वेष शून्य आत्मा की महत्ता को बतलाकर अन्तरात्मा के कर्तव्यों का व्याख्यान किया है। शरीराभिमुखी दृष्टि को हटाकर आत्माभिमुखी दृष्टि करने की विधि समाधितंत्र में प्रतिपादित है। यदि संक्षिप्त शब्दों में कहा जाए तो यह समाधितंत्र नामक ग्रंथरत्न आत्मसाक्षात्कार कराने का समर्थ साधन है।

पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से निकली निर्मल मंदाकिनी ने भव्यों के चित्त पर जमी विषय-कषायादि की धूल को दूर किया। भव्यों के चित्त अरविंद गुरुवर श्री की आध्यात्मिक वाणी रूपी रश्मियों से विकसित हुए। ज्ञान की प्राप्ति तत्त्वदर्शी ज्ञानसंपन्न गुरुओं के चरणों में श्रद्धाभक्ति पूर्वक उपासीन होने से ही संभव है। जिन भव्य जीवों ने साक्षात् ही गुरुवर श्री की कल्याणकारी वाणी से स्व कर्णाञ्जुलि को तृप्त किया है उनके आनंद को तो नहीं कहा जा सकता, किंतु जो उस ज्ञान व आनंद से वंचित रहे वे भी कुछ प्राप्त कर सकें, अत: उसका संकलन यहाँ किया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ के संपादन में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो विज्ञजन संशोधित कर पढ़ें। हंसवत् गुणग्राही दृष्टि से इसका अध्ययन करें। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि आदि तैयार करने में सहयोगी आर्यिका यशोनंदनी माताजी एवं संघस्थ त्यागीव्रती तथा मुद्रण प्रकाशन में सहयोगी सभी धर्मस्नेही बंधुओं को परम पूज्य गुरुदेव का धर्मवृद्धि शुभाशीष। आचार्य गुरुवर श्री का संयमपथ सदैव आलोकित रहे, शताधिक वर्षों तक यह वसुंधरा गुरुवर श्री के तप-ज्ञान-साधना से आलोकित रहे। पूज्य गुरुवर श्री के चरणों में सिद्ध-श्रुत-आचार्य भक्ति सहित नमोस्तु !..... नमोस्तु !..... नमोस्तु !.....।।

श्री शुभमिति आश्विन कृष्ण 9
वीर निर्वाण संवत् 2544
श्री महावीर दि. जैन मंदिर
बैंक एन्क्लेव, लक्ष्मी नगर, दिल्ली

ऊँ ह्रीं नम:
-आर्यिका वर्धस्वनंदनी
3 अक्टूबर, 2018

अनुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ सं.
1.	भूमिका	1
2.	प्रथम मंगलाचरण	7
3.	द्वितीय मंगलाचरण	13
4.	आत्म स्वरूप कथन प्रतिज्ञा	20
5.	तज बहिरातम भज परमातम	23
6.	त्रयात्म-लक्षण	31
7.	परमात्मा के पर्यायवाची नाम	36
8.	भ्रमित है बहिरात्मा	40
9.	ज्ञानी-अज्ञानी में भेद	46
10.	मिथ्यादृष्टि की धारणा	53
11.	तत्त्वज्ञानी बनो	58
12.	ज्ञानामृतं भोजनं	62
13.	पर को अपना मान बैठा	69
14.	मौन सदा सुखदायी	73
15.	जैसी संगत वैसी रंगत	76
16.	आत्म परिचय	80
17.	निज को पहचाना नहीं	85
18.	स्वसंवेद्य आत्मा	90
19.	आत्मा ही आत्मा का गुरु है	97
20.	बना भिखारी निपट अजान	105
21.	जो मैं हूँ वह है भगवान्	111
22.	ज्ञानी काटे कर्म को	117
23.	खेल पुद्गल का	121
24.	अविक्षिप्त मन	128
25.	जो इच्छा का त्यागी	135
26.	आत्म तत्त्व ही सार	142
27.	राग-द्वेष दूर करने का उपाय	147

28. सम्यक् धारणा 155
29. आत्म गुणों की खोज 162
30. जानें स्वयं को 168
31. आत्म स्वरूप 173
32. अन्तर्ज्योति 179
33. आत्मदर्शन का उपाय 187
34. स्वरूपबोधाभ्यास 195
35. मिथ्या धारणा ही संसार है 201
36. संसारी का संग न कीजे 208
37. संसार परिभ्रमण का कारण 214
38. तत्त्वज्ञानी सदा निर्भीक 220
39. करत-करत अभ्यास के 226
40. सम्हालो योग व उपयोग 231
41. उत्कृष्ट आनंद 237
42. दु:ख का मूल 242
43. मात्र भेष से नहीं मुक्ति 248
44. कटु अमृत या मीठा जहर 255
45. वस्तु स्वरूप की यथार्थता 259
46. कोटि जन्म तप तपें 265
47. श्रद्धा से सब ही तिरें 271
48. आत्मा में परमात्मा की छवि 279
49. परमात्म पद की भावना 284
50. सहनशीलता से प्रगति 2891
51. भववर्द्धिनी-इच्छा 294
52. उपसंहार 299

१. 'भूमिका'

महानुभाव ! जीवन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण जीवन में हमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्यों को पहले कर लेना चाहिये। जो व्यक्ति अपने जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्यों को ज्यादा महत्त्व देता है उस व्यक्ति का जीवन ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन जाता है, और जो व्यक्ति अपने जीवन में आलतू-फालतू बातों को ज्यादा महत्त्व देता है उसका जीवन आलतू-फालतू बनकर रह जाता है। संसार में विद्याओं का बहुत विस्तार है अनेक प्रकार की विद्यायें हैं किन्तु संसार सागर से पार करने वाली विद्या एक ही थी, एक ही विद्या है और अनंत काल तक एक ही विद्या रहेगी। दूसरी विद्या नहीं है जिसके माध्यम से संसार सागर को पार किया जा सके।

संसार में सुखाभास देने वाली एवं दु:खों में संलग्न करने वाली विद्यायें तो प्राय:कर के सर्वत्र सुलभ हैं किन्तु दुर्लभ है तो वह विद्या जो संसार से पार करने वाली है, आत्मा के शाश्वत सुख-शान्ति ज्ञानादि अक्षय गुणों को प्रकट करने वाली है। ऐसी विद्या जिस भव्य के पास होती है उस भव्य को फिर संसार के किसी भी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा व्यक्ति स्वयं में परमात्मा होता है। उस विद्या का यहाँ पर प्रारम्भ करते हैं जिसका नाम है 'अध्यात्मविद्या'।

अन्य भौतिक-लौकिक विद्याओं का यहाँ जिक्र करना भी आवश्यक नहीं है क्योंकि उनका जिक्र करते ही हमारा मन चंचल हो उठता है। हमें जिस रास्ते पर चलना ही नहीं उसकी गिनती करने की आवश्यकता कहाँ है ?

'आध्यात्मिक' शब्द का निर्माण आत्मा से ही हुआ है। आत्मा में 'अधि' उपसर्ग लगाने से अधि+आत्मा। अधि माने चारों ओर से, चारों ओर से आत्मा को ही जानना। ऐसी विद्या जो आत्मा को चारों ओर से जाने। 'अधि' शब्द का अर्थ व्याप्ति के अर्थ में भी आता है। जो आत्मा में ही व्याप्त रहे। आत्मा को ही जानने वाली विद्या अध्यात्म विद्या है। जिस व्यक्ति के पास आध्यात्मिक विद्या होती है उसे आध्यात्मिक कहा जाता है। आज संसार में भौतिकवादी बहुत हैं, आध्यात्मवादियों की वास्तव में कमी है। जब-जब संसार में आध्यात्मवादियों की संख्या बढ़ी है तब-तब विश्व में शांति स्थापित हुयी है। चाहे पदार्थ संसार में कम रहे हों या अधिक रहे हों भौतिक वस्तुओं के विकास और विनाश से शांति नहीं होती। यदि शांति वास्तव में होती है तो आध्यात्मिक उपदेशों के माध्यम से होती है, आध्यात्मिक सागर में निमग्न आध्यात्मिक व्यक्तियों के माध्यम से होती है और जो स्वयं शांति का अनुभव कर रहा है वही वास्तव में दूसरों के लिये शान्ति का निमित्त बन सकता है। जो स्वयं अशान्ति को प्राप्त हुआ है ऐसा व्यक्ति दूसरों को शांति नहीं दे सकता। जिस प्याज की गाँठ में स्वयं बदबू आ रही है वह प्याज की गाँठ अपने स्वामी को अपने आधार को गुलाब की गंध कैसे दे सकती है किन्तु जिस फूल में से स्वयं गुलाब की गंध आ रही है वह गुलाब दूसरे व्यक्ति को भी सुगंधित कर सकता है।

इसी तरह जो आध्यात्मिक विद्या से युक्त है जो स्वयं शान्ति का अनुभव कर रहा है वह दूसरों के लिये शांति का निमित्त बनता है, बनता था और बनता रहेगा। किन्तु जो व्यक्ति स्वयं शांति से अछूता है वह दूसरों के लिये शांति का निमित्त नहीं बन सकता। अग्नि दूसरे को अग्निरूप परिणत कर सकती है किन्तु पानी रूप नहीं। वह पानी जो घुलनशील पदार्थ है वह शक्कर या नमक को घोलकर पानी तो बना सकता है किन्तु अग्नि नहीं बना सकता। ऐसे ही भौतिकवादी व्यक्ति जिसकी आत्मा में ही भौतिकता की बातें छिपी हुयी हैं उसके शब्दों से ही नहीं बल्कि शरीर से निःसृत होने वाली सभी वर्गणाओं के माध्यम से वैसा ही उपदेश निकलेगा जैसा वह स्वयं है। दीपक से दीपक की ज्योति रूप प्रकाश निकलता है तो अंधकारमय अंधकार से अंधकार निकलता है।

महानुभाव ! यहाँ पर आध्यात्मिक विद्या की आवश्यकता के संबंध में एक-दो बात और कहें-आध्यात्मिक विद्या अंतिम विद्या है इसे प्राप्त करने के उपरांत पुनः संसार की किसी अन्य विद्या को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि जिसे ये विद्या प्राप्त हो गयी वह संसार से मुक्त ही मानो। भक्तामर स्तोत्र में आचार्य भगवन् मानतुंग स्वामी जी ने लिखा कि मैंने आपके दर्शन करने से पहले हरि हरादि देवों का दर्शन कर लिया यह अच्छा हुआ, क्योंकि आपके पास आकर तो पुनः मैं कहीं जा ही नहीं सकता। अच्छा हुआ मैंने क्षीर समुद्र का पानी पीने से पहले लवण समुद्र का खारा पानी पी लिया, अच्छा हुआ मैंने सुखों को प्राप्त करने से पहले दुःखों को भोग लिया, अच्छा हुआ मैंने आध्यात्मिक विद्या को प्राप्त करने के पहले भौतिक विद्याओं को भी सीख-जान लिया। अच्छा हुआ मैंने मोक्ष में जाने से पहले संसार में अच्छी तरह परिभ्रमण कर लिया, अच्छा हुआ मैंने कर्मों को नष्ट करने से पहले कर्मों का अच्छी तरह से बंध कर लिया।

महानुभाव ! जब व्यक्ति इस प्रकार के दुःखों को भोग लेता है, संसार का परिभ्रमण कर लेता है, कर्मों को बांध लेता है तब कहता है बस ! अब कोई बात शेष नहीं रही, अन्यथा मन की मन में रह जाती, मन की नहीं कर पाये। हमने अनंत भवों में अनंत प्रकार के कार्य किये और यूँ कहें एक-एक कार्य को अनंत बार कर चुके। किन्तु एक ही काम शेष रह गया जो आज तक हमने किया नहीं, एक ही काम शेष रह गया जो आज तक हमने सुना नहीं है, एक ही काम शेष रह गया जिसको आज तक हमने देखा नहीं है, एक ही काम शेष है जिसे हमने बोला भी नहीं है जिसको हमने आचरण में नहीं लिया है उससे ही हम अपरिचित रहे। आचार्य भगवन् कुन्द-कुन्द स्वामी जी ने कहा-

सुद परिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि काम-भोग-बंध-कहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥४॥

अनादिकाल से हम विकथायें ही सुनते आये हैं, सभी उसमें माहिर हैं कर्म बंध की कथायें अनुभव करते आये हैं वही करते चले जा रहे हैं हम बहुत निष्णात हैं किन्तु एकत्व विभक्त आत्मा की चर्चा न तो सुनी है, न सुनायी है, न अनुभव में आयी है। आचार्य गुणभद्र स्वामी जी ने आत्मानुशासन में लिखा है-कि पहले काल ऐसा था कि आध्यात्मिक उपदेश को सुनने वाले लोग तो बहुत थे सुनाने वाले कम थे और आचरण में लाने वाले और कम थे। फिर समय आया कि आध्यात्मिक उपदेश को सुनने वाले भी कम हो गये आचरण में लाने वाले तो और कम हो गये सुनाने वालों की संख्या बढ़ी। फिर ऐसा काल आया कि आध्यात्मिक उपदेश सुनाने वाले भी कम हो गये, सुनने वाले भी कम हो गये आचरण में लाने वाले भी कम हो गये।

आध्यात्मिक विद्या तो धर्म का मर्म है। धर्म को भी सुनने वाले कम हो गये, सुनाने वाले भी कम हो गये और आचरण में लाने वाले भी कम हो गये। ज्यों-ज्यों आगे काल गतिशील है पंचम काल ज्यों-ज्यों आगे सरक रहा है त्यों-त्यों आध्यात्मिक विद्या लुप्त होती चली जा रही है। जैसे बर्फ की डली, वह खुले में रखी है और ज्यों-ज्यों हवा लगती चली जा रही है वह पिघलती चली जा रही है। मैं समझता हूँ पंचमकाल के अंत तक तो धर्म रूपी इस बर्फ का खण्ड पिघलकर के न के बराबर रह जायेगा पानी-पानी रह जायेगा या भाप बनकर उड़ जायेगा। बर्फ का खण्ड चौथे काल में तो अखण्ड धर्म साम्राज्य की तरह से था अब पंचम काल के आते-आते इतना पिघल गया पिघलता ही जा रहा है।

बर्फ को हमने समझ लिया धर्म, उसका मर्म क्या है ? उसमें छिपी शीतलता तो ऐसे ही आध्यात्मिक विद्या क्या है? वह धर्म का मर्म है, उसमें छिपी शीतलता है उसे प्राप्त करने के लिये पहले धर्म को प्राप्त करना होता है। बर्फ की शीतलता बर्फ में ही मिलेगी, चंदन की सुगंधि व शीतलता चंदन में ही मिलेगी, शक्कर की मिठास शक्कर में ही मिलेगी जो जिसका गुण है वह उसमें ही मिलेगा। सरसों का तेल सरसों से ही निकलेगा, घी गाय-भैंस के दूध से ही निकलेगा जिसमें जो है उसमें से उसे निकाला जा सकता है, जिसमें जो नहीं है उसे कैसे निकालोगे। कनक पाषाण में से सोने को निकाला जा सकता है किन्तु जिस पाषाण में लोहा भरा पड़ा है उसमें से सोने को उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

महानुभाव ! यहाँ पर हम देख रहे थे कि धर्म का मर्म है आध्यात्मिक उपदेश। यह सर्वोच्च विद्या है इससे उत्कृष्ट विद्या किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में दूसरी न थी, न है, न रहेगी। इसलिये भटके हुये व्यक्ति को, आकुल व्यक्ति को, जीवन से हारे हुये व्यक्ति को इस प्रकार की उपदेश रूपी संजीवनी बूटी देकर के जीवित किया जाता है। नौवें नारायण श्रीकृष्ण ने आध्यात्मिक विद्या को बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ से प्राप्त किया था और युद्ध क्षेत्र में भागते हुये अर्जुन

को संबोधन किया। जब अर्जुन अपने कर्त्तव्य से च्युत हो रहे थे तब समझाया, यह धर्मयुद्ध है तुम तो केवल निमित्त हो। इस युद्ध को करके भी तुम मोक्ष को प्राप्त कर लोगे क्योंकि ये महाभारत का युद्ध तुम स्वार्थ के लिये नहीं धर्म की रक्षा के लिये करोगे, न्याय व सत्य की रक्षा के लिये करोगे। एक युद्ध करने वाला व्यक्ति भी मोक्ष जा सकता है और एक वह जिसने जीवन में कभी चींटी भी न मारी हो वह मोक्ष नहीं जा सकता स्वर्ग तक भी नहीं जा सकता। ऐसा क्यों ? क्योंकि ऐसे तो वह नहीं मार रहा किन्तु भावनाओं से तो वह प्रतिपल मारता ही जा रहा है।

तो यहाँ पर कहा आध्यात्मिक विद्या उस धरातल पर अवतरित होती है जो धरातल धर्म के स्वच्छ निर्मल नीर से प्रक्षालित हो गया हो, जिसका चित्त विषय-कषाय-संक्लेशता से भरा हुआ है, विकार ही विकार भरे हैं वहाँ पर आध्यात्मिक विद्या का सूत्रपात नहीं होता। जो क्षत्रिय राजकुमार रहे जिन्होंने जो करना था सो किया हिंसा भी की, झूठ भी बोला, खूब विषयों का सेवन भी किया अचानक उनके अंतरंग में आध्यात्मिक विद्या का सूत्रपात हुआ उनसे वह विद्या द्विजों के पास आयी पुनः वैश्य, अब कितना प्राप्त कर पा रहे हैं यह वे ही जान सकते हैं, शूद्र तो इसके अधिकारी मुख्य रूप से नहीं माने जा सकते कदाचित् अपवाद में कोई प्राप्त कर ले तो अलग बात है किन्तु वास्तव में इस विद्या को प्राप्त करने के अधिकारी क्षत्रिय हैं। इसलिये जो भी मोक्ष जाने वाले रहे चाहे तीर्थंकर या सामान्य केवली अधिकांशतः क्षत्रिय ही रहे, बहुत कम मात्रा में द्विज रहे और उससे भी अल्प मात्रा में अँगुलियों पर गिनने के लायक कोई वैश्य पुत्रों ने मोक्ष प्राप्त किया हो।

यहाँ पर आध्यात्म विद्या का प्रतीक ग्रंथ आचार्य पूज्यपाद स्वामी की अमर कृति ''समाधि तन्त्र'' या ''समाधिशतक'' दोनों नाम ले सकते हैं। शतक इसलिये क्योंकि इसमें 100 के करीब काव्य हैं, 105 हैं। तन्त्र इसलिये कि यह एक तंत्र विद्या है। एक होती है अक्षर विद्या, एक होती है बीज विद्या, एक होती है यंत्र विद्या, एक होती है मंत्र विद्या, एक होती है तंत्र विद्या। अक्षर विद्या सामान्यतः बोलचाल की भाषा में आती है। बीजाक्षर विद्या छोटी में बहुत बड़ी शक्ति का पुंज होता है। बीजाक्षरों का समूह मंत्र विद्या होती है अनेक, एक जाति के बीजाक्षरों को एक जगह रखा तो उसकी शक्ति बढ़ जाती है। पृथ्वीबीज, अग्निबीज, जलबीज, आकाश बीज, वायु बीज जिस प्रकार की आपको साधना करनी है उस-उस प्रकार के बीजों को एकत्रित करके साधना की जाती है। तो यह बीज विद्या हुयी। एक यंत्र विद्या होती है जिसमें अक्षरों के साथ-साथ अंकों का प्रयोग किया जाता है उसके माध्यम से यंत्र बनाये जाते हैं किस अंक को कहाँ लिखना है। किस अक्षर को कहाँ लिखना है उसके माध्यम से ऐसी शक्ति आती है कि उस यंत्रादि के रखने से विषाक्त जानवरों के जहर भी उतर जाते हैं। यंत्र या यंत्र का जल किसी विषैले जीव सर्प-बिच्छू आदि के द्वारा काटे हुये व्यक्ति के ऊपर डाल दिया जाये या यंत्र सामने रखते ही वह विष उतर

जाता है। यदि सर्प कहीं जा रहा है और उसे मोर का चित्र भी कहीं दिखाई दे जाये तो वह सर्प वहाँ से भाग जायेगा, मोर की आवाज भी सुन ले तब भी वह भाग जायेगा और जिसे सर्प ने डस लिया है ऐसे व्यक्ति के सर्प का विष उतारने के लिये गारुड़ी होता है जो मंत्रवादी होता है। वह सबसे पहले गरुड़ का चित्र बनाता है या मयूर का चित्र बनाता है फिर मंत्र को पढ़ता है। वह चित्र भी कार्य करने वाला होता है। यंत्र कहिये वह मंत्र का चित्र है।

परम पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के पृष्ठ भाग पर एक फोड़ा हो गया बहुत से वैद्य, हकीम, डॉक्टर देखने के लिये आये, पीठ में बड़ा भयंकर फोड़ा था उन्हें बहुत कष्ट था किन्तु वे समता से सहन कर रहे थे। अनेकों उपचार करने के उपरांत भी उन्हें कोई लाभ नहीं मिला तब एक वयोवृद्ध जो अपने जीवन के लगभग नव दशक पार कर चुका था, दशवें दशक में चल रहा था 100 के करीब उसकी उम्र थी उसने सुना कि कोई तपस्वी महाराज हैं उनके फोड़ा हो गया है, वह आया किन्तु भीड़ में आना उसके लिये बहुत मुश्किल था वह किसी जैन श्रावक से मिलकर वहाँ तक पहुँचा मैं भी देखूँ कि महाराज का फोड़ा कैसा है? लोगों ने कहा तुम क्या देखोगे इतने बड़े डॉक्टर वैद्यादि भी कुछ नहीं कर पाये तुम कैसे कर पाओगे। वह बोला-भईया यदि देखने में कोई हर्ज न हो तो देख लेने दो। कोई भला श्रावक उस वृद्ध व्यक्ति को आचार्य महाराज के पास लाया। उसने वह देखा और कहा-अरे! ये तो हाथी फोड़ा है लाओ सिंदूर मैं अभी शेर का चित्र बनाता हूँ अभी ठीक होता है। उसने सिंह का चित्र बनाया और तीन दिन में फोड़ा ऐसे ठीक हो गया जैसे फोड़ा कभी था ही नहीं।

इसके अतिरिक्त अन्य यंत्र भी होते हैं व्यापार वृद्धि यंत्र, लक्ष्मी वृद्धि यंत्र या वशीकरण यंत्र आदि-आदि होते हैं। तो ऐसा नहीं है कि यंत्र-मंत्र कोई कल्पना है, ये मिथ्या नहीं है कि ऐसा करने से मिथ्यादृष्टि हो गये। अपने जैनागम में इन सभी यंत्र-तंत्र-मंत्र विद्याओं का कथन है।

एक तंत्र विद्या होती है जिसे आपकी भाषा में टोटका कहते हैं। तंत्र विद्या का भी प्रभाव होता है। तंत्र विद्या को सबसे उत्कृष्ट माना जाता है। तंत्र विद्या समस्त अनुभवों का निचोड़ है। 24 तीर्थंकर में से 5 तीर्थंकर तो बालब्रह्मचारी थे उन्होंने अपनी आत्मा को स्वतन्त्र किया विद्या के बल से किन्तु 19 तीर्थंकरों ने तंत्र के बल से। तंत्र माने अनुभव करके। पंचेन्द्रिय विषयों का अनुभव करके फिर आत्मा को मुक्त किया है और 5 तीर्थंकरों ने उस ज्ञान के बल से किया था। तंत्र अर्थात् अनुभव ज्ञान, सार रूप ज्ञान। इसलिये आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी को यह नाम पसंद आया कि समाधि का तंत्र। यंत्र होते हैं मशीनें, जो काम 100 व्यक्ति करेंगे वह काम एक मशीन कर सकती है किन्तु जो काम हजारों मशीन न कर पायें वह काम कोई एक तंत्र कर सकता है।

महानुभाव ! यहाँ पर एक तंत्र है, जिन्हें अपनी समाधि करनी हो, उत्तम समाधि को प्राप्त करना हो। समाधि के दो अर्थ हैं-समाधि माने ध्यान और समाधि माने समतामय परिणामों के साथ

अपने शरीर को छोड़ना उसमें 'मरण' शब्द अर्थात् समाधिमरण कह दिया। किन्तु बोलचाल में एक शब्द भी कहते हैं देशनावर्धक सूत्र होते हैं जहाँ एक शब्द से भी ज्ञान होता है। उनकी समाधि हो गयी अर्थात् आप अर्थ लगायेंगे कि वे समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हो गये। अगला समाधि का अर्थ ध्यान होता है, तो कोई कहे कि वे समाधि पर बैठे हैं यानि ध्यान में बैठे हैं। तो यह ग्रंथ समाधि में बैठने का एक तंत्र है। हम ध्यान में कैसे बैठें ? और ध्यान में बैठने वाला व्यक्ति जब शरीर का परित्याग कर देता है तो समाधिमरण हो जाता है।

यह ग्रंथ ध्यान की कुंजी है। प्रत्येक व्यक्ति के पास ताला है किन्तु उस ध्यान रूपी ताले को खोलने की कुंजी तो हो। वह कुंजी है समाधितंत्र। यह प्रारंभिक ग्रंथ है फिर इसके आगे और भी आध्यात्मिक ग्रंथ जैसे परमात्मप्रकाश, समयसार, द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय आदि हैं जिसमें आध्यात्मिक विद्या का वर्णन किया गया है।

महानुभाव ! यहाँ हम सभी आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी जी की कृपादृष्टि की-अमृतवृष्टि की कुछ बूँदों को आत्मसात् करने के लिये उपस्थित हुये हैं। उनकी कृपा दृष्टि की वर्षा जो हमारे ऊपर (भव्य जीवों के लिये) हुयी है उस वर्षा की कुछ बूंदें भी यदि हमारे अन्तरंग तक जाती हैं तो हमारा अनादि काल का संताप शांत होता है। भव-भ्रमण छूटने लगता है, कर्म विगलित होने लगते हैं और हम अपनी आत्मा के स्वभाव के समीप पहुँच जाते हैं। अपनी आत्मा के स्वभाव को अनुभव करने में-अवलोकन करने में समर्थ हो जाते हैं।

२. प्रथम मंगलाचरण

येनात्माबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैवचापरम्।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः॥१॥

अन्वयार्थ-**येन**-जिसके द्वारा **आत्मा**-आत्मा **आत्मा एव**-आत्मा रूप से ही **अबुद्ध्यत**-जाना गया है **च**-और **अपरं**-अन्य को-कर्म जनित मनुष्यादि पर्याय रूप पुद्गल को **परत्वेन एव**-पर रूप से ही **अबुद्ध्यत**-जाना गया है **तस्मै**-उस **अक्षयानन्तबोधाय**-अविनाशी अनन्तज्ञान स्वरूप **सिद्धात्मने**-सिद्धात्मा को **नमः**-नमस्कार हो।

समाधि तन्त्र वास्तव में ही समाधि को प्राप्त करने की कुंजी है। जो कोई भी भव्य जीव संसार सागर से पार होना चाहते हैं उनके लिये यह तन्त्र नौका की तरह से है। भव कूप में पड़े हुये भव्य प्राणियों के लिये एक रज्जू के सदृश है। पहले ग्रामों में खेतों की सिंचाई करने के लिये छोटे-छोटे कच्चे कुयें खोदे जाते थे, एक कल्पना कीजिये-उस कच्चे कुयें में कोई बालक गिर पड़ा, कुआँ गहरा है मिट्टी चिकनी है, वह बालक निकलने की चेष्टा कर रहा है जहाँ से भी हाथ बढ़ाता है मिट्टी फिसल जाती है, कभी फीट-दो फीट ऊपर चढ़ पाता है पुनः नीचे गिर जाता है। उस कच्चे कुयें में पानी कम है कीचड़ ज्यादा भरा हुआ है, दरअसल में कीचड़, उस बालक के हाथों से गिरती मिट्टी से और ज्यादा बढ़ता चला जा रहा है। बालक कुयें की चारों दीवारों को खरोंच-खरोंचकर चढ़ने की चेष्टा करता है उसने सभी दीवारों को चिकना कर दिया है पकड़ने के लिये उसके पास कुछ नहीं है, पत्थर आदि भी होता तो पकड़ कर चढ़ जाता किन्तु कुछ भी नहीं है।

उस कुयें में से निकलने का सिर्फ एक ही उपाय है और वह उपाय है कुयें के मध्य में लटकती हुयी रस्सी। जो ऊपर किसी वृक्ष से बंधी हुयी है, उस बालक का उपयोग उस रस्सी की ओर नहीं जा रहा। रस्सी थोड़ी ऊँची है किन्तु उसे पकड़ना असंभव नहीं है। उस कुयें में पड़ी कीचड़ को ही इकट्ठा करके मध्य में उस कीचड़ पर चढ़कर के उसका हाथ रस्सी तक पहुँच सकता है। एक बार रस्सी हाथ में आ जाये फिर आगे रस्सी के सहारे वह कुये के बाहर आ सकता है।

वह रस्सी कुछ और नहीं धर्म है। वह कुँआ कुछ और नहीं संसार है। इस संसार कूप में पड़े जीव के लिये धर्म की रस्सी है। हमारा-आपका और प्रत्येक व्यक्ति का एक जैसा ही कुँआ है और प्रत्येक कुऐं में रस्सी लटक रही है हर व्यक्ति रस्सी को पकड़कर ऊपर आ सकता है। कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो रस्सी को जान नहीं पा रहे, कुछ ऐसे हैं जो जानते तो हैं पकड़ने की कोशिश नहीं कर रहे, कुछ ऐसे हैं जो रस्सी को पकड़कर तो खड़े हैं ऊपर चढ़ने की कोशिश नहीं कर

रहे, ऐसे व्यक्ति विरले हैं जो रस्सी को पकड़ करके चढ़ने की चेष्टा करें। जो चढ़ रहे हैं चाहे भले ही आपकी दृष्टि में हाथ लहू लुहान हो रहे हों, रस्सी चुभ रही हो किन्तु फिर भी चढ़ रहे हैं। उन्हें हाथों का कष्ट महसूस नहीं हो रहा उन्हें अंदर में आनंद आ रहा है मैं इस कूप में कब से पड़ा हुआ था, आज इसके माध्यम से मैं पार हो गया और मुझे एक अभूतपूर्व अनुभूति हो रही है, एक उपलब्धि मुझे हो रही है ऐसी उपलब्धि जो मैंने कभी प्राप्त नहीं की। ऐसी उपलब्धि जो संसार के बहु भाग जीवों ने प्राप्त नहीं की, अनंत जीवों में से एक भाग जिसे प्राप्त कर पाता है या कर पा रहा है।

महानुभाव ! वह समाधितन्त्र रूपी रस्सी आज हमारे पास है उसे आज पढ़ें ही नहीं, पढ़कर हृदयंगम भी करें, मात्र शब्द सुनें नहीं सुनकर के चुनें भी और उन शब्दों के पीछे छिपे हुये भाव को अन्दर ही अन्दर घोलें तब नि:संदेह जिस आनंद की अनुभूति होगी वह अनुभूति संसार के किसी भी पदार्थ के भोगने से नहीं हो सकती, क्योंकि संभव है इसके माध्यम से आपको आत्मा की समीपता प्राप्त होगी और आत्मा की समीपता से जो आनंद मिलेगा वह आनंद पुद्गल के रंजायमान अवस्था में, पुद्गल के भोजन में संभव नहीं।

अभी तक संसारी प्राणियों के द्वारा अनात्मा को आत्मा जाना गया है। कोई व्यक्ति शरीर को भी आत्मा मान लेता है, कोई व्यक्ति शरीर के अलावा अन्य पदार्थों को भी आत्मा मान लेता है, इसीलिये प्राय: कर वर्तमान काल में सबसे ज्यादा देखा जाता है कि शरीर को कोई चोट पड़ी और वह उस चोट को सहन नहीं कर पा रहा, व्यक्ति रोग से नहीं मरा रोग की चिंता से मर गया। एक बार एक महात्माजी वन में विराजमान थे। तभी उन्हें सामने से एक परछाई सी जाती हुई दिखाई दी। उन्होंने पूछा कौन है वहाँ? आवाज आई मैं यमदूत हूँ। क्यों आए हो? बोला इस नगर से 30 लोगों को लेकर जाना है। पूछा क्यों ? बोला यमराज का ऐसा ही आदेश है। ऐसा कहकर यमदूत वहाँ से चला गया और पूरे नगर में प्लेग नामक महामारी फैला दी। कुछ दिन पश्चात् जब यमदूत मृत लोगों को लेकर जाने लगा तो रास्ते में पुन: वहीं महात्मा मिले। महात्मा ने कहा तुम तो बहुत झूठे हो, तुमने मुझसे झूठ बोला कि 30 लोगों को लेने आए हो किन्तु खबर मिली है 300 लोग मृत्यु को प्राप्त हो गये।

यमदूत बोला मेरे द्वारा फैलायी गयी महामारी से तो 30 ही लोग मृत्यु को प्राप्त हुए हैं बाकि 270 तो बीमारी का नाम सुनकर मृत्यु के भय से ही मृत्यु को प्राप्त हो गए। संसारी प्राणी जिसका घर-मकान से ज्यादा जुड़ाव है, उसका मकान टूटा कि उसे अटैक पड़ गया। बेटे की मृत्यु हुयी सहन न कर पाया सदमे में मर गया। तो उसने अन्य पदार्थों के साथ एकीकृत कर लिया था और एकीकृत करने पर वस्तु-पदार्थ या चेतन पदार्थ के टूटने से पहले वह मर जाता है। कई बार तो ऐसा होता है व्यक्ति समाचार मात्र सुनने से बेहोश हो जाता है।

देव, राम-लक्ष्मण के प्रेम की परीक्षा लेने आये, लक्ष्मण को बताया की राम की मृत्यु हो गयी है, सुनने मात्र से ही लक्ष्मण मृत्यु को प्राप्त हो गये। महानुभाव ! जिसका जिसके प्रति एकीभाव हो गया चाहे शरीर के प्रति या अन्य पदार्थों के प्रति तो उस पदार्थ के खण्डित होने पर, टूटने पर, नष्ट होने पर ये आत्मा भी कूच कर जाती है किन्तु जिस व्यक्ति में जीने का साहस है, पूर्ण हिम्मत है, आपको मालूम है कि युद्ध क्षेत्र में जाने वाला व्यक्ति जिसके शरीर में 380 घाव भी लग जायें तब भी व्यक्ति युद्ध कर रहा है। आपने गोरा-बादल के बारे में सुना होगा कि पद्मनी को बचाने के लिये रतनसिंह की सहायता कैसे की। 500 डोलियाँ गयीं, उनके साथ चार-चार कहार भी गये थे 2500 सैनिक, शत्रु पक्ष के 2 लाख सैनिकों पर हावी हो गये, चाहे भले ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। गोरा-बादल के सर कट गये अकेले धड़ बचे हैं उसी से तलवार लेकर के शत्रुओं को मारते चले जा रहे हैं। वे भी तो एक इंसान थे, आदमी में कितनी शक्ति हो सकती है इसका अंदाज नहीं लगाया जा सकता। पैर में काँटा भी चुभ जाये तो कोई इतना रोने लगता है कि पूरे परिवार की याद आने लगती है किन्तु जिस व्यक्ति में साहस होता है वह मृत्यु से जूझता है, मृत्यु भी पास आती नहीं, खड़ी रहती है जब तक मैं नहीं बुलाऊँगा तब तक आ नहीं सकती, चाहे शरीर का अंग कट जाये, पैर कट जायें, तीर आर-पार हो जाये किन्तु वह डरता नहीं।

महानुभाव ! यह साहस हमें अपनी आत्मा में पैदा करना पड़ेगा, शक्ति आत्मा से पैदा करनी पड़ेगी यदि शक्ति हमने आत्मा से पैदा नहीं की तो जीते-जीते भी जीवंत जीवन का आनंद नहीं ले सकते और शक्ति हमने पैदा कर ली तो संसार की कोई भी मृत्यु हमें मार नहीं सकती जब तक हम मरना नहीं चाहते। यहाँ पर आचार्य महाराज कह रहे हैं:-

आत्मा को आत्मा जानो। आत्मा के अलावा अन्य पदार्थों को आत्मा रूप मत जानो। तो यहाँ हम नमस्कार उसके लिये कर रहे हैं जिसने आत्मा को आत्मा जान लिया है। **''परत्वे नैव चापरम्'' परत्व+एव+च+अपरम्** जो परत्व है उसे पर ही जान लिया। पर पदार्थ का एक परमाणु भी आत्मा रूप नहीं मानता और अपनी आत्मा का एक प्रदेश भी पुद्गल रूप नहीं मानता। अपनी आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों को आत्मा ही मानता है, आत्मा ही जानता है और पुद्गल परमाणु का एक भी परमाणु मेरे आत्मा रूप नहीं हो सकता इस बात का उसे पूरा विश्वास है, श्रद्धा है, निष्ठा है। आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी जी ने समयसार में लिखा है ''मैं आत्मा था, आत्मा हूँ, आत्मा रहूँगा, मैं कभी अनात्मा न था, न हूँ, न कभी हो सकूँगा।'' अनात्मा अनात्मा था, है और अनात्मा अनात्मा रहेगा। अनात्मा कभी आत्मा रूप नहीं हो सकेगा इतनी सी बात समझ में आ गयी तो समझो द्वादशांग का सार समझ में आ गया। इतनी बात समझ में नहीं आई तो हम हजारों ग्रंथ भी पढ़ लें तब तक हम धर्म के मर्म को नहीं समझ सकते नहीं जान सकते।

यहाँ पहली पंक्ति में आचार्य महोदय लिख रहे हैं-जिसने आत्मा को आत्मा जान लिया है। किससे जाना ? आत्मा को जाना, आत्मा के द्वारा जाना, आत्मा में जाना, आत्मा के लिये जाना, आत्मा के गुणों को जाना और अनात्मा से पृथक् करके जाना। हे आत्मन् ! उसमें ही तू लीन हो जा। आठों विभक्तियाँ उस आत्मा के प्रति लगायी जा सकती हैं। ऐसा आचार्य महोदय एक ही पद में सब बात कहना चाह रहे हैं। अनात्मा की चर्चा की, 'अपरम्' के लिये क्या कह रहे हैं। पुद्गल है, अधर्मद्रव्य है, आकाश या काल द्रव्य है, ये सब आत्मा से पर हैं ये तेरे हो ही नहीं सकते। पुद्गल की इतनी पर्यायें हैं चाहे कोई भी पर्याय हो नाम लेकर भी कह सकते हैं-तू मकान नहीं है, तू दुकान नहीं है, तू कोई वाहन-आभूषण नहीं है, तू रत्न रूप नहीं है, तू वस्त्र रूप नहीं है, भाई-बहिन-पत्नी आदिक कोई रूप नहीं है, तू तो तुझ रूप है और पर पररूप है। तू कभी उस रूप नहीं हो सकता और वह कभी तुझ रूप नहीं हो सकता। इसलिये तू अपने में अपने को देख, अपने में अपने को जान, पर में क्यों भटक रहा है। पर में भटकते हुए तो अनंतकाल हो गया। पर में तुझे कभी सुख नहीं मिला, न आज मिल सकता है न कभी मिलेगा। किसी को भी पर में आत्मा नहीं मिला इसलिये तू अपनी आत्मा को आत्मा में देख, अपने में ही आत्मा को खोज बाहर क्यों भटक रहा है। ये बात यहाँ आचार्य महाराज समझाना चाह रहे हैं।

महानुभाव ! एक-एक वस्तु का चिंतवन आप अन्यत्व भावना के साथ कर सकते हैं कि पर अर्थात् मेरी आत्मा से अलग क्या-क्या चीज है। कर्म भी मेरी आत्मा से अलग हैं, कर्म का फल भी अलग है। चाहे वह द्रव्यकर्म हो या नोकर्म हो, चाहे भाव कर्म हो या कोई भी पुण्य-पाप कर्म फल हो वह सब मेरी आत्मा से अलग है वह मेरी आत्मा रूप नहीं है। इनका बार-बार मुहुर्मुहु चिंतवन करो तो पर पदार्थों से अलग होते चले जाओगे और स्व की ओर पहुँच जाओगे। आचार्य महोदय ने 'इष्टोपदेश' में कहा-

यथा-यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा-तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि॥३७॥
यथा-यथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि।
तथा-तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥३८॥

जैसे-जैसे आत्मा के निकट आओगे वैसे-वैसे पर पदार्थों से छूटते चले जाओगे और जैसे-जैसे पर पदार्थों को छोड़ते चले जाओगे वैसे-वैसे ही आप आत्मा के निकट आते चले जाओगे।

महानुभाव ! आगे आचार्य महाराज कह रहे हैं **'अक्षयानन्त बोधाय'** 'अक्षय'-वह कैसा है ? अक्षय है। यूँ तो संसार के जितने भी द्रव्य हैं सभी अक्षय हैं कोई भी द्रव्य कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। अनादि काल से जितने द्रव्य हैं, उतने ही द्रव्य हैं, उतने ही थे, उतने ही रहेंगे कभी

भी असत् का उत्पाद नहीं हो सकता और कभी भी सत् का विनाश नहीं हो सकता। यहाँ यही बताया हमारी आत्मा भी अक्षय है। हमारी आत्मा का प्रत्येक गुण अक्षय है, हमारी आत्मा का स्वभाव अक्षय है, सब अक्षय है क्यों घबराते हो। आ. पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में बताया-

न मे मृत्युः कुतोभीति, र्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।

नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले॥२९॥

अरे ! तेरी मृत्यु नहीं होती तो भय किस बात का ? डरे तो वह जिसकी कोई वस्तु नष्ट हो जाये, तेरी आत्मा तो कभी नष्ट नहीं होती है और जो नष्ट हो रहा है वह तेरी आत्मा नहीं, तेरी चीज नहीं तो डरता क्यों है? 'न मे व्याधि कुतो व्यथा'-तू रो क्यों रहा है ? रोग शरीर में लगा है तेरी आत्मा में नहीं। आत्मा तो शक्ति रूपेण शुद्ध है तू थोड़ा पुरुषार्थ कर ले तो शरीर में कभी रोग आयेगा ही नहीं अर्थात् संसार में तेरा भ्रमण होगा ही नहीं। 'नाहं बालो न वृद्धोऽहं'-न मैं बाल हूँ, न वृद्ध हूँ। ''न युवैतानि पुद्गले'' न युवा हूँ ये सब तो पुद्गल है। पुद्गल का तो स्वभाव ही है पूरण और गलन। तो तू क्यों रो रहा है।

अब तू यह कहकर रोये कि गन्ना मीठा क्यों है? तो भईया यही उसका स्वभाव है, तू रोये कि अग्नि गर्म है, जल शीतल है ये तो उसका स्वभाव है तेरे रोने-धोने से क्या उसका स्वभाव नष्ट हो जायेगा, नहीं होगा इसलिये तू भी अपने स्वभाव को समझ और पर स्वभाव को भी समझ। पहले अपने स्वभाव को समझ तो पर स्वभाव स्वयमेव ही समझ में आ जायेगा। और पर स्वभाव को अपना मान लेगा तो कभी अपने स्वभाव को प्राप्त नहीं कर पायेगा।

'अनन्त बोधाय' अनंत बोध के लिये। जिस अनंत ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा का स्वरूप सम्पूर्ण रूप से समझ में आता है, जिस अनंत ज्ञान के द्वारा पर पदार्थों को पर पदार्थ रूप में जाना जाता है उस अनंत ज्ञान के लिये नमस्कार करता हूँ और उस अनंतज्ञान के धारक **तस्मै सिद्धात्मने नमः**-उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये जो ज्ञान उन सिद्ध परमेष्ठियों ने प्राप्त किया है मैं सिद्ध आत्मा को नमस्कार करता हूँ। आचार्य महाराज ने और स्पष्ट कर दिया-कोई भटक न जाये, यहाँ सिद्ध, पुरुष को नहीं कह रहे या किसी वृक्ष-पत्थर वस्तु विशेष का नाम सिद्ध पुरुष नहीं, सिद्ध आत्मने नमः जिसने अपनी आत्मा में आत्मा को सिद्ध कर लिया है जो संसार की प्रसिद्धी से अलग हो गया है, जिसने संसार की वस्तुओं को सिद्ध नहीं किया है कोई अंजन गुटिका सिद्ध करता है, कोई आकाशगामी विद्या सिद्ध करता है, कोई कुछ सिद्ध करता है कोई यक्ष, कोई व्यंतरों को सिद्ध करता है किन्तु जिसने अपनी आत्मा को सिद्ध कर लिया है, कर्मों से मुक्त कर लिया है ऐसी सिद्ध आत्मा के लिये मैं नमस्कार करता हूँ।

क्यों नमस्कार करता हूँ ? अनंत ज्ञान प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ। क्योंकि उन्होंने अनंत ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को आत्मा जान लिया है और पर पदार्थों को पर जान लिया है इसलिये उसी सिद्धात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। जिसने नहीं जाना तो उसको मैं नमस्कार नहीं करता।

यह आध्यात्म ग्रंथ है इसलिये सिद्धों को नमस्कार किया है। अरिहंतों की स्तुति आगे करते हैं।

जे के वि भव्व-जीवा, साहूहि सह विहरंति भत्तीए।
ते तित्थयरेण सह वि, पुणो तित्थयरो होंति सयं॥४०७॥

अर्थ-जो कोई भी भव्य जीव भक्ति से साधुओं के साथ विहार करते हैं वे तीर्थंकर के साथ भी विहार करते हैं और पुनः स्वयं भी तीर्थंकर होते हैं।

-विद्यावसु-श्रावकाचार
आचार्य श्री वसुनंदी मुनि

३. द्वितीय मंगलाचरण

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती विभूतयस्तीर्थ कृतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः॥२॥

अन्वयार्थ-यस्य-जिस **अनीहितुः अपि**-इच्छा से भी रहित **तीर्थकृतः**-तीर्थंकर की **अवदतः अपि**-न बोलते हुए भी तालु-ओष्ठ-आदि के द्वारा शब्दों का उच्चारण न करते हुए भी **भारती-विभूतयः**-वाणीरूपी विभूतियाँ-अथवा वाणी और छत्र त्रयादिक विभूतियाँ **जयन्ति**-जय को प्राप्त होती हैं **तस्मै**-उस **शिवाय**-शिवरूप-परम कल्याण अथवा परम सौख्यमय **धात्रे**-विधाता अथवा ब्रह्मरूप-सन्मार्ग के उपदेश द्वारा लोक के उद्धारक **सुगताय**-सुगतरूप सद्बुद्धि एवं सद्गति को प्राप्त **विष्णवे**-विष्णुरूप-केवलज्ञान के द्वारा समस्त चराचर पदार्थों में व्याप्त होने वाले **जिनाय**-जिनरूप-संसार परिभ्रमण के कारणभूत कर्म शत्रुओं को जीतने वाले **सकलात्मने**-सकलात्मा को सशरीर शुद्धात्मा अर्थात् जीवन्मुक्त अरहंत परमात्मा को **नमः**-नमस्कार हो।

आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी ने मंगलाचरण में प्रथमतः सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया। सिद्धों को इस तरह नमस्कार किया है कि जिन्होंने सम्पूर्ण रूप से आत्मा के स्वरूप को जान लिया है, आत्मा में, आत्मा के द्वारा, आत्मा को, आत्मा के लिये, अनात्मा से अलग आत्मा का स्वरूप जानकर पर स्वरूप को पर रूप जान लिया है वे सिद्ध परमेष्ठी अक्षय और अनंतज्ञान से युक्त हैं उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।

द्वितीय काव्य में भी आचार्य महोदय मंगलाचरण करते हैं। पहले काव्य में जो मंगलाचरण किया था वह सिद्ध परमेष्ठी के लिये। क्यों किया सिद्ध परमेष्ठी के लिये ? आप जानते हैं णमोकार मंत्र में पहले अरिहंतों को नमस्कार किया तो यहाँ पर भी पहले अरिहंतों को नमस्कार करना चाहिये। सिद्धों को क्यों किया ? क्योंकि सिद्धत्व पद को प्राप्त करना हमारा अंतिम उद्देश्य है।

व्यक्ति पहले मंजिल का निर्धारण करता है कि मुझे कहाँ जाना है, किसे प्राप्त करना है। मोक्ष की पृच्छना की द्वैयाक नाम के ब्राह्मण ने आचार्य उमास्वामी महाराज से। मोक्ष क्या है? तो आचार्य उमास्वामी महाराज ने ये नहीं बताया कि मोक्ष क्या है, उन्होंने बताया 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः उन्होंने बताना शुरू किया तो मार्ग से किया। मार्ग पर चलोगे तो मंजिल तक पहुँच जाओगे। किन्तु पूछने वाला पूछता है मंजिल क्या है ? हम सभी भव्य जीवों की मंजिल है सिद्धत्व को प्राप्त करना किन्तु सिद्धत्व की प्राप्ति बिना अरिहंतों के कर नहीं सकते। ये आध्यात्मिक ग्रंथ है आध्यात्मिक ग्रंथों में परम शुद्ध चेतना को ही प्रथमतः नमस्कार किया जाता है।

परम शुद्ध चेतना सिद्ध परमेष्ठी ही हैं उनसे नीचे अरिहंत परमेष्ठी हैं। उन्हें परम शुद्ध नहीं कह सकते। उन्हें शुद्धात्मा, जीवनमुक्तात्मा, सशरीरी आत्मा कहा जाता है किन्तु उन्हें परमशुद्ध नहीं कह सकते क्योंकि उनके साथ अभी चार अघातिया कर्म लगे हुये हैं। इस द्वितीय कारिका में अरिहंत परमेष्ठी को नमस्कार किया है। अरिहंत भगवान् के विभिन्न नाम जो लोक में प्रसिद्ध हैं ब्रह्मा-विष्णु-महेशादि उन्हीं नामों के साथ स्तुति कर रहे हैं। उनका वास्तव में अर्थ क्या है तो यहाँ बताना चाह रहे हैं।

जयन्ति-'जयवन्त हों'। विशेष उत्कर्ष को प्राप्त, विशेष वैभव को प्राप्त, विशेष अवस्था को प्राप्त, विशेष आनंद को प्राप्त, विशेष गुणों को प्राप्त। जयवन्त उसे कहते हैं जो जीत गया, जीत गया अर्थात् जिसे विशेष उपलब्धि हुयी है तभी उसे जयवन्त कहते हैं। जयन्ति कैसे?

जयन्ति यस्या वदतोऽपि भारती-जिसकी बिना बोलते हुये भी, अर्थात् दिव्यध्वनि। जिनके होठ नहीं हिलते हैं, जीभ नहीं हिलती है, तालु नहीं हिलते ऐसे भगवान् केवली की दिव्यध्वनि सर्वांग से निःसृत होती है। उनकी दिव्यध्वनि ओंकारमय अनक्षरी होती है। वह कभी शब्द नहीं बोलते। यदि वे शब्द बोलें तो क्या हानि है ? हानि ये है कि एक बार में एक ही बात बोल सकते हैं। उनकी दिव्य ध्वनि सर्वांग से खिरती है। अनंत अर्थ को एक बार में प्रसारित कर देती है। शब्द से बोलने वाला संसार का कोई भी व्यक्ति हो वह एक बार में एक ही बात कह सकता है। एक बार में दो बात भी नहीं कह सकता। इसलिये यहाँ पर कह रहे हैं कि वे तीर्थंकर, केवली, सर्वज्ञप्रभु जिनकी वाणी बिना बोलते हुये भी वह क्या-क्या बताती है, यह बताते हैं।

विभूतियस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः-तीर्थंकर भगवान् जो विभूति से सहित हैं। कैसी विभूति? छत्र, चमर, भामण्डल आदि अष्टमंगल द्रव्य, समवशरण में 12 सभायें हैं, 8 भूमियाँ हैं सब रत्नों से निर्मित हैं सब कुछ अद्वितीय है उसके अलावा वह चीज कहीं दूसरी और जगह हो ही नहीं सकती। तीर्थंकर का समवशरण तीर्थंकर के पास ही होगा अन्य कहीं नहीं होगा। जैसे स्वर्ग के सुख के लिये आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा-

''नाके नाकौकसां सौख्यं नाकेनाकौकसा मिव''॥५॥

स्वर्ग में कैसा सुख होता है ? तो स्वर्ग में रहने वाले देवों को जैसा सुख होता है वही स्वर्ग के देवों को सुख होता है उसकी दूसरी उपमा नहीं दी जा सकती। सूर्य का प्रकाश कैसा होता है? जैसा सूर्य में होता है वैसा ही होता है, समुद्र कैसा होता है? समुद्र को समुद्र की ही उपमा दी जा सकती है ऐसे ही संसार में कुछ वस्तुयें ऐसी हैं उन्हें किसी और की उपमा नहीं दी जा सकती वे अनुपमेय होती हैं। यहाँ पर भगवान् की वाणी भी उपमा से रहित और तीर्थंकर भगवान् भी उपमा से रहित हैं उनकी विभूति एक अनुपमेय है। दूसरी बात 'कृतोऽप्यनीहितुः'-उनकी जो दिव्य

ध्वनि खिरती है वह कैसे खिरती है ? इच्छाओं से रहित होकर। इह माने इच्छा अनीह माने अनिच्छा, हितु माने हित को करने वाली। तीर्थंकर प्रभु केवली प्रभु की दिव्य ध्वनि इच्छा रहित होती है। **'बिन अक्षर इच्छा रहित''** जो संसार के सभी जीवों का कल्याण करने वाली होती है।

ईहा पूर्वक तो संसार के सब प्राणी बोलते हैं। जितने प्राणी भी बुद्धि पूर्वक बोल रहे हैं उन सभी में 'ईहा' इच्छा है। इच्छा किसे कहते हैं ? इच्छा मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। जब तक मोहनीय कर्म रहेगा तब तक इच्छा रहेगी और मोहनीय कर्म नष्ट हो गया तो इच्छा नष्ट हो गयी। मोहनीय के नष्ट होते ही मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति नष्ट हो गये, क्रोध-मान-माया-लोभ चारों कषाय चली गयीं, उसके पश्चात् नव नोकषाय हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा, स्त्री-पुरुष नपुंसक वेद चला गया। जब तक ये नो कषाय रहती हैं तब तक ही प्राणी के जीवन में इच्छा रह सकती है। इच्छा को राग-द्वेष का ही एक रूप कहें। जिसके प्रति राग है तो इच्छा उसके प्रति प्राप्त करने की होगी, यदि द्वेष है तो उससे दूर होने की होगी। इच्छा तो जन्म ही तब लेती है जब मोहनीय कर्म हो। यहाँ पर अपिअनीहितु कहा और तीर्थंकर प्रभु की विभूति कैसी है इच्छा से रहित। क्या तीर्थंकर प्रभु की समवशरण में कोई इच्छा है? क्या विभूति में कोई इच्छा है ? क्या जो दिव्यध्वनि खिर रही है वह इच्छा से खिर रही है ? नहीं।

तीर्थंकर प्रभु के समवशरण का विहार भव्यों के पुण्य से होता है। दिव्यध्वनि भी खिरती है तो भव्यों के पुण्य से स्वत: खिरती है। वे स्वयं अपने आप दिव्यध्वनि नहीं खिराते न खिरा सकते हैं। भव्यजीवों का समुदाय जब पहुँच जाता है तब वह अपने आप खिरने लगती है। चार संध्याकाल में तो खिरती ही है इसके अलावा असमय में भी खिर जाती है कोई विशेष पुण्यात्मा भरत चक्रवर्ती जैसे महानुभाव पहुँच जायें तब भी बीच में दिव्यध्वनि खिर सकती है।

आगे कहा-**'शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे-**

कल्याण, मोक्ष, सिद्ध इत्यादि अर्थों में शिव शब्द का अर्थ आता है। वर्तमान काल में 'शिव' शब्द का अर्थ रूढ़ि से शंकर जी के लिये प्रयोग किया जाता है। शिवाय शब्द हमारे शास्त्रों में आया है मोक्ष को प्राप्त हुये परमात्मा वे सिद्ध परमेष्ठी। धात्रे अर्थात् धाता विधाता-ब्रह्मा। शिवाय-शमन करने वाले नष्ट करने वाले, वैदिक परम्परा में मानते हैं शंकर जी भस्म कर देते हैं नष्ट कर देते हैं और हम कहते हैं शिव का अर्थ जिन्होंने संसार को नष्ट कर दिया। वैदिक परम्परा में कहते हैं कि ब्रह्मा जी संसार की रचना करते हैं, विष्णु जी रक्षा करते हैं वे व्यापक हैं, सर्वत्र है और शंकर जी संहार करने वाले हैं।

किन्तु हम जिनशासन वाले इसका सही अर्थ इस प्रकार लगाते हैं-शिवाय-नष्ट करने वाले। क्या नष्ट करने वाले ? अपने स्वयं के संसार को नष्ट करने वाले। शिव जी ने आठ असुर भस्म

किये या नहीं किये किन्तु सिद्ध परमेष्ठी ने आठ असुर भस्म किये यानि आठ कर्म। उन आठ कर्मों को नष्ट करने के कारण ही वे शिव कहलाते हैं और वास्तव में 'शंकर' यह नाम सहस्रनाम में भी आया, भक्तामर में आया। शंकर यानि 'शम' अपनी आत्मा में शम करने वाले जब तक आत्मा में कर्म रहेंगे तब तक आत्मा के प्रदेश सम नहीं हो सकते विषम ही रहेंगे। जब तक योग हैं तब तक आत्मा के प्रदेश स्पन्दन से सहित हैं और जब योग ही नहीं रहा अयोग केवली के बाद सिद्ध बन गये तो वे शांत हो गये, शिव हो गये शंकर अवस्था को प्राप्त हो गये।

शंकर अर्थात् 'समत्व को' शाश्वत अवस्था को प्राप्त कर लिया, तो कहा शिवाय उन शिव के लिये। धात्रे-ब्रह्मा आदिनाथ भगवान् का पर्यायवाची नाम। जब वे गृहस्थ जीवन में थे असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्पादि कला का उपदेश दिया, वही ब्रह्मा कहलाये क्योंकि उन्होंने सृष्टि की रचना की। भव्य जीवों को षट्कर्मोपदेश दिये और केवली बनने के उपरांत षट्धर्मोपदेश दिये श्रावकों के लिये भी और श्रमणों के लिये भी एवं आत्मा को परमात्मा बनाने की विधि बताई। धाता कहो विधाता कहो अथवा धा-धारण करने वाले त्रा-रक्षा करने वाले। आदिनाथ भगवान् धारण करने वाले थे अर्थात्-उन्होंने जो उपदेश दिया था उसके कारण ही व्यक्तियों का जीवन उनके प्राण शरीर में रहने में समर्थ हुये। यदि वे उपदेश नहीं देते तो वे जीवन को धारण नहीं कर सकते थे, इसलिये वास्तव में सच्चे धाता तो वो ही थे। त्राता-जब जनता त्राहिमान्- त्राहिमान् करती हुयी आयी तब उन्होंने रक्षण दिया, संरक्षण दिया क्योंकि कर्म भूमि का प्रारंभ हुआ था। जब वे केवली हुये थे तब उन्होंने अपने समवशरण में सबको स्थान दिया। पहली बार समवशरण लगा था जितने भी भव्य जीव पहुँचे सबको समशरण में स्थान मिला अत: वे ही सच्चे धारण करने वाले और रक्षक भी है।

'सुगताय'-अर्थात् सौगत शब्द पर्यायवाची नाम है वैसे रूढ़ि में बुद्ध के लिये आता है। यहाँ पर भी सुगत शब्द का अर्थ लें तो 'सु' माने अच्छी 'गत'-मनोगति, गति शब्द का अर्थ एक तो गमन के अर्थ में आता है एक ज्ञान के अर्थ में आता है। तो अच्छे ज्ञान से सहित। भगवान आदिनाथ स्वामी या कोई भी तीर्थंकर सुगताय हैं अर्थात् अच्छे ज्ञान से सहित हैं। पाँचों ज्ञानों में सबसे अच्छा ज्ञान केवलज्ञान है वे उस केवलज्ञान से सहित हैं। उस सुगत के लिये नमस्कार हो। अथवा सुगताय अर्थात् तीर्थंकर की कौन सी गति होती है ? सिद्धगति होती है। उनसे अच्छी गति और किसी की नहीं हो सकती तो उस सुगत के लिये नमस्कार हो। अथवा सुगत अर्थात् बुद्ध। जो वास्तव में ज्ञान का पिण्ड हैं।

'ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्म मल वर्जित सिद्ध महंता'

वे ज्ञान शरीरी हैं। सही मायने में सुगत तो वे ही हैं। इसलिये उन्हें यहाँ नमस्कार किया।

विष्णवे-विष्णवे माने व्यापक। व्याप्त हैं जैसे वैदिक परम्परा में मानते हैं विष्णु सब जगह व्याप्त हैं। आपको ज्ञात होगा जब प्रहलाद की परीक्षा ली थी तो उसके पिता ने पर्वत से गिरवाया, लोहे के बड़े-बड़े खम्भे गर्म कराकर उससे कहा इन्हें पकड़ो पुनः उसकी बहिन होलिका की गोद में बैठा दिया व आग लगा दी, वह होलिका जलती नहीं थी जो गोदी में बैठता वह जल जाता था किन्तु प्रहलाद सभी में विजयी हुआ ऊपर से गिराया तो प्रहलाद ने राम का नाम लिया तो जब गिरा तो किसी ने ऐसे उठा लिया जैसे रास्ते में से उठा लिया हो, जब कहा खम्भे को पकड़ो तो उसने खंभा पकड़ लिया क्योंकि उसे विश्वास था कि सब जगह भगवान् है। उसे खम्भे में चींटी सी चलती दिखाई दी भगवान् की शक्ति सब जगह व्याप्त है वह मुझे मार नहीं सकता। होलिका की गोद में बैठा तो होलिका जल गयी वह नहीं जला।

महानुभाव ! वे मानते हैं कि विष्णु सब जगह व्याप्त हैं कहीं ऐसा स्थान नहीं जहाँ वे न हों कण-कण में व्याप्त हैं ऐसा मानते हैं। विष्णु अर्थात् आत्मा। आत्मा तो व्यापक है भगवान् आदिनाथ की आत्मा व्यापक कैसे हो ? भगवान् आदिनाथ स्वामी केवलज्ञान से सहित हो गये उनके ज्ञान में तीनों लोक और अलोकाकाश झलक रहे हैं ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो उनके ज्ञान में नहीं झलक रहा हो उनकी आत्मा तो बहुत विशाल हो गयी कि जिनकी आत्मा में तीनों लोक झलक जायें तो आत्मा बड़ी कहलायी या तीन लोक बड़े कहलाये ? आत्मा बड़ी हुई। क्योंकि आत्मा सर्व-व्यापक हो गयी, वे तीनों लोकों को जानने वाले हैं इसलिये वे विष्णु यानि व्यापक हैं।

वे जिनेन्द्र भगवान् 'जिनाय' जिन्होंने संसार संवर्धन के कारणों को जीत लिया है। संसार संवर्धन के कारण क्या हैं ? इन्द्रिय विषयों का सेवन, कर्म, पाप, कषाय आदि ये सब संसार संवर्धन के कारण हैं सबको जीत लिया है इसलिये वे जिन हैं। ऐसे 'जिन' के लिये, इतनी विशेषतायें जिन तीर्थंकर में हैं जिनकी होठ-जीभ-तालु हिलाये बिना दिव्यध्वनि खिरती है, जो समवशरण आदि विभूति से सहित हैं वे तीर्थंकर प्रभु जिनके नाना नाम हमने देखे उनके लिये। **सकलात्मने नमः** स-सहित कल-शरीर शरीर से सहित नि-निर्गता कल-शरीर, जिनका शरीर निकल गया है वे निकल परमात्मा किन्तु जो शरीर से सहित हैं वे सकलपरमात्मा चाहें जीव मुक्तात्मा कहो, अरिहंत प्रभु कहो, अर्द्धनारीश्वर कहो ऐसे अरिहंत भगवान् को यहाँ नमस्कार किया है।

'अरिहंत' का अर्थ हुआ-**अरि हननात्-अरिहंतः**। अरि कहते हैं मोहनीय कर्म को, जिसने मोहनीय कर्म को नष्ट कर दिया है वे अरिहंत हैं ज्यों ही मोहनीय कर्म नष्ट होता है तुरंत ही अनंत ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अन्तराय कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही 12वाँ गुणस्थान हो जाता है जिसे क्षीणमोह कहते हैं। क्षीणमोह गुणस्थान में ही तीन कर्म और नष्ट हो

जाते हैं ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, और अंतराय कर्म पुनः केवली बनकर गुणस्थान 13वाँ हो जाता है और वे सकलपरमात्मा अरिहंत भगवान् कहलाते हैं। यहाँ उन्हीं सकलपरमात्मा को नमस्कार किया है।

जहाँ पर नमन होता है वहीं पर जीवन चमन होता है, जिसके जीवन में नमन अर्थात् नमस्कार करने की प्रक्रिया नहीं है उसके जीवन में कभी आनंद नहीं आ सकता। पूजा करने वाला व्यक्ति भविष्य में पूज्य बनता है, जो पूजा नहीं करता है वह पूज्य नहीं बनता। जिसकी पूजा करता है उसी प्रकार की विभूति को प्राप्त करता है।

महानुभाव ! यहाँ द्वितीय मंगलाचरण के माध्यम से अरिहंत भगवान् की स्तुति की गयी है उन्हें नमस्कार किया गया है। तीर्थंकर प्रभु का बहुत उपकार है वे बोलते नहीं हैं, चाहते भी नहीं है फिर भी वचन प्रकृति का उदय व भव्य जीवों के पुण्योदय से उनकी वाणी निःसृत होती है। जो सकल परमात्मा हैं, उनको मेरा नमस्कार हो, वे कल्याणमय होने से शिव हैं, मोक्षमार्ग के नेता होने से धाता हैं, सर्वोत्कृष्ट अवस्था होने से सुगत हैं, लोकालोक व्यापक होने से विष्णु हैं, रागादिक समस्त बैरियों को जीत लेने से जिन हैं। ऐसे अरिहंत प्रभु की यहाँ स्तुति वंदना-भक्ति कर नमस्कार किया गया है।

यहाँ पर यह समाधितंत्र नाम का ग्रंथ जिसमें प्रथमतः आचार्य भगवन् जी ने मंगलाचरण किया। कोई भी पुण्य पुरुष, शिष्ट पुरुष, महापुरुष अपने इष्ट देवता को स्मरण किये बिना अपने काम को प्रारंभ नहीं करता। आचार्य महोदय ने भी अपने इष्ट देवता सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया है और प्रत्येक व्यक्ति अपने इष्ट की कुछ न कुछ विशेषतायें लगाता है कि मेरा इष्ट कैसा है ? मात्र नाम लेकर कोई संबोधन नहीं करता और यदि उसका कोई व्यक्तिगत इष्ट नहीं है तो गुणों के समूह से युक्त किसी विशेष आत्मा को मानता है तो उन गुणों का जिक्र करके उस इष्ट देवता का स्मरण करता है, प्रणाम करता है भक्ति करता है। यहाँ पर भी आचार्य परमेष्ठी ने सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया है। किन्तु उन सिद्धों की कौन सी विशेषता उन्हें ज्यादा भायी, किन विशेषताओं से प्रभावित होकर उन्हें नमस्कार किया, क्योंकि उनके इष्ट में अनेक विशेषतायें हो सकती हैं और सब विशेषताओं को वह स्वयं भी नहीं जान सकता ऐसा भी संभव है। तुम जिसे मानते हो उसकी सब विशेषताओं को तुम नहीं जानते किन्तु उसकी कुछ विशेषताओं से प्रभावित होकर तुम उसकी स्तुति वंदनादि करते हो। यहाँ पर भी आचार्य महोदय पूज्यपाद स्वामी जी ने सिद्ध परमेष्ठी की प्रथमतः स्तुति वंदना की है।

उसके उपरांत सिद्धों का स्वरूप बतलाने वाले अरिहंत परमेष्ठी होते हैं। उनके बिना हम सिद्धत्व को, उनके गुणों को, अपनी आत्मा के वैभव को जान भी नहीं सकते थे किन्तु

आध्यात्मिक ग्रंथ होने के कारण उसमें पहले लक्ष्य की बात रखी जाती है इसलिये पहले सिद्धों को नमस्कार किया जाता है। जैसे कि आचार्य भगवन् कुन्द-कुन्द स्वामी जी ने भी समयसार का लेखन करने के पूर्व सिद्धों को नमस्कार किया-

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवमचल मणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं॥१॥

महानुभाव ! अन्य-अन्य अचार्य जिन्होंने सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया वह इसी बात का द्योतक है कि उन्होंने सिद्ध अवस्था को इष्ट मानकर के अपने ग्रंथ का प्रणयन, लेखन या निबद्ध करना प्रारंभ किया। आचार्य पूज्यपाद स्वामी सिद्धों को नमस्कार करके अन्य को नमस्कार करना भूले नहीं इसलिये उन्होंने अरिहंत परमेष्ठी को तुरंत ही मंगलाचरण रूप में नमस्कार किया। इस तरह दो कारिकाओं में मंगलाचरण किया।

अब आगे की कारिका में ग्रंथकार ग्रंथ कहने की आत्मा के स्वरूप को बताने की प्रतिज्ञा करते हैं।

४. आत्म स्वरूप कथन प्रतिज्ञा

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये॥३॥

अन्वयार्थ-अथ-परमात्मा को नमस्कार करने के अनंतर **अहं**-मैं पूज्यपाद आचार्य **विविक्तं आत्मानं**-कर्ममल रहित आत्मा के शुद्ध स्वरूप को **श्रुतेन**-शास्त्रों के द्वारा **लिंगेन**-अनुमान व हेतु के द्वारा **समाहितान्तः करणेन**-एकाग्र मन के द्वारा **सम्यक्समीक्ष्य**-अच्छी तरह अनुभव करके **कैवल्य-सुखस्पृहाणां**-कैवल्यपद-विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रिय सुख की इच्छा रखने वालों के लिए **यथात्मशक्ति**-अपनी शक्ति के अनुसार **अभिधास्ये**-कहूँगा।

आचार्य महोदय कह रहे हैं-

शक्ति के अनुसार मैं कहूँगा। किसे कहूँगा ?

विवक्त आत्मान्-एकत्व स्वभावी उस शुद्ध आत्मा को। जो नित्य निरंजन अविकार है उस आत्मा को मैं कहूँगा। कैसे कहूँगा-तुमने प्रतिज्ञा तो कर ली कि मैं कहूँगा। प्रतिज्ञा कर ली जैसे अर्जुन ने ली कि मैं सूर्य अस्त होने के पहले-पहले जयरथ को मारकर रहूँगा, यदि ऐसा नहीं कर पाया तो ? तो मैं स्वयं अग्नि चिता में प्रवेश कर जाऊँगा, या भीष्मपितामह ने प्रतिज्ञा कर ली कि मैं नित्य पाण्डव पक्ष के 10 हजार सैनिक हनन करूँगा। या प्रतिज्ञा की कि मैं यावज्जीवन ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करूँगा तो ऐसे प्रतिज्ञा करने वाले बहुत रहते हैं। किन्तु कैसे प्रतिज्ञा करना है? जिस प्रतिज्ञा के माध्यम से स्व और पर का कल्याण हो ऐसी प्रतिज्ञा करना जिनशासन में ग्राह्य है। जिस प्रतिज्ञा से अपना घात हो जाये ऐसी प्रतिज्ञा कभी नहीं करना चाहिये, जिस प्रतिज्ञा से दूसरे का घात होता है ऐसी प्रतिज्ञा भी नहीं करना है। ऐसी प्रतिज्ञा करनी चाहिये जिससे स्व-पर दोनों का भला हो।

यहाँ पर प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि मैं आत्मा के स्वरूप को कहूँगा, किन्तु जो धर्मात्मा है वह महाराज से पूछ रहा है आप कैसे कहेंगे ? अपने मन से कहेंगे या किसी से सुनकर कहेंगे, रूढ़ि से कहेंगे, युक्ति-तर्क से कहेंगे, आगम से कहेंगे कैसे कहेंगे ? तो ये बता रहे हैं आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी की तरह से कि मैं आत्मा के स्वरूप को कहूँगा आचार्यों ने जैसा बताया है उसी के अनुसार कहूँगा और युक्ति तर्क से कहूँगा, इसके साथ-साथ अपने अनुभव ज्ञान से भी कहूँगा। ये बात आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने समयसार में लिखी उसी बात को आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी भी यहाँ लिख रहे हैं कि मैं आत्मा के स्वरूप को कहूँगा। कैसे कहूँगा।

श्रुतेन-श्रुत के द्वारा कहूँगा। श्रुत के दो अर्थ हैं-एक तो श्रुत ज्ञान, शास्त्रज्ञान या शब्द ज्ञान। शब्द ज्ञान/शास्त्रज्ञान मेरे पास है उसके द्वारा कहूँगा। श्रुत का अर्थ होता है आगम, शास्त्र। श्रुत प्राप्त

होता है आचार्यों के द्वारा आचार्यों ने कहा है तीर्थंकर की वाणी को, तो जो परम्परा से तीर्थंकर की वाणी गणधरों ने संग्रहीत की, आचार्यों ने लिखी वह जो मुझे प्राप्त हुयी है, वह श्रुत ज्ञान जो मुझे प्राप्त हुआ है उसके द्वारा कहूँगा। अपने मन से मैं कुछ नहीं कह रहा मैं भगवान् की वाणी को आचार्यों व शास्त्रों की वाणी को कहूँगा और जो मैंने पढ़ा है, सुना है उनके श्री मुख से उसे ही कहूँगा।

लिंगेन-अनुमान आदि ज्ञान से युक्ति और तर्क की कसौटी पर कसकर के आत्मा के स्वरूप को कहूँगा। ऐसे नहीं कि जैसा मन में आया वैसे कह दिया। मेरी बात ऐसी होगी जो अलंघ्य क्योंकि मैं भगवान् की वाणी को कहूँगा और वह वाणी अलंघ्य है। उसका कोई खण्डन नहीं कर सकता वह ''अन्यूनमनतिरिक्तं'' जो न न्यून है न अधिक है ''याथातथ्यं'' बिना बनावट के जैसा स्वरूप है वैसा ही है विपरीत भी नहीं है। ''निःसंदेह'' और संदेह से रहित है। संशय, विभ्रम, अनध्यवसाय का निराकरण करने वाली है ऐसी 'जिनप्रभु' की वाणी है उसे मैं कहूँगा। ऐसा नहीं कि मैं ये कहूँ कि उस पहाड़ पर अग्नि है, क्यों? क्योंकि वहाँ से शीतलता का अनुभव हो रहा है तो ये तर्क-अनुमान तो मिथ्या है किन्तु मैं कहूँगा कि धूप आ चुकी, क्यों? क्योंकि सूर्य का उदय हो गया है।

मैं कहूँगा-अयं पर्वतो वह्निमानः वह पर्वत अग्नि वाला है, क्यों ? धूमत्वात्, वहाँ धुआँ दिखाई दे रहा है। यह विद्यार्थी अच्छे नंबरों से पास हुआ है क्योंकि यह बहुत होशियार है। ऐसे युक्ति तर्क से कहेंगे। अभी वर्षा होने वाली है क्योंकि सघन बादल छाये हुये हैं और वर्षा पीछे हो रही है हवा इधर की है तो यह अनुमान ज्ञान है। लिंगेन' माने चिह्न। किसी चिह्न के ज्ञान अर्थात् अनुमान ज्ञान से। तो मैं आत्मा के बारे में अनुमान ज्ञान से और वह अनुमान भी ऐसा नहीं कि मिथ्या हो वह युक्ति ओर तर्क की कसौटी पर कसकर के कहूँगा। कैसे कहूँगा-'यथात्मशक्ति'-अपनी शक्ति के अनुसार कहूँगा। आत्मशक्ति से आशय स्वयं भी अनुभव करूँगा। किसी ने कह दिया कि शक्कर चरपरी होती है तो मैं ऐसे नहीं कह दूँगा पहले चखूँगा। मीठी होती है यह मैंने अनुभव किया है तो कहूँगा मीठी होती है। मिर्ची चरपरी होती है तो मैं भी अनुभव करूँगा।

मैं जो आत्मा के स्वरूप को कहूँगा उसे अपने अनुभव की कसौटी पर कसूँगा उसका स्वयं अनुभव करूँगा उसके बाद कहूँगा। जो कुछ भी कह रहा हूँ श्रुत के माध्यम से कह रहा हूँ आचार्यों की वाणी को कह रहा हूँ, अनुमान ज्ञान से तर्क-युक्ति ज्ञान से कह रहा हूँ और अपनी आत्मा में अनुभव करके कह रहा हूँ।

इस आत्मा के स्वरूप को कहने का मेरा प्रयोजन ये है कि इससे सबका हित हो, ऐसा नहीं कि मेरा कार्य सिद्ध हो जाये दूसरे का भले ही असिद्ध हो जाये। नहीं, यह आत्मप्राप्ति के लिये

मेरे लिये भी कारण है और दूसरों के लिये भी कारण है। सबके लिये समाधान करने वाला जो वाक्य है, जो उपदेश है उसी प्रकार से मैं कहूँगा। आगे कहा **समीक्ष्य कैवल्य सुखस्पृहाणां**-अच्छी तरह से समीक्षा करके, कैवल्य ज्ञान के साथ रहने वाला जो सुख है ऐसे सुख की इच्छा के साथ। जो सुख केवलज्ञान से रहित है ऐसा सुख तो विनाशीक है, विभावयुक्त है, दु:ख से युक्त है किन्तु जो सुख कैवल्य ज्ञान के साथ है ऐसा सुख अनंत है, वही शाश्वत सुख है।

जो भव्य जीव कैवल्य सुख की इच्छा करते हैं, केवलज्ञान के अविनाभावी सुख की कल्पना करते हैं उनके लिये कहूँगा, सबके लिये नहीं। जो चाहते हैं शाश्वत आत्मा का सुख, जो चाहते हैं स्वभाविक सुख, उनके लिये मैं उस एकत्व विभक्त शुद्ध आत्मा के स्वरूप को कहूँगा। जिस आत्म तत्त्व को आगम वचनों द्वारा जाना है, जिस आत्मतत्त्व को निर्दोष हेतु के द्वारा लक्षित किया है व जिस आत्म तत्त्व को स्वयं अनुभूत किया है उस शुद्ध आत्म स्वरूप को शाश्वत आनंद के अभिलषित जीवों के लिये मैं कहूँगा। जो शुद्ध आत्मतत्त्व कहा जायेगा वह पूर्ण यथार्थ ही है क्योंकि आगम युक्ति व अनुभव से पहचाना हुआ है। अत: नि:शंक होकर के सुनो, जानो, मानो।

सबसे पहले ये जानना आवश्यक है कि आत्मा कहते किसे हैं जीव कौन है। **य: जीवति, जीवस्यति, अजीवत स जीव:** जो जीता है, जीवेगा और जीता था वह जीव है। जिसमें जीवत्व शक्ति है वह जीव है अथवा **चेतना लक्षण: जीव:** चेतना जिसका लक्षण है वह जीव है। **चेतनाया: भेदद्वयम्**-चेतना के दो भेद हैं। ज्ञान चेतना, दर्शन चेतना। **यस्मिन् अवगमन-शक्तिर्विद्यते सा ज्ञान-चेतना**-जिसमें जानने की शक्ति है वह ज्ञान चेतना है।

यस्मिन् सामान्यावलोकन-शक्तिर्विद्यते सा दर्शन-चेतना-जिसमें सामान्य अवलोकन की शक्ति है, महासत्ता को ग्रहण करने की शक्ति है वह दर्शन चेतना है। जो अवान्तर विशिष्ट सत्ता को ग्रहण करे वह ज्ञान चेतना। ऐसी शक्ति से सहित वह जीव होता है।

५. तज बहिरातम, भज परमातम

यहाँ आचार्य महोदय आगे बताते हैं कि आत्मा आत्मा है, आत्मा थी, आत्मा रहेगी किन्तु आत्मा की तीन दशा कह रहे हैं। उत्तम-मध्यम-जघन्य आत्मा।

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्व देहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाब्दहिस्त्यजेत्॥४॥

अन्वयार्थ-सर्वदेहिषु-सर्व प्राणियों में **बहिः**-बहिरात्मा **अन्तः**-अन्तरात्मा **च परः**-और परमात्मा **इति**-इस तरह **त्रिधा**-तीन प्रकार का **आत्मा**-आत्मा **अस्ति**-है **तत्र**-आत्मा के उन तीन भेदों में से **मध्योपायात्**-अन्तरात्मा के उपाय द्वारा **परमं**-परमात्मा को **उपेयात्**-अंगीकार करें-अपनावें और **बहिः**-बहिरात्मा को **त्यजेत्**-छोड़े।

संसार में जितने भी जीव हैं उन सबके तीन भेद किये जाते हैं, तीन प्रकार की आत्मा है चौथी प्रकार की आत्मा नहीं है। कौन-कौन सी? तो पहला भेद किया बहिरात्मा, दूसरा अन्तरात्मा और तीसरा परमात्मा। इस प्रकार बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मा इन सभी को तीन प्रकार के भेदों में वर्गीकृत किया। उनमें से परमात्मपद को प्राप्त करना चाहिये। मध्यम जो है उसको सेवन करना चाहिये अर्थात् मध्यम आत्मा बनकर उसका सेवन करना चाहिये। बहिरात्मा का त्याग करना चाहिये।

आप छहढाला में भी पढ़ते हैं-

बहिरातम अंतरआतम परमातम जीव त्रिधा है,
देह-जीव को एक गिनै बहिरातम तत्त्व मुधा है।

यहाँ आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी जी बड़े सरल शब्दों में इसी बात को कह रहे हैं कि आत्मा के तीन भेद हैं। बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मा। बहिरात्मा वह है जो देह-जीव को एक मानता है, अंतरात्मा वह है जिसने जीव-देह में अंतर डाल दिया है, परमात्मा वह है जिसकी आत्मा उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो गयी है।

महानुभाव ! जब तक व्यक्ति का सातिशय पुण्य का उदय नहीं होता है तब तक व्यक्ति धर्मवृष्टि से, जिनवचनामृत के अभिसिंचन से वंचित ही रह जाता है। यहाँ समाधितंत्र ग्रंथ में आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वप्रथम सिद्धों को नमस्कार कर प्रथम मंगलाचरण किया व अरिहंतों को नमस्कार कर द्वितीय व अद्वितीय मंगलाचरण किया, तृतीय काव्य में ग्रंथ रचने की प्रतिज्ञा की और वे अपनी प्रमाणिकता सिद्ध करते हैं कि मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ केवल अपनी तरफ से नहीं अपितु श्रुत के आधार पर आगम वचनों को युक्ति-प्रमाण-तर्क की कसौटी पर कसकर कह रहा हूँ।

इसके पश्चात् उन्होंने अपनी बात को कहना प्रारंभ किया आत्मा के तीन भेद होते हैं। आत्मा क्या है? आत्मा एक द्रव्य है। द्रव्य किसे कहते हैं? गुण और पर्याय के समूह को द्रव्य कहते हैं। गुण और पर्याय के अतिरिक्त द्रव्य नाम की कोई चीज नहीं है। पर्याय क्या है? आचार्य उमा स्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र के 5वें अध्याय में कहा-

''तद्भावा परिणामः''

जिस द्रव्य का जिस समय जो परिणमन चल रहा है उस समय उस द्रव्य की वही पर्याय है। जिस गुण का जिस समय जो परिणमन चल रहा है उस समय उस गुण की वही पर्याय है। पर्याय कभी भी द्रव्य से, गुण से पृथक नहीं होती वे अविनाभावी रूप होती हैं, जैसा द्रव्य वैसी पर्याय, जैसा गुण वैसी पर्याय। कभी भी द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों पृथक्-पृथक् नहीं होते अविनाभावी रूप से ही रहते हैं। इसे थोड़ा समझें-

द्रव्य क्या है ? गुण और पर्यायों का समूह द्रव्य है। द्रव्य ध्रौव्य रूप में होते हैं और पर्याय उत्पाद और व्यय रूप में होती हैं। अभी हमने पर्याय को समझा कि द्रव्य का परिणमन, गुणों का परिणमन पर्याय है। कई बार एक मिथ्या धारणा समाज में आती है कि हमारा द्रव्य तो शुद्ध है पर्याय अशुद्ध है। यह हमारा आपसे पहला प्रश्न है यदि द्रव्य शुद्ध है तो पर्याय अशुद्ध क्यों? द्रव्य का परिणमन ही तो पर्याय है यदि मेरा गुण शुद्ध है तो गुण की पर्याय अशुद्ध क्यों ?

जैसे कोई व्यक्ति बैठा हुआ है लाइट जल रही है, उसकी जो परछाई आयेगी वह कैसी दिखाई देगी ? बैठी दिखाई देगी। अब ऐसा कोई भी उपाय नहीं है कि तुम बैठे ही रहो और तुम्हारी पर्याय यानि परछाई खड़ी हो जाये। ऐसा हो सकता है क्या ? जब तुम खड़े होंगे तब परछाई खड़ी हो जायेगी। पंचास्तिकाय में आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी की गाथा की टीका करते हुये आचार्य भगवन् जयसेन स्वामी जी ने लिखा है कि-पर्यायें द्रव्य के, गुणों के पिछलग्गु हैं और अविनाभावी रूप में हैं'' जैसा द्रव्य का परिणमन है उस परिणमन का नाम ही पर्याय है। पर्याय नाम की अलग से कोई चीज नहीं है। गुण नाम की कोई चीज अलग से नहीं है। गुण और पर्यायों का समूह, गुणों का परिणमन और पूरे सम्पूर्ण गुणों का पुंज जिसे द्रव्य कहते हैं उसका परिणमन उसे पर्याय कहते हैं। उदाहरण के तौर पर हमारी आत्मा, आत्मा का परिणमन आज मनुष्य पर्याय रूप है हमारी आत्मा मनुष्य के आकार में है तो आत्मा के प्रदेश भी इसी आकार में हैं। हमारी आत्मा जब तिर्यंच के आकार में होगी, जिस शरीर में होगी आत्मा के प्रदेश भी तदाकार ही होंगे और आत्मा में तद्आयु, तद्नामकर्म का उदय भी रहेगा ही रहेगा उसे कोई टाल नहीं सकेगा।

कोई व्यक्ति ये कहे कि हमारा द्रव्य त्रिकाल ही शुद्ध है हम तो शुद्ध आत्मा हैं किन्तु हमारी पर्याय अशुद्ध है तो उसका यह वचन जिन आगम से बहिर्भूत है। वचन बहिर्भूत इसलिये है कि

जिनागम में कहा है द्रव्य और पर्याय अविनाभावी होते हैं कभी एक-दूसरे को छोड़कर अलग नहीं रहते तो ये धारणा एकान्तवादियों की हो सकती है कि वे कहते हैं कि द्रव्य हमारा त्रिकाल शुद्ध है किन्तु हम तो पर्याय को शुद्ध करने में लगे हैं द्रव्य तो शुद्ध है ही। भैया जब द्रव्य शुद्ध है तो पर्याय को शुद्ध क्यों कर रहे हो पर्याय तो एक क्षण की होती है वह नष्ट हो जाती है उसको शुद्ध करने से क्या लाभ ? जैसे कोई व्यक्ति कहे मैं शुद्ध हूँ और शुद्ध बन सकता हूँ। अरे ! जब शुद्ध हूँ तब बन क्या सकता हूँ। शुद्ध हूँ तो हूँ आगे फुल स्टॉप आगे कोई बात ही नहीं है। मैं भगवान् आत्मा हूँ, भाई ! जब तू भगवान् आत्मा है तब कोई तुम्हें मनुष्य क्यों कहे। किन्तु मैं भगवान् आत्मा नहीं मैं तो अभी मनुष्यात्मा हूँ क्योंकि मनुष्य के शरीर में हूँ। तिर्यंच के शरीर में है तो तिर्यंचात्मा हूँ, नारकी के शरीर में है तो नारकीयात्मा हूँ, देव के शरीर में है तो देवात्मा है, ये नहीं कह सकते कि ये सिद्धात्मा है। क्यों नहीं कह सकते ? क्योंकि सिद्ध की पर्याय जो है वह शुद्ध की पर्याय के अविनाभावी रूप ही सिद्ध द्रव्य रहता है। जैसे कोई कहे कि दूध घी है, दही भी घी है, मक्खन भी घी है, घी भी घी है ये सब घी हैं ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि अपन सप्तमी का प्रयोग करके तो कह सकते हैं कि दूध में घी है पर दूध घी नहीं है, दही में घी है पर दही घी नहीं है और मक्खन में घी है किन्तु मक्खन घी नहीं है यदि ऐसा होता तो फिर अलग से उसे नाम (संज्ञा) देने की आवश्यकता नहीं होती। अलग लक्षण, गुण, स्वभाव, धर्म बताने की आवश्यकता नहीं होती। एक अच्छा उदाहरण दिया आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने सिद्धभक्ति में और इष्टोपदेश में। उन्होंने लिखा-

योग्योपादान योगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादि स्वादि सम्पत्ता वात्मनोऽप्यात्मता मता॥२॥

एक कनक पाषाण होता है एक अंध पाषाण होता है। कनक पाषाण वह होता है जिस पाषाण में से शुद्ध सोना निकल सकता है, अंध पाषाण वह होता है जिसमें से सोना निकल नहीं सकता। कनक पाषाण होता है भव्य जीव की तरह से अंध पाषाण होता है अभव्य जीव की तरह से। अंध पाषाण में सोना है किन्तु कभी निकलेगा नहीं। शुद्ध सोना कभी निकलेगा नहीं, अभव्य जीव में सिद्ध बनने की शक्ति भले ही बनी रहे किन्तु कभी सिद्ध बनेगा नहीं। कनक पाषाण भव्य की तरह से है अभी वह भव्य है सिद्ध नहीं है। जो सिद्ध है वह भव्य नहीं है। भव्य का अर्थ है सिद्ध होने के योग्य और सिद्ध का अर्थ है जो सिद्ध हो ही गया। यदि हम आज अपने आपको सिद्ध मान लेंगे तो हमारी भव्यता नष्ट हो जायेगी हम भव्य नहीं रहे।

एक बार में एक चीज रह सकती है दो नहीं रह सकती जिस समय हम उसे दूध कह रहे हैं उस समय हम उसे दही नहीं कह सकते, दही कह रहे हैं तो दूध नहीं कह सकते। एक समय में एक ही पर्याय होती है किसी भी द्रव्य की किसी भी काल में किसी भी गुण की किसी भी

काल में, एक समय में दो पर्याय नहीं हो सकती। पर्याय एक होती है हाँ यह बात अवश्य है कि शुद्ध निश्चय से हम देखेंगे तो प्रकट होने की शक्ति है। एक बालक अभी बालक है अभी उसे हम डॉक्टर नहीं कहेंगे, व्यापारी, वकील आदि नहीं कहेंगे यह सब होने की संभावनायें तो उसके अंदर हैं किन्तु वर्तमान काल में ज्योतिषी कह दे कि यह डॉक्टर बनेगा। बनेगा तब तो डॉक्टर कह सकते हैं पर अभी तो यही कहेंगे कि ये बालक है।

जिसकी संभावनायें पूरी-पूरी भी हों तब भी उसे अभी उस नाम से नहीं पुकार सकते क्योंकि वह अभी गैरकानूनी है। कहने का आशय है जब तक वह पर्याय प्राप्त नहीं हुयी तब तक चाहे कितनी ही संभावनायें हो जायें, तब भी नहीं कहेंगे। अरिहंत भगवान् को मोक्ष निश्चित है फिर भी उन्हें सिद्ध तो नहीं कहते, क्या कहते हैं ? अरिहंत ही कहते हैं। सिद्ध क्यों नहीं कहा क्योंकि पर्याय अभी अरहंत की है। जो आचार्य-उपाध्याय-साधु परमेष्ठी हैं, सम्यग्दृष्टि, सम्यकग्ज्ञानी, सम्यक् चारित्रवान् हैं नियम से मोक्ष जायेंगे उन आचार्य-उपाध्याय, साधु को सिद्ध क्यों नहीं कह दिया? ये पाँच पद क्यों किये, एक ही पद कर देते। इसका आशय यह है वर्गीकरण किया है जिसकी जैसी दशा है जो जिस पायदान पर पहुँच गया उसके अनुसार एक पहली सीढ़ी पर है, कोई तीसरी पर कोई पाँचवीं पर कोई दसवीं-बीसवीं पर तो कोई छत पर खड़ा है। जो छत पर पहुँच गया उसे कहेंगे यह छत पर पहुँच चुका है पहली सीढ़ी पर पैर रखने वाले को यह तो कह सकते हैं कि वह छत की ओर जाने को उन्मुख है किन्तु उसे छत पर खड़ा हुआ नहीं कह सकते।

महानुभाव ! हम एकान्त को न समझकर के अनेकान्त दृष्टि से समझें। स्याद्वाद विवक्षा नय-विवक्षा को समझने के लिये हमारे जिनागम में बड़ा अच्छा दिया है कि स्याद्वाद के बिना हम कभी भी तत्त्व को समझ ही नहीं सकते। क्योंकि एक द्रव्य में अनंत धर्म होते हैं किन्तु उस धर्म को हम उसी अपेक्षा से समझेंगे तो सम्यक् समझ लेंगे और अपेक्षा यदि हमने पृथक कर दी तो वही ज्ञान हमारा मिथ्याज्ञान हो जायेगा। जैसे शक्कर स्वाद की अपेक्षा से मीठी होती है ये कथन आपका सम्यक् कथन है, आपने कहा शक्कर मीठी होती है गंध की अपेक्षा से, मीठी तो होती है किन्तु अपेक्षा गलत होने से कथन मिथ्या हो जाता है। यदि आपने कहा टमाटर लाल होता है तो यह कथन वर्ण की अपेक्षा से तो सम्यक् है किन्तु यदि स्वाद की अपेक्षा से कहा है तो वह मिथ्या हो गया। आपने उस वस्तु का सही धर्म कहते हुये भी अपेक्षा गलत लगा ली तो आपका कथन मिथ्या हो गया।

अनेक मिथ्या नयों का समूह मिथ्या ही कहलाता है और अनेक सम्यक् नयों का समूह सम्यक् कहलाता है। सम्यक नयों के समूह को अनेकान्त कहते हैं मिथ्या नयों के समूह को एकान्त कहते हैं।'' क्योंकि शक्कर का एक दाना भी मीठा है और बोरा भर शक्कर भी मीठी है यह

सम्यक् है। यदि नमक का एक दाना खारा है तो पूरा भी खारा होगा। हम यह अपेक्षा करते जायें कि मैं द्रव्य दृष्टि से मरता रहता हूँ तो यह कथन कैसा हो गया ? मिथ्या हो गया। मैं द्रव्य दृष्टि से नहीं मर रहा मैं तो पर्याय दृष्टि से मरता हूँ द्रव्य दृष्टि से तो मेरा आत्मा मरता ही नहीं। यदि कोई कहे मैं पर्याय दृष्टि से नित्य अजर-अमर हूँ तो यह कथन गलत हो गया। यदि कोई कहे कि द्रव्यदृष्टि से मैं शुद्ध हूँ पर्याय दृष्टि से अशुद्ध हूँ तो यह कथन भी मिथ्या हो गया क्योंकि मैं अभी द्रव्यदृष्टि से भी अशुद्ध हूँ और पर्याय दृष्टि से भी अशुद्ध हूँ। क्योंकि द्रव्य और पर्याय दोनों अविनाभावी हैं। अविनाभावी शब्द का अर्थ होता है जिसके बिना जो न हो। सूर्य का उदय और प्रकाश अविनाभावी है। सूर्य के उदय के बिना सूर्य का प्रकाश नहीं मिलेगा, सूर्य का प्रकाश हो रहा है तो समझो सूर्य का उदय है दोनों एक दूसरे के अविनाभावी हैं ऐसे ही द्रव्य, गुण और पर्यायें ये सब अविनाभावी रूप से होते हैं।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी इन सब बातों का आगे अच्छा खुलासा करेंगे। यहाँ हम देख रहे थे आत्मा के तीन भेद।

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु,
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाब्दहिस्त्यजेत्॥४॥

बहुत सरल इसका अर्थ है आप जानते हैं किन्तु जानना, मानना व अनुभव करना तीनों अलग-अलग चीज हैं। जानना मिथ्यादृष्टि के पास भी होता है जैसे कई बार व्यक्ति कहता है स्वसंवेदन के बिना, स्वसंवित्ति के बिना, आत्मानुभव के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। यह 100 प्रतिशत गलत है। यदि स्वसंवित्ति, स्वसंवेदन आत्मानुभव सम्यक्त्व के पहले हो गया तो वह तो मिथ्यादृष्टि को हो गया और स्वसंवित्ती स्व-आत्मानुभव साक्षात् मोक्ष का मार्ग है फिर तो मिथ्यादृष्टि को मोक्ष मिल जायेगा फिर सम्यक्त्व की, सम्यग्ज्ञान की, सम्यक्चारित्र की कहाँ आवश्यकता रहेगी, बताओ ? स्वसंवेदन कब होता है ये तो बाद में बतायेंगे सम्यग्दर्शन जब भी होता है मिथ्याज्ञान से होता है, ये बात नोट कर लो, आप जीवन में पहली बार सुन रहे हैं अटपटी बात लग रही होगी।

सम्यग्दर्शन जब भी होता है मिथ्याज्ञान से होता है अब आप पूछो कैसे ? तो ऐसे होता है सम्यग्ज्ञान को सम्यक्पना सम्यग्दर्शन के बाद आता है सम्यग्दर्शन के पहले जितना भी ज्ञान होता सब मिथ्याज्ञान होता है। पहले जानना होता है उसके बाद मानना होता है उसके बाद अनुभव में बात आती है।

जानना अर्थात् आपने पहले कोई भी चीज जानी, तो यह जरूरी नहीं है कि जानकर आप मान ही जाओ। आपको कोई फोटो दिखाया जिसमें एक व्यक्ति के पैर में फ्रेक्चर हो गया, यह

फोटो देखा तो आपने जाना कि हाँ दर्द होता है, इसका ऐसा ट्रीटमेंट हो सकता है यह सब जान लिया किन्तु मात्र जान लिया अनुभव में नहीं आया अभी मानने में भी कुछ नहीं आ रहा। कुछ दिनों बाद आप रास्ते से जा रहे थे आपके सामने एक एक्सीडेंट हुआ उस व्यक्ति के पैर में फ्रेक्चर आया वह तड़प रहा है, रो रहा है आपकी आँखों में आँसू आ गये। आप कहने लगे अरे पहले तो कभी फोटो या पुस्तक में पढ़ा था पर आज देख लिया तो अनुभव में आया है। किन्तु अनुभव में अभी भी नहीं आया पहले इसे जानना था अब मानना हो गया पक्का हो गया कि पीड़ा ये होती है। ये मानना है अनुभव नहीं है। जब एक दिन खुद का एक्सीडेंट हुआ जब तड़प रहा है तो वो है अनुभव।

हम कहना चाह रहे हैं पुस्तक पढ़कर के समयसार पढ़कर के अनुभव हो जाये तो फिर तो सभी योग्य हो जायें। कहा है-

स्वसंवेदन सुव्यक्त स्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंत सौख्यवानात्मा लोकालोक विलोकनः॥२१॥

पुस्तक के अक्षर पढ़कर के किसी को अनुभव नहीं होता और दूसरे योगी को देखकर भी किसी को अनुभव नहीं होता। एक व्यक्ति ने पुस्तक में लिखा-सूजी के हलवे में पानी-घी-शक्कर ये सब डालते हैं पढ़-पढ़कर बड़ा आनंद आ रहा है वाह ! हलवा, वाह हलवा ! पर काहे का हलवा पुस्तक में हलवा रखा है क्या। जब हलवा सामने बनते हुये देखा बनता हुआ देखकर के बालक उछलने लगा वाह ! हलवा बन रहा है। उसे विश्वास हो गया हलवा बन रहा है अब वह आंख बंद करके देखेगा तो उसे कोई भ्रमित नहीं कर सकता कि हलवा कैसा होता है अब उसका पुस्तकीय ज्ञान नहीं है, सामने देखा हुआ श्रद्धान ज्ञान है किन्तु अभी हलवा कैसा होता है जब तक जीभ पर नहीं रखा तब तक नहीं कह सकता। जीभ पर कौन चखेगा ? जीभ पर चखेंगे मुनिमहाराज जब सप्तम गुणस्थान में जायेंगे छटवें तक भी नहीं। जीभ पर चखा वह गरम था जीभ पर लगाया तुरंत उगल दिया कितना स्वाद आया है ? कितना आया है कह ही नहीं सकते। पुनः चखा गर्म था थूक दिया स्वाद तो आया अनुभव में किन्तु कह नहीं सकते। जब स्वाद दीर्घकाल तक आता है तब केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है तब अपने आप दिव्यध्वनि खिरने लगती है, सर्वांग से खिरने लगती है उसे जिह्वा से नहीं कहा जाता।

एक व्यक्ति झूला झूलता है एक ओर जाता है तो पार्क दिखाई देता है दूसरी ओर जाता है तो स्कूल दिखाई देता है। उससे पूछा स्कूल में क्या हो रहा है ? वह कहता है मैंने देखा थोड़े ही था वहाँ बच्चे हैं खेल रहे होंगे, अरे स्कूल में हमारा बेटा है देखकर बताओ अभी वह क्या कर रहा है वह कहेगा मेरे पास यह सब देखने का टाईम नहीं है। झूला एक क्षण के लिये वहाँ जाता

है और नीचे आ जाता है। ऐसे ही मुनिमहाराज सप्तम गुणस्थान में ढूंकने के लिये जाते हैं, वहाँ ठहरते नहीं, ढूँका और तुरन्त नीचे आ गये। छटवें गुणस्थान वाला थोड़ा ठहर भी सकता है। जैसे एक व्यक्ति दीवार ऊँची थी उस पर हाथ के बल से चढ़कर के झाँक रहा था। बाजू में कोई नाटक चल रहा था वह व्यक्ति उस दीवार की जाली पर लटक गया और जब तक देखा हाथ कल्लाने लगे उसे जब तक देख ही रहा था कि हाथ छूट गये फिर नीचे आ गया, वह दुबारा चढ़ता है, ऐसे वह बार-बार झांक रहा है। मुनिमहाराज भी मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ, अनंतानुबंधी की चार प्रकृतियाँ, अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान के चले जाने से और संज्वलन का मंद उदय होने से तब वे सप्तम गुणस्थान में आत्मा की एक झलक देख पाते हैं इसके पहले संभव नहीं है। दौलत राम जी ने लिखा है-**यूँ है सकल संयम चरित सुनिये स्वरूपाचरण अब** सकल संयम के पहले की बात नहीं है नहीं तो लोग कहते हैं कि हमें तो चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण चारित्र हो गया। पाँचवें वाले को कहते हैं देश चारित्र अणुव्रती बन गया, छट्वाँ वाला महाव्रती है और चौथे गुणस्थान वाले स्वरूपाचरण चारित्र वाले हैं। हम पूछते हैं फिर 7 से 12 गुणस्थान वाले कौन से हैं? जब तुम चौथे में ही स्वरूपाचरण चारित्र वाले हो गये तो 7 से 12 गुणस्थान वालों को क्या कहोगे ? वे क्या बहिर्रूप में लीन रहते हैं क्या ? स्वरूप में आचरण तो वे कर रहे हैं जो 7वें से 12वें तक में हैं वहाँ स्वरूपाचरण चारित्र होता है-

यूँ है सकल संयम चरित सुनिये स्वरूपाचरण अब।
जिस होत प्रकटे आपनी निधि मिटे पर की प्रवृत्ति सब॥

चौथे गुणस्थान में सब प्रवृत्तियाँ मिट जाती हैं क्या ? अभी तो कुछ भी नहीं मिटा पाये, थोड़ी ही मिटा लेते तो अणुव्रती बन जाते, और ज्यादा मिटा लेते तो महाव्रती बन जाते उसके आगे महाव्रती बनकर आत्मा में लीन हो जाते तब पर की प्रवृत्ति मिटती, तुम्हारी यदि चौथे में ही मिट गयी है तो फिर संयमी बनने की क्या आवश्यकता।

यहाँ देख रहे थे बहिरात्मा अन्तरात्मा परमात्मा। सीधी सी परिभाषा है बहिरात्मा की आगम की दृष्टि में-

''देह जीव को एक गिने''-अकेले देह को नहीं, आपको समझाया था यदि स्त्री-पुत्र-मकान आदि में एकीभाव है वे सब मिथ्यादृष्टि हैं आगम की दृष्टि में। देह आदि सभी परिग्रहों को जो आत्मारूप मानता है जिसकी आत्मा आत्मा के बाहर चली गयी, वह बहिरात्मा है। किन्तु ये कथन है 6वें गुणस्थान वाले मुनिराज के लिये। अभी आपके लिये है कि देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है, वह बहिरात्मा है और छठवें गुणस्थानवर्ती को अमृतचन्द्र स्वामी जी ने बहिरात्मा कहा है घबराना नहीं। क्यों ? क्योंकि वे आत्मा के बाहर चले गये, सप्तम गुणस्थान में

थे तब तक तुम आत्मा में थे, पर द्रव्य में जाते ही बहिरात्मा हो गये। आगम की परिभाषा में बहिरात्मा कौन है-पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान वाला। चौथे गुणस्थान वाला जघन्य अन्तरात्मा, पाँचवें वाला मध्यम अंतरात्मा और आगे उत्तम अंतरात्मा एवं तेरह चौदह गुणस्थान वाला परमात्मा। सकल परमात्मा और पुनः गुणस्थानातीत। ये परिभाषा यहाँ संक्षेप में हैं इन्हीं का कथन आगे करेंगे।

संसार में जितनी भी आत्मा हैं उनके भेद इन्हीं तीन में आ जाते हैं। यहाँ आचार्य महाराज यही कह रहे हैं बहिरात्मपने को छोड़ो-छोड़ो। बाहर बार-बार न जाओ, बाहर जाओगे धूप लगेगी ताप लगेगा अतः अपने घर में आ जाओ और छाया में बैठो। जब भी बाहर जाओगे तो दुःखी हो जाओगे बाहर सर्दी गर्मी बरसात लगेगी। अंदर-बाहर में भेद डाल लो। जिसकी समझ में बाहर-अंदर का भेद आ गया वह अन्तरात्मा हो गया और जो थोड़ी देर के लिये लीन होता है खिड़की बंद करके, थोड़ी घुटन सी होती है पुनः बाहर आता है क्योंकि अनादि काल का संस्कार है। वह बार-बार अंदर बाहर झांकता है। जो बाहर ही खड़ा है वह तो मिथ्यादृष्टि है ही किन्तु जो पड़े से खड़ा हो गया चलकर के अंदर आ रहा है वह अन्तरात्मा और जो अंदर रह गया वह उत्तम अंतरात्मा हो गया और जो अब कभी बाहर जायेगा ही नहीं स्वयं में लीन है वह परमात्मा हो गया और अब उसके पास जिससे अनुभव कर रहा था बाहरी वस्तुओं का वह शरीर ही नहीं है वह निकल परमात्मा हो गया।

जहाँ से परमात्मा को प्राप्त करने का साधन किया जाता है वह मध्यमसीढ़ी है मध्यम अंतरात्मा है। बहिरात्मा परमात्मा बनने का साधन नहीं कर सकता। जैसे कोई व्यक्ति लिफ्ट में जाना चाहे तो लिफ्ट के पास में आना पड़ेगा तब उसमें चढ़कर के छत पर जायेगा। लिफ्ट तो अंतरात्मा हो गयी लिफ्ट के बाहर दूरी है वह बहिरात्मा है। वह चाहे हर कहीं से लिफ्ट में नहीं बैठ सकता हर कहीं से सीढ़ी नहीं चढ़ सकता जहाँ से सीढ़ी चढ़ने का दरवाजा है वहीं से चढ़ सकता है। यहाँ कहने का आशय है जो उपादेय है जो ग्रहण करना चाहिये वह तो परमात्मा ही है किन्तु कब मध्योपायात् जो मध्यम आत्मा है उससे पहले सीढ़ी प्रारंभ नहीं होगी बहिरात्मपना तब छूटता है जब अन्तरात्मपना आता है यदि अंतरात्मपना ग्रहण करने को तैयार हो जाओगे तो बहिरात्मपना छूट जायेगा। तुम सोचो मैं तो सीधे परमात्मा बनूँगा अंतरात्मा नहीं बनूँगा, भक्त नहीं भगवान् बनूँगा, भईया ! पागल हो गया है क्या ? भक्त अंतरात्मा है, भगवान् परमात्मा है। बहिरात्मा से परमात्मा कोई नहीं बनता अंतरात्मा से परमात्मा बनते हैं। इसलिये मध्य की सीढ़ी पर तो आना ही पड़ेगा। उसके बिना तो संभव ही नहीं है। मध्य के उपाय से उपाय करना चाहिये और बहिरात्मा को छोड़ देना चाहिये।

आगे की कारिका में तीनों की परिभाषा बता दी-

६. त्रयात्म-लक्षण

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः
चित्तदोषात्म विभ्रान्तिः परमात्माऽति निर्मलः॥५॥

अन्वयार्थ-शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा-शरीरादिक में आत्मभ्रान्ति को धरने वाला-उन्हें भ्रम से आत्मा समझने वाला बहिरात्मा है **चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः आन्तरः**-चित्त के, रागद्वेषादिक दोषों के और आत्मा के विषय में अभ्रान्त रहने वाला उनका ठीक विवेक रखने वाला अर्थात् चित्त को चित्त रूप से, दोषों को दोष रूप से और आत्मा को आत्मरूप से अनुभव करने वाला अन्तरात्मा कहलाता है **अति निर्मलः परमात्मा**-सर्व कर्ममल से रहित जो अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है।

जिसकी शरीरादि पर पदार्थों में आत्मा की भ्रांति (मैं यही हूँ इस प्रकार) निरंतर उत्पन्न हो गयी है वह बहिरात्मा है। शरीर आदि पर पदार्थों में आत्म बुद्धि उत्पन्न हुयी है ऐसी बुद्धि भ्रांति से उत्पन्न हुयी है और निरंतर वही बुद्धि चलती चली आ रही है अनादिकाल से वह बहिरात्मा है। **चित्तदोषात्मविभ्रांति**-अंतरात्मा वह है जिसकी भ्रांति दूर होती है किन्तु चित्त में दोष फिर भी है। चित्त राग-द्वेष से दूषित है वह कहता है चित्त अलग है रागद्वेष अलग है किन्तु कर नहीं पाया। अंतरात्मा वह है जो कहता है-

''यह सब हैं पुद्गल के खेल।
इनसे नाहिं हमारो मेल॥
अथवा
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल''

ये अंतरात्मा का लक्षण हो गया। जो मानता है पुद्गलादि अलग हैं मेरी आत्मा अलग है। अब अनुभूति में डूब गया अनुभूति ही अनुभूति अकेली रह गयी अनु-पीछे भूति-विभूति आत्मा की सम्पत्ति वह अनुभूति स्व संवेदन ही आत्मा है वही परमात्मा है वही मेरा शुद्ध स्वभाव है वही मैं हूँ किन्तु अभी नहीं, अभी तो वहाँ तक पहुँच रहा हूँ यह कह सकता हूँ वह मेरा शुद्ध स्वरूप है। परमात्मा की परिभाषा कही **परमात्मा अति निर्मलः**-जो अति निर्मल है वह परमात्मा है। अभी हम अपने को परमात्मा नहीं कहेंगे परमात्मा तो वह है जो 18 दोषों से रहित है, चार घातिया कर्मों से रहित है। यदि हम स्वयं को परमात्मा कह देंगे, शुद्ध-सिद्ध-बुद्ध कह देंगे तो फिर पुरुषार्थ क्यों करेंगे। हमने कह दिया हमारा पेट भरा है तो भोजन क्यों करेंगे ? मैंने कह दिया कि मैं स्वस्थ हूँ तो मैं औषधि क्यों खाऊँगा।

पहले तो यह मानना पड़ेगा कि अनादिकाल से जीव कर्मों से बंधन बद्ध है। ये जीव कर्मों के बंधन को तोड़कर के सिद्ध शुद्ध होता है। ये सिद्ध शुद्ध है नहीं। यदि है तो फिर 'होना' शब्द

नहीं आयेगा। है तो है। यदि हमने स्वयं को ही कह दिया मैं भगवान् आत्मा हूँ तो फिर बनाने के लिये क्या बचा। महिला ने कह दिया आटा देकर के ये भोजन बना रखा है यदि आटा ही भोजन है तो खाकर बताओ। बनाना पड़ेगा ये तो अभी आटा है भोजन नहीं कह सकते। तो बनने के उपरांत उसकी पर्याय अलग आती है उसका नाम अलग आता है और पर्याय के साथ द्रव्य भी वैसा ही होता है। उस समय आटे में ही भोजन था किन्तु भोजन की पर्याय नहीं थी। किन्तु अभी आटे में आटे की पर्याय है। भोजन में भोजन की पर्याय आयेगी। अभी मिट्टी मिट्टी रूप है घट रूप नहीं। जब मिट्टी घट रूप हो जायेगी तो उसका आकार भी वैसा ही हो जायेगा। तो द्रव्य में भी परिणमन होता है। ऐसा नहीं है कि द्रव्य हमारा शुद्ध बना रहे पर्याय अशुद्ध बनी रहे ऐसा हमारे जैन दर्शन में नहीं लिखा।

बहिरात्मा-बहिरात्मा कौन है ? **शरीरादौ**-शरीर आदि। शरीर को आदि लेकर के जितने भी पर-पदार्थ संसार में विद्यमान हैं, चाहे वह शरीर के साथ रहने वाले अन्य संबंधीजन हों, चाहे शरीर जहाँ रहता है वह भवनादि हों, चाहे शरीर पर धारण करने वाले वस्त्रादि हों, चाहे शरीर का पोषण करने वाले पदार्थ भोजन सामग्री आदि हों या शरीर से उत्पन्न होने वाले पुत्र-पुत्रादि हों, या शरीर जिनसे उत्पन्न हुआ है वे माता-पितादि हों कोई भी पदार्थ है उन सभी में जो अपना ममत्व रखता है, एकत्व बुद्धि रखता है कि मैं यही हूँ ऐसी उसकी बुद्धि, ऐसी उसकी चेष्टा यह बहिरात्मा की चेष्टा है। क्योंकि वह आत्मा से बाहर आ गया। आपे के बाहर पहुँच गया।

प्राकृत भाषा में आत्मा को आपा-अप्पा कहते हैं। जो धर्मात्मा है, समझदार है, बुद्धिमान है वह आपे में रहता है अर्थात् अपनी मर्यादा में-सीमा में रहता है और जो आपे के बाहर चला गया तो आप कह देते हैं कि भैया ! ये तो मूर्ख है, इससे चर्चा मत करो इससे मौन लेकर आगे बढ़ना चाहिये। यदि सामने से सांड़ आ रहा हो तो बुद्धिमान व्यक्ति सींग पकड़कर उससे लड़ता नहीं है अपितु उधर से अपना रास्ता बदल लेता है। जो व्यक्ति अपने आपे में रहता है, धर्मात्मा व्यक्ति उससे ही चर्चा करता है, क्योंकि वह स्वयं आपे में रहता है। जो स्वयं अपनी मर्यादा में रहता है उससे हमारी भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता इसलिये धर्मात्मा सदैव धर्मात्मा से मित्रता करता है विधर्मी या पापी से नहीं।

यहाँ कह रहे हैं बहिरात्मा वह है जो आत्मा में भ्रान्ति उत्पन्न करता है जिसने मान लिया है कि शरीर ही मेरी आत्मा है इसलिये उनके नष्ट होने पर, टूटने पर, वियोग होने पर रोता है व दु:खी होता है यहाँ तक कि स्वयं भी मृत्यु तक को प्राप्त हो जाता है। **चित्तदोषात्म विभ्रान्ति**-किन्तु जो आत्मा के बाहर की वस्तुओं को तो आत्मा नहीं मानता, ये तो जानता है कि आत्मा अलग है अनात्मा अलग है, किन्तु फिर भी उसके चित्त में दोष जरूर लगता है और उस चित्त में दोष

होने से आत्मा को तो आत्मा मानता है, पर पदार्थों को पर पदार्थ मानता है किन्तु फिर भी वह पर पदार्थों को छोड़ नहीं पाता। आत्मा में लगे कर्मों को छोड़ नहीं पाता है। वे कर्म आत्मा से ऐसे संलिप्त हैं कि वह चाहता तो है किन्तु छोड़ नहीं पाता।

पिंजरे में बंद पक्षी जानता है कि पिंजरा मेरा स्वभाव नहीं है, मुझे इससे बाहर निकलना है किन्तु वह जाल में ऐसा फँसा हुआ है कि पिंजरे के बंधन को तोड़कर निकल नहीं पाता। ऐसा वह अन्तरात्मा है जिसने अंतर डाल दिया कि पिंजरा अलग है और मैं पक्षी अलग हूँ। पिंजरा पक्षी दोनों एक नहीं हैं। ऐसे ही अंतरात्मा जानता है शरीर अलग है आत्मा अलग है ये शरीर तो नोकर्म है, ज्ञानावरणादि कर्म भी आत्मा से अलग हैं, राग-द्वेषादि भावकर्म भी आत्मा से अलग हैं ये जानता हुआ भी वह रागद्वेषादि को नहीं छोड़ पाता, द्रव्य कर्मों से भी मुक्त नहीं हो पाता और शरीरादि से भी मुक्त नहीं हो पाता है इन सबसे सहित रहता है।

और भी अन्य पर पदार्थ हैं जिनसे उसका काम चलता है वे हैं भवन, दुकान, वाहन, नौकर चाकर आदि। इनके बीच रहता हुआ भी खुद को अकेला मानता है। ये मेरे नौकर हैं, ये मेरे वस्त्राभूषण हैं आदि सब कहता तो है। व्यवहार तो करता है किन्तु फिर जब आँख बंद करके देखता है तो कहता है भईया ! ये सब व्यवहार में ही मेरे हैं किन्तु वास्तव में मेरे नहीं हैं। वास्तव में तो मेरी आत्मा ही मेरी है। तो अन्तरात्मा कैसा है-चित्त में दोष होने से विभ्रान्ति से सहित है किन्तु उसकी भ्रान्ति मिथ्यादृष्टि जैसी नहीं है जो शरीरादि को आत्म स्वरूप मान ले। आगे कहा-

परमात्माऽति निर्मलः-कोई आपसे पूछे परमात्मा किसे कहते हैं तो यह छोटी सी सूक्ति 'परमात्मा अति निर्मलः' जो अत्यन्त निर्मल है वही परमात्मा है। जिन शासन में परमात्मा उसे माना है जिसकी आत्मा अत्यन्त निर्मल है। जिसकी आत्मा मल से युक्त है उसकी आत्मा को परमात्मा नहीं माना। भगवान् तो कह सकते हैं जैसे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने मुनिमहाराज को भी भगवान् कह दिया। मूलाचार में कहा-

भिक्कं वक्कं हिययं, सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुट्ठिद साहू, भणिओ जिण सासणे भयवं॥१००६॥

जो साधु नित्य ही आहार, वचन और हृदय से शोधन कर प्रवृत्ति करता है अर्थात् आहार शुद्ध, वचनशुद्ध, और हृदयशुद्ध जिसके होते हैं ऐसा साधु जिनेन्द्र भगवान् के शासन में भगवान् कहा है।

आचार्य भगवन् ने कहा-यदि पंचम काल का साधु ऐसी चर्या कर रहा है तो वह भगवान् है।

महानुभाव ! भगवान् तो कह सकते हैं किन्तु परमात्मा अभी नहीं कह सकते। पंच परमेष्ठी भगवान् की जय बोलते हैं, गुरु हम सिद्धों को भी कह सकते हैं और साधुओं को भी कह सकते हैं, पाँचों परमेष्ठियों को गुरु व भगवान् कह सकते हैं। एक व्यक्ति ने पूछा महाराज पंचपरमेष्ठी

तो पंचपरमेष्ठी होते हैं आप पंचपरमेष्ठी में भगवान् संबोधन लगाकर जय क्यों बोलते हैं ? तो हमने कहा भईया ! हमें उनमें भगवान् दिखते हैं इसलिये हम भगवान् बोलकर जयकार लगाते हैं तुम्हें नहीं दिखते तो इसमें हम कुछ नहीं कर सकते। ऐसे ही एक बार एक महिला ने पूछा-महाराज हमें सच्चे भावलिंगी मुनिराज के दर्शन कब होंगे ? तो हमने कहा-जब तुम्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जायेगी तब जितने साधु तुम्हें दिखेंगे सब भावलिंगी दिखेंगे। जब तक तुम्हारा मिथ्यात्व का उदय चल रहा है तब तक तुम्हें भगवान् में भी भगवान् नहीं दिखेंगे, साधु में साधुता नहीं दिखेगी। जब तुम्हारा मिथ्यात्व मल गलित होगा अनंतानुबंधी कषायें तुम्हारी मंद होंगी या उपशमित हो जायेंगी तब तुम्हें दिखने लगेगा कि हम जिसको सामान्य समझ रहे थे वही मंत्र तुम्हारे लिये महामंत्र हो जायेगा, वही पाषाण व धातु की मूर्तियाँ आपको साक्षात् भगवान् दिखायी देंगी, वही मंदिर की वेदी आपको समवशरण दिखाई देगी, वही दिगम्बर साधु आपको लगेंगे ये तो पंचम काल के तीर्थंकरवत् हैं उनकी वंदना करके हम कितने पुण्य का आश्रव कर सकते हैं।

महानुभाव ! यहाँ बता रहे हैं-'परमात्मा अति निर्मलः' जो अत्यन्त निर्मल है यहाँ अत्यन्त निर्मल का आशय द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित अवस्था है। यहाँ पर परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी को लिया। उपचार से यहाँ अरिहंत परमेष्ठी को भी ले सकते हैं क्योंकि उन्होंने भी चार घातिया कर्मों को समूल नष्ट कर दिया है। ऐसा नष्ट कर दिया है जो नष्ट किये हुये कर्म पुनः आत्मा से कभी संलिप्त नहीं होंगे। हम भी प्रतिक्षण कर्मों का उपशम-क्षयोपशम करते रहते हैं हम भी प्रतिक्षण कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं किन्तु माना हम निर्जरा ज्ञानावरण या दर्शनावरण की कर रहे हैं सब कर्मों के निषेक निर्जीण तो हो रहे हैं किन्तु जिसकी निर्जरा कर रहे हैं वह कर्म फिर भी सत्ता में बैठा हैं हमने उसका खजाना खाली नहीं किया और हम उसका आश्रव ही करते चले जा रहे हैं इसलिये जो कर्म निर्जीण कर रहा है उसका आश्रव भी कर रहा है उसे परमात्मा नहीं कह सकते। फिर आप कहेंगे महाराज आपने उन्हें भगवान् कहा था ? तो भगवान् और परमात्मा में थोड़ा सा अंतर है।

भगवान् आत्मा वो कहलाता है-भग् अर्थात् ज्ञान ज्ञानवान् आत्मा। भग शब्द का अर्थ ज्ञान के अर्थ में भी आता है, ऐश्वर्य आदि के अर्थ में भी आता है, तो जो आत्मा के ऐश्वर्य को जानने वाला है, आत्मा के ज्ञान से सहित है ऐसे परमेष्ठी को भगवान् कह सकते हैं और यद्यपि भगवन् शब्द 'परमात्मा' के लिये भी आता है, भगवान् शब्द परमेष्ठी के लिये भी आता है ये सब आगे देखेंगे।

यहाँ पर देखा कि मिथ्यादृष्टि कौन है ? तो छोटी सी सूक्ति याद कर लो-''बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः''। वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है जिसकी देहादि पर पदार्थों में आत्मबुद्धि हो

गयी है। अन्तरात्मा कौन है-''चित्तदोषात्म विभ्रान्ति'' जिसको चित्त के दोषों के प्रति विरक्ति हुयी है शरीरादि को अपना नहीं मान रहा किन्तु रागद्वेषादि को अपना मान रहा है। परमात्मा कौन है ? 'परमात्माति निर्मलः' जिस यति की आत्मा निर्मल हो वह परमात्मा है।

गूढ-सिक्खा हु रज्जस्स, तहा सव्व-हिदंकरी।
पयं सुपालिदुं सक्का, रायणीदी विजाणदु॥१८॥

अर्थ-निश्चय से सबका हित करने वाली तथा प्रजा का पालन करने में समर्थ राज्य की गूढ़ शिक्षा राजनीति जाननी चाहिए।

-रट्ठ-संति-महाजण्णो
(राष्ट्र शांति महायज्ञ)
आचार्य श्री वसुनंदी मुनि

७. परमात्मा के पर्यायवाची नाम

अगली कारिका देखते हैं-

इसमें आत्मा के पर्यायवाची नाम बता रहे हैं-

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः॥६॥

अन्वयार्थ-निर्मलः-निर्मल-कर्मरूपी मल से रहित **केवलः**-केवलशरीरादि पर द्रव्य के सम्बन्ध से रहित **शुद्धः**-शुद्ध-द्रव्य और भावकर्म से रहित होकर परमविशुद्धि को प्राप्त **विविक्तः**-विविक्त शरीर और कर्मादि के स्पर्श से रहित **प्रभुः**-प्रभु-इन्द्रादिकों का स्वामी **अव्ययः**-अपने अनन्त चतुष्टयरूप स्वभाव से च्युत न होने वाला **परमेष्ठी**-परमपद में स्थिर **परात्मा**-परमात्मा- संसारी जीवों से उत्कृष्ट आत्मा **ईश्वरः**-ईश्वर-अन्य जीवों में असम्भव ऐसी विभूति का धारक और **जिनः**-जिन-ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्म शत्रुओं को जीतने वाला **इति परमात्मा**-ये परमात्मा के नाम हैं।

आत्मा के पर्यायवाची नाम यहाँ कह रहे हैं-

पहला नाम निर्मलः-**निर्गताः रागद्वेषादि भावकर्म-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म शरीरादि च नोकर्म रूपमलाः यस्मिन् स एव आत्मा निर्मलः, स एव परमात्मा अरिहंतः सिद्धो वा**-जिस आत्मा में से राग द्वेषादि भावकर्म ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म तथा शरीरादि नोकर्म रूप मल निकल गये हैं वही आत्मा निर्मल कहलाती है वही परमात्मा है अरिहन्त है अथवा सिद्ध है।

निर्मल अर्थात् मल रहित। कर्म ही सबसे बड़ा मल है आत्मा के लिये। अन्य जो पौद्गलिक पदार्थ हैं उन्हें अलग-अलग प्रकार से किसी को मल किसी को अच्छा कहते हैं। जिसे मल कहते हैं उसे आप ग्रहण करना नहीं चाहते। मल का त्याग किया जाता है मल का त्याग करने के उपरांत उसका जल से प्रक्षालन भी किया जाता है तो जिसे आपने मल समझ लिया है उसे ग्रहण करना नहीं चाहते। आपके उदर में विद्यमान मल जब अधिक होता है तब आप उसका परित्याग कर देते हो छोड़कर आने पर पुनः उससे ईहा नहीं होती। जब तक उसे मल नहीं समझ रहे हो तब तक उसे ग्रहण करते जाओगे चाहे खाद्य सामग्री हो या अन्य। तो जिसको मल समझ लिया है वह त्यागने के योग्य है। हमने अभी तक अपने पुण्य-पाप आदि कर्मों को, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नो कर्म आदि को मल नहीं समझा। यदि मल समझ लिया होता तो उसे छोड़ देते।

जब भी मल का वेग आता है तो हम उसे दूर करने जाते हैं चाहे लघुशंका, दीर्घशंका हो, चाहे खांसी हो कहीं भी हो उस मल को दूर करने की चेष्टा करते हैं क्योंकि वह मल विशुद्धि

का कारण नहीं है। मल अशुद्धि का कारण है। मल को तो दूर किया जाता है जिसने अपने सभी मलों को दूर कर दिया वह निर्मल अर्थात् परमात्मा हो गया। यह निर्मल शब्द परमात्मा का पर्यायवाची नाम है। दूसरा कहा-

केवलः-केवल शब्द का अर्थ सिर्फ केवल होता है किन्तु यहाँ रूढ़ि अर्थ में केवल शब्द का अर्थ होता है केवल ज्ञान केवल दर्शन से सहित। जो केवली बन गये हैं केवली अर्थात् जो पांचवाँ ज्ञान है उससे सहित हैं। वह ज्ञान अरिहन्तों के पास है व सिद्धों के पास है। वह चौथे नंबर का दर्शन केवल दर्शन भी इन्हीं दोनों के पास है अतः वे ही परमात्मा हैं

यहाँ 'केवल' संज्ञा मात्र है। केवल से आशय सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान नहीं ज्ञान के अलावा आत्मा में और भी गुण हैं, केवल दर्शन मात्र दर्शन नहीं यह उसकी संज्ञा है परन्तु आशय अनंत दर्शन होता है। उससे सहित वे केवली परमात्मा हैं। आगे-

शुद्धः-शुद्ध किसे कहते हैं ?

यः सर्वदोषेन रहितः स शुद्धः, सर्वमलेन रहितः सः शुद्धः जो सर्व दोषों से मलों से रहित है वह शुद्ध है। दोष-मल चाहे कैसे भी हों सम्यक्त्व के मल हों शंकादि दोष उनसे रहित है, सम्यग्ज्ञान के मल हों संशय-विभ्रम-अनध्यवसाय आदि से रहित है। चारित्र के दोष अतिचार-अनाचारादि से रहित है। अथवा आत्मा में जो रागद्वेषादि विकारी भाव हैं जो उन विकारी भावों से रहित है वह शुद्ध है। जिसमें एक भी विकारी पर्याय आ रही है उसे हम पूर्ण शुद्ध नहीं कह सकते। जिसकी आत्मा में एक भी विकारी परिणमन चल रहा है उसे हम शुद्ध नहीं कह सकते। जैसे कोई व्यक्ति कहे-आप कौन हो ? हम मनुष्यात्मा हैं क्योंकि आत्मा अभी मनुष्य के शरीर में है और यदि आप कहो आप तो शुद्ध हो, तो नहीं, अभी हम शुद्ध नहीं हैं हम अभी अशुद्ध हैं। शुद्ध तो सिद्ध परमेष्ठी हैं और अर्द्ध शुद्ध अरिहंत परमेष्ठी हैं किन्तु हम अभी अशुद्ध हैं। अपन अभी स्वयं को शुद्ध नहीं कह सकते क्योंकि बोलना व्यवहार की भाषा में होता है, व्यवहार में हम बोलेंगे तो व्यवहार में हम शुद्ध हैं ही नहीं यदि व्यवहार में शुद्ध हो जायेंगे तो हमें भी सिद्ध जैसा हो जाना चाहिये, सिद्ध जैसे रहते हैं वैसा रहना चाहिये। हम तो संसार की सब क्रिया कर रहे हैं तो स्वयं को शुद्ध कैसे कह सकते हैं।

और निश्चय में हम जानते हैं कि हम कर्मों से सहित हैं तब भी शुद्ध नहीं हैं व्यवहार से भी अशुद्ध हैं और निश्चय से भी अशुद्ध हैं। शुद्ध निश्चय में तो शब्द ही नहीं है वह बोलने में नहीं आता वह तो एक अनुभव की बात है कि हम जानते हैं कि हमारी आत्मा भी परमात्मा बन सकती है। ये तो जब हम आत्मा में लीन होते हैं, योगी आत्मा में लीन होता है तब कहता है मेरी आत्मा भी परमात्मा जैसी हो सकती है। आज इतनी गंदगी दूर हुई तो आज इतना आनंद आया

परमात्मा के एक अंश का। आगे पूरा आनंद आ सकता है किन्तु अभी हम स्वयं को शुद्ध नहीं कह सकते।

दूध को दूध कहो घी मत कहो। दूध में घी है ये बात ठीक है किन्तु दूध घी नहीं है। आप में शुद्ध होने की शक्ति है ये बात ठीक है किन्तु आप अभी शुद्ध नहीं हैं। यदि आप शुद्ध होते तो शुद्ध शब्द जो पर्यायवाची है उसे अन्तरात्मा के लिये लगा लेते या परमात्मा के पर्यायवाची शब्दों में शुद्ध शब्द का प्रयोग आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी नहीं करते। यदि हम अपने लिये शुद्ध शब्द का प्रयोग करेंगे तो आचार्य पूज्यपाद स्वामी के शब्दों का उल्लंघन कर देंगे हम स्वयं को परमात्मा कहने लगेंगे। आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी अभी आपको परमात्मा नहीं कहना चाह रहे, वे तो परमात्मा को ही शुद्ध कहना चाह रहे हैं।

विविक्तः-एकत्व दशा से युक्त। सिर्फ आत्मा ही आत्मा उसके साथ है अन्य कोई भी उसके साथ नहीं है। विविक्त एकांत कहलाता है।

एकः अन्तः-आत्मा का जो स्वभाव है वह अन्तः अर्थात् धर्म है उसको प्राप्त कर लिया एक आत्मा ने। एकल स्वभाव को पूर्ण रूप से एक आत्मा में प्राप्त कर लिया ऐसा विविक्तात्मा सिद्ध परमेष्ठी का पर्यायवाची नाम है।

प्रभुः-प्रभु माने सामर्थ्यवान्, ऐश्वर्यवान्, शक्तिवान्, सत्तावान्। जो असमर्थ है वह प्रभु नहीं है। सम्पूर्ण सामर्थ्य तो भगवान् के पास ही है यदि हम ही अपने को सम्पूर्ण सामर्थ्य वाला मान लेंगे तो हममें और भगवान् में क्या अंतर रहेगा। किन्तु हम सम्पूर्ण सामर्थ्यवाले बन सकते हैं। एक रोगी व्यक्ति निरोगी हो सकता है किन्तु उसे अभी निरोगी नहीं मान सकते। वह निरोगी होने का प्रयास करे। यदि रोगी को अभी से निरोगी कहना प्रारंभ कर देंगे तो वह क्यों औषधि का सेवन करेगा। फिर तो विभ्रान्ति हो जायेगी, रोगी-निरोगी दोनों एक हो जायेंगे। तो ऐसा है नहीं। इससे तो जैन दर्शन का अपलाप हो जायेगा। इसलिये प्रभु कौन है ? जिसके पास आत्मा की सर्व शक्तियाँ हैं, जो आत्मा की सम्पूर्ण सामर्थ्य से युक्त है। ऐसा प्रभु शक्तिवान् आत्मा के गुण-धर्मादि से सहित है।

अव्ययः-व्याकरण में अव्यय होते हैं जिनमें कभी बदलाव नहीं होते। व्यय से रहित। सिद्ध परमेष्ठी व्यय से रहित अव्यय हैं। उनमें अब कोई बदलाव नहीं होगा। अरिहंतों में तो बदलाव होगा वे अरिहंत से सिद्ध बनेंगे किन्तु सिद्धों में नहीं होगा। सिद्धों में न कुछ घटना है न बढ़ना है। पर्यायें होती हैं, पर्यायों का उत्पाद भी होता है व्यय भी होता है किन्तु उनकी आत्मा की अब व्यंजन पर्याय व्यय को प्राप्त नहीं होगी अब वे उसी रूप में होती रहेंगी अन्य में बदलेगी नहीं। जैसे नर नारकादि पर्यायें पहले संसारी अवस्था में थी, वे नष्ट हो रही थीं उत्पन्न हो रही थीं, गुणों की

पर्यायें पहले मतिश्रुतावधि रूप में थीं अब वे नष्ट होकर केवलज्ञान रूप हो गयी। उसी ज्ञान की पर्याय केवलज्ञान रूप होगी, दर्शन की पर्याय केवल दर्शन रूप रहेगी, मोहनीय की पर्याय अनंत सुखरूप रहेगी, ये पर्याय हैं अन्य संसार वाली पर्याय नहीं रहेंगी उन परमात्मा के पास। वह परमात्मा कैसा है ? अव्यय, अच्युत है। वही आत्मा के प्रदेश आत्मा में रहेंगे। एक परमाणु मात्र भी वे ग्रहण नहीं करेंगे। और अन्य आकाश काल आदि द्रव्य हैं इनका भी वे संस्पर्श नहीं करेंगे। उनकी आत्मा आत्मा में रहेगी और जब हम या कोई भी आत्मा अपनी आत्मा के अलावा अन्य किसी द्रव्य का संस्पर्श भी न करेंगे तो च्युत नहीं हो सकता। च्युत वही होता है जो दूसरे का ग्रहण करता है उसकी निगाह नीची होती है वह नीचे गिरता है। यदि दूसरे का ग्रहण नहीं करता है तो वह शान से ऊपर बैठकर जीता है उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता उस जैसा व्यक्ति ही उसकी बराबरी कर सकता है उससे ऊँचा तो कोई जा ही नहीं सकता। किन्तु नीचे न वह गिर सकता है और न गिरा सकता है। आगे कहा-

परमेष्ठी-जो परम श्रेष्ठपद में विराजे हुये हैं वे परमेष्ठी हैं। सिद्ध पर्याय का पर्यायवाची नाम परमेष्ठी भी है।

परात्मा-'परा'-उत्कृष्ट, आत्मा। जिनकी आत्मा उत्कृष्ट, चरम व परम दशा को प्राप्त हो गयी है उसके आगे कोई रास्ता ही नहीं है, उनकी यात्रा पूर्ण हो चुकी। निगोद से निकलकर सिद्धालय तक पहुँच गये।

ऐसे परमात्मा उत्कृष्ट आत्मा। यह भी सिद्धों का पर्यायवाची नाम है। इस प्रकार से परमात्मा, ईश्वर व जिन शब्द भी पर्यायवाची नाम हैं। परमात्मा अर्थात् उत्कृष्टात्मा। ईश्वर-जो अनंत गुणों का भोक्ता है। ईशत्वपने में प्रभुपने में अनंत आनंद भोगने में जिसे कभी भी कोई भी कमी नहीं आती वह ईश्वर है। जिन-जिसने सब कुछ जीत लिया है जिसको जीतने के लिये अब कुछ भी नहीं बचा और जिसे कभी कोई जीत नहीं सकता वह जिन है। इस तरह ये सभी परमात्मा के पर्यायवाची नाम हैं।

८. भ्रमित है बहिरात्मा

बहिरात्मेन्द्रिय-द्वारैरात्मज्ञान-पराङ्मुखः।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्य वस्यति॥७॥

अन्वयार्थ-यतः-चूँकि **बहिरात्मा**-बहिरात्मा **इन्द्रिय-द्वारैः**-इन्द्रिय द्वारों से **स्फुरितः**-बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में प्रवृत्त हुआ **आत्मज्ञानपराङ्मुखः**-आत्मज्ञान से पराङ्मुख **भवति, ततः**-होता है इसलिये **स्वात्मनः देह**-अपने शरीर को **आत्मत्त्वेन अध्यवस्यति**-आत्मरूप से निश्चय करता है-अपना आत्मा समझता है ?

यह जीव इन्द्रिय द्वारों के द्वारा आत्मा के बाहर जाता है, बाहरी वस्तुओं को ग्रहण कर लेता है बहिरात्मा हो जाता है।

वह देह में ही आत्मा समझता है इन्द्रियद्वार के द्वारा वह बाहर आता है पुनः देह को ही आत्मा समझ लेता है और वह आत्मज्ञान से पराङ्मुख हो जाता है। आत्मा जो अंदर है वहाँ तो उसका ज्ञान जाता नहीं इन्द्रियाँ बाहर की ओर खुलती हैं वह बाहर की वस्तुओं को देखता है और कहा है जिसमें इन्द्रिय हैं वही शरीर मैं हूँ। इसलिये शरीर के मरण को आत्मा का मरण समझता है। शरीर को बचाने की चेष्टा करता है। आत्मा के जन्म-मरण को शरीर का जन्म-मरण मानता है उसी में वृद्धि ह्रास समृद्धि मानता है इसलिये यहाँ कह रहे हैं वह बहिरात्मा इन्द्रिय द्वारों द्वारा आत्मा को नहीं जान पाता उससे पराङ्मुख होता है उसकी दृष्टि बहिर्भूत होती है।

बहिरात्मा-इस शब्द का अर्थ बड़े अच्छे से समझ लिया, बहिरात्मा वह है जो आत्मा को छोड़कर अन्य किसी के भी साथ एकीभाव करता है। अब यहाँ बता रहे हैं-**इन्द्रिय द्वारै**-अपनी इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का ज्ञान करता है। चक्षु से देखता है, कर्ण से सुनता है, स्पर्शनइन्द्रिय से स्पर्श करके ज्ञान करता है, रसना इन्द्रिय से उसे स्वाद का भान होता है, घ्राण इन्द्रिय से गंध के बारे में। एक अनीन्द्रिय है मन, मन के माध्यम से भी जानता है। इन्द्रिय के अलावा जो अनीन्द्रिय से ज्ञान होता है, वह मन से ज्ञान होता है। मन के अलावा अतीन्द्रिय ज्ञान होता है जो इन्द्रियों से परे होता है। उस आत्म ज्ञान को बहिरात्मा नहीं जान पाता।

जैसे किसी व्यक्ति से पूछो-क्या आप उस अमुक व्यक्ति को जानते हो? उसने कहा हाँ एक बार मैंने उसे देखा है। क्या इस पदार्थ की गंध जानते हो ? हाँ मैंने एक बार इसे सूंघा है, यह पदार्थ कैसा है ? मीठा है मैंने प्रत्यक्ष अपनी रसनाइन्द्रिय से चखा है, यह पदार्थ कैसा है ? हल्का-भारी, ठंडा-गर्म, आदि कैसा है? अमुक प्रकार का है। तुम कैसे जानते हो मैंने अपने स्पर्शन से जाना है। वह अपनी इन्द्रियों के माध्यम से ही जानता है। कई पदार्थ ऐसे भी हैं जो अनीन्द्रिय से जाने जाते

हैं-मन के माध्यम से जाने जाते हैं। मन के माध्यम से कैसे जाने जाते हैं? आपने पहले किसी पदार्थ को देखा है या उसके बारे में सुना है या उसके बारे में कोई अनुभव प्राप्त किया है किन्तु आज वे पदार्थ सामने नहीं हैं, आप आँख बंद करके बैठे हो उसका चिंतवन कर रहे हो, उसे जो जान रहे हो वह मन से जान रहे हो। मन यद्यपि अनीन्द्रिय कहलाता है फिर भी इन्द्रियवत् ही है।

इन्द्रिय इसलिये है क्योंकि यह भी आत्मा से पृथक् है। अनीन्द्रिय इसलिये कहते हैं क्योंकि इन्द्रिय की तरह से बाहर में प्रकट रूप से दिखाई नहीं देता। यह अंदर है। मन का भी एक स्थान है जहाँ से क्षयोपशम जाग्रत होता है। हमारे आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में देखने की शक्ति है, आत्मा के प्रदेश पूरे शरीर में चलायमान हैं। पूरे शरीर में चलायमान आत्मा के प्रदेशों में यह क्षयोपशम है कि हम देख सकें किन्तु हम देखेंगे आँखों के माध्यम से। आँख बंद कर लेंगे तो देख नहीं पायेंगे। हमारी आत्मा में यह क्षयोपशम है कि हम सुन सकें किन्तु सुनने का जो स्थान है वह कर्ण है यदि उसमें कुछ खराबी आ जाये बाहरी उपकरणों में तो हम सुन नहीं पायेंगे। हमारे पूरे शरीर में जो आत्मा विद्यमान है प्रत्येक आत्मा के प्रदेश में स्वाद लेने की सामर्थ्य है किन्तु स्वाद लेने का स्थान रसना है वहाँ से ले पायेंगे यदि वहाँ खराबी आ गयी तो स्वाद नहीं ले पायेंगे। ऐसे ही गंध के बारे में, स्पर्श के बारे में है।

महानुभाव ! जो प्रत्यक्ष ज्ञानी होते हैं उन्हें इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती। चाहे अवधि ज्ञानी हों, चाहे मन:पर्ययज्ञानी हों, चाहे केवलज्ञानी हों। वे आत्मा के माध्यम से प्रत्यक्ष जानते हैं। प्रत्यक्ष का अर्थ होता है प्रतिअक्ष अक्ष अर्थात् आत्मा आत्मा के प्रति जिनका ज्ञान प्रकट होता है अर्थात् आत्मा के माध्यम से जिनका ज्ञान प्रकट होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। एक होता है परोक्षज्ञान पर माने दूसरा, अक्ष अर्थात् आत्मा। आत्मा के अलावा जो अन्य चीज है उसके माध्यम से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान है। परोक्ष ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होता है अनीन्द्रिय के माध्यम से होता है, वस्तु को देखकर के होता है, सुनकर के होता है आदि-आदि तो परोक्ष ज्ञान आत्मा के अतिरिक्त अन्य पर साधनों से ही होता है। इसमें आत्मा के अलावा अन्य की भी आवश्यकता है। आत्मा में तो क्षयोपशम है ही यदि आत्मा में क्षयोपशम नहीं होता तो इन्द्रिय आदि के माध्यम से भी जानने-देखने में समर्थ नहीं होते। चक्रवर्ती का क्षयोपशम है कि अयोध्या में बैठे हुये सूर्य के विमान में स्थित जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन कर लेता है उसकी नेत्र इन्द्रिय का क्षयोपशम इतना बड़ा है, अपना कम है, नहीं कर सकते। जो आँख से देख सकता है तो तभी देख सकता है जब आँख खुली हो। चक्रवर्ती के कान का क्षयोपशम इतना होता है कि 12 योजन की दूरी तक का सुन सके। अपना इतना क्षयोपशम नहीं है अपना बहुत कम है इतना है कि हम पास की बात को सुन लेते हैं किन्तु कान खुले हों तब।

महानुभाव ! यहाँ बता रहे हैं कि बहिरात्मा सिर्फ इन्द्रिय ज्ञान को जानता है। उसे अतीन्द्रिय ज्ञान के बारे में तो ज्ञान ही नहीं है कि इन्द्रिय के अलावा भी कोई ज्ञान होता है। सिर्फ इन्द्रिय ज्ञान को जानता है क्योंकि वह इन्द्रियों को ही जानता है। इन्द्रियों से निर्मित जो शरीर है इस शरीर को ही आत्मा मानता है। उसे यह श्रद्धान में नहीं है कि आत्मा नाम की चीज शरीर से कुछ अलग भी है। वह शब्द ज्ञान में तो है कि आत्मा अलग है शरीर अलग है और जब व्यक्ति मरण को प्राप्त होता है तो देखो शरीर पड़ा रह जाता है आत्मा निकल जाती है यह सब कह देता है। किन्तु सत्यता यह है उसके श्रद्धान में यह चीज नहीं आती उसकी प्रवृत्ति और प्रकृति में ये चीज नहीं आती। वह शरीर का पोषण करता है छहढाला में लिखा-

मैं सुखी-दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुततिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रगट जे दुःख देन तिनहीं को सेवत गिनत चेन॥

उसे जीव अजीव-तत्त्व की उल्टी धारणा रहती है। जीव का स्वभाव क्या है उसे जान नहीं पाता है। वह शरीर के स्वभाव को जीव मानता है और जीव आत्मा नाम की कोई चीज है जो उसके पकड़ में नहीं आती। वह खूब कोशिश करता है, ऐसा नहीं कोशिश नहीं करता, खूब करता है किन्तु उसके पकड़ में नहीं आती। जैसे कैमरे के द्वारा व्यक्ति की हड्डियों का एक्सरा नहीं किया जा सकता, वह एक्सरे मशीन से ही होता है और एक्स-रे मशीन के द्वारा व्यक्ति के वस्त्रों का रंग नहीं आता कि वह कैसे रंग के कपड़े पहने हुये है तो ऐसे ही दोनों के विषय अलग-अलग हैं।

बहिरात्मा व्यक्ति कोशिश भी करे तो उसकी पकड़ में आत्मा नहीं आती उसकी पकड़ में शरीर ही आता है और अंतरात्मा व्यक्ति जानता है कि शरीर क्या है आत्मा क्या है। परमात्मा की पकड़ में सिर्फ आत्मा ही आत्मा आती है उसकी पकड़ में आत्मा के अलावा कुछ और नहीं आता। आत्मा ही मेरी है, स्वचतुष्टय ही मेरा है।

इस प्रकार से यहाँ बता रहे हैं 'बहिरात्मेन्द्रिय द्वारै'-बहिरात्मा जो है वह इन्द्रिय द्वार के माध्यम से जानता है उसी से अनात्म का ज्ञान तो होता है किन्तु आत्मज्ञान से पराङ्मुख होता है। इन्द्रियों में उसकी प्रवृत्ति होती है, इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता है उस समय आत्मज्ञान से विमुख-विपरीत हो जाता है। उसका ध्यान रहता है कि शरीर के द्वारा क्या-क्या भोगा जा सकता है, शरीर किस-किस पुद्गल का कैसे आनंद ले सकता है वह बहिरात्मा पुद्गलानंद रहता है। आत्मा में भी आनंद नाम की कोई चीज है इस बात का उसे श्रद्धान भी नहीं है। शरीर के संपोषण में लगा है वह आत्मा को जानता ही नहीं जब जानता ही नहीं तो आत्मा के बारे में वह

हित-अहित कैसे कर सकता है। अहित अपने आप हो जाता है, जब वह शरीर का हित करता है तो आत्मा का अहित अपने आप हो जाता है और जब आत्मा का हित होता तो शरीर का हित नहीं हो पाता शरीर का अहित हो जाता है। जैसा आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने इष्टोपदेश में लिखा

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं॥१९॥

जो जीव का उपकार करता है उसकी देह का अपकार होता है वह देह का उपकार नहीं कर सकता और जो देह की सेवा-उपकार करने में लगा है तो जीव का उपकार नहीं कर पाता उसका अपकार हो जाता है। यहाँ कह रहे हैं बहिरात्मा वह है जो इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का सेवन करता रहता है, आत्मा के बारे में जानता नहीं है, आत्मा का श्रद्धान करता नहीं, आत्मा को मानता नहीं, शरीर को ही आत्मा मान लेता है, शरीर की वृद्धि को आत्मा की वृद्धि, शरीर के ह्रास को आत्मा का ह्रास मानता है। शरीर की मृत्यु को आत्मा की मृत्यु मानता है। शरीर के जन्म को आत्मा का जन्म मानता है। वह बहिरात्मा इस प्रकार का होता है क्योंकि उसे आत्मा का कुछ भान ही नहीं है। यद्यपि प्रत्यक्ष में जानते हुये भी वह श्रद्धान नहीं कर पाता क्योंकि आत्मा उसे प्रत्यक्ष देखने में नहीं आती। यदि देखने में आ जाये तो मान ले। उसे प्रत्यक्ष देखने में सिर्फ पुद्गल और पुद्गल आता है इसीलिए वह पुद्गल पर विश्वास करता है। वह कहता है मैं कल्पनाओं की बात नहीं मानता मैं प्रत्यक्ष की बात मानता हूँ वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष को जिसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं उसे ही प्रमाणिक मानता है। उसके जीवन में जो परोक्षज्ञान, प्रमाणिक ज्ञान है मति श्रुत उसे सम्यक् रूप से नहीं मानता और अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान इस नाम की भी कोई चीज है इसे भी नहीं मानता। परमात्मा भी कुछ है इसे नहीं मानता। उसकी धारणा है कि आत्मा पुण्यादि कार्य करके बैकुण्ठ में पहुँच जायेगी, वहाँ कोई राजा-सम्राट जैसा पद होगा वहाँ अकेली आत्मा नहीं बैठेगी वहाँ शरीर सहित आत्मा बैठेगी। मैं सभी प्रकार के सुख भोगूँगा ऐसी उसकी कल्पना होती है।

मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं मानता कि शरीर नष्ट होगा, आत्मा-आत्मा रह जायेगी। वह शाश्वत मोक्ष को समझता ही नहीं। जितनी उसकी जानने की, समझने की क्षमता है उतना ही तो मान पायेगा उसका पैमाना ही इतना बड़ा है। जिस व्यक्ति को 20 से अधिक गिनती नहीं आती उसके पास यदि 20-20 के पाँच नोट रख दिये जायें तो ये नहीं कहेगा सौ रुपये हैं वह कहेगा पाँच बीसी हैं। जिसका पैमाना ही बीस तक है वह 21 तक कैसे बढ़ेगा। ऐसे ही जिस मिथ्यादृष्टि का पैमाना इन्द्रिय तक है वह मात्र शरीर को जानता है आत्मा को जानता ही नहीं। जब आत्मा को जानता ही नहीं तो मानेगा कैसे।

बिना जाने कोई व्यक्ति श्रद्धान कर ही नहीं सकता। शब्द मात्र प्रतीक हैं किन्तु वास्तव में वो नहीं है। शब्द ज्ञान मिथ्यादृष्टि को भी हो सकता है शब्द ज्ञान सम्यक्दृष्टि को भी होता है किन्तु अर्थ ज्ञान होने पर मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाता है। किसी ने प्रत्यक्ष देखा कि दीक्षा ली और साधना की जिससे कर्मों को नष्ट करके अरिहंत और सिद्ध बन गये, वह प्रत्यक्ष देख रहा है क्या आनंद आ रहा है सम्यग्दृष्टि श्रावक को पूजा करने का, अभी तो मात्र शास्त्रों में पढ़ा था कि पूजा करना चाहिये व्रत-उपवास करना चाहिये इतना पढ-पढ़ कर उसे आनंद नहीं आता किन्तु भादों के महिने में व्रत उपवास करने वालों को देखा अरे मैं भी तो करके देखूँ। अभी वह पूजा करने वालों को देखकर आनंदित हो रहा है अभी स्वयं ने नहीं की, तो वह श्रद्धान हुआ।

देव-शास्त्र-गुरु इनके द्वारा कहा हुआ जो कथन है उसे जाना ये शब्द ज्ञान हुआ, फिर इन तीनों को जाना। इन्होंने जो कथन किया है धर्म का, देव का, शास्त्र का, गुरु का कथन इन्हें पहले शब्दों से जाना पुनः प्रत्यक्ष में जाना ये कैसे हैं। फिर उसने जाना इन्होंने किस प्रकार अपनी आत्मा को शुद्ध बनाया। निर्ग्रंथ गुरु किस प्रकार अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने के मार्ग पर चल रहे हैं और जिनवाणी में जिनेन्द्र भगवान् की वाणी लिखी हुयी है इस बात पर वह श्रद्धान करता है कि यही सम्यक् है, और सब तो मिथ्या है जब उसे यह श्रद्धान हो जाता है अंदर में, तब सम्यग्दर्शन हो गया। यह सब हुआ अर्थज्ञान से।

श्रद्धान का आनंद परोक्ष आनंद है और सेवन करने का आनंद प्रत्यक्ष आनंद है और स्वात्मानुभूति-स्वसंवेदन-आत्मा प्रतीति वह प्रत्यक्ष ही होती है। परोक्ष में जो आनंद आया है वह आनंद इस बात का आनंद है कि हमें वह श्रद्धा पक्की हो गयी। अब इसमें शंका नहीं है किन्तु अभी इसकी अनुभूति नहीं हुयी।

यहाँ बता रहे हैं-'बहिरात्मा इन्द्रियद्वारै''-बहिरात्मा केवल इन्द्रियों के माध्यम से ही वस्तु का ज्ञान कर सकता है, प्रत्यक्ष ज्ञान को भी स्वीकार नहीं करता। बहिरात्मा आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता, वह शरीर को ही आत्मा मानता है। यदि आत्मा-शरीर को पृथक-पृथक मान ले तो फिर तो अन्तरात्मा ही हो जायेगा। तो बहिरात्मा आत्मा तो कहता है किन्तु शरीर को ही आत्मा कहता है, और कहने को ये भी कह दे कि आत्मा अलग है-शरीर अलग है तब भी कहने से कोई सम्यग्दृष्टि नहीं होता, सम्यग्दृष्टि तो मानने से होता है।

लड्डू-लड्डू बोलते जीभ न चखे मिठास,
पानी-पानी बोलते किसकी बुझती प्यास।
जीवन सारा खो दिया ग्रंथ पठंत-पठंत,
तोता-मैना की तरह नाम रटंत-रटत॥

यहाँ कह रहे हैं शब्द ज्ञान पर ज्यादा जोर मत दो। जोर देना है तो अर्थज्ञान और भावज्ञान पर दो। एक व्यक्ति अक्षर ज्ञान से रहित है फिर भी वह सम्यग्दृष्टि है, वह भी भावज्ञान से सहित है, केवलज्ञानी हो सकता है। शिवभूति महाराज के बारे में सुना होगा कि 12 वर्ष में भी णमोकार मंत्र याद नहीं हुआ किन्तु केवली बन गये। ऐसा भी हो सकता है। भले ही उनके पास शब्द श्रुत ज्ञान नहीं था, द्रव्यश्रुत नहीं था किन्तु भावश्रुत उनके पास था और भावश्रुत हमारी आत्मा का स्वभाव है। वह चैतन्यज्ञान है वह चैतन्य ज्ञान ही हमारा ज्ञान है, बाहर के ज्ञान के शब्द हम कितने ही ढेर लगा लें उसका नियामक संबंध नहीं है। ध्यान रखना है द्रव्य श्रुत का भाव श्रुत से नियामक संबंध नहीं है और भावश्रुत है तो द्रव्य श्रुत की आवश्यकता नहीं है। द्रव्य श्रुत तो सीढ़ियों की तरह से है भावश्रुत को प्राप्त करने के लिये। शब्द ज्ञान तो अर्थज्ञान को प्राप्त करने के लिये माध्यम है किन्तु जिसे अर्थज्ञान प्राप्त हो रहा है और भाव ज्ञान में पहुँच रहा है तो फिर उसे शब्दों की गिनती की आवश्यकता नहीं।

यहाँ पर पहली पंक्ति का अर्थ हुआ। बहिरात्मा जो इन्द्रियों के माध्यम से ही पदार्थों का ज्ञान करता है। वह बहिरात्मा आत्मा के ज्ञान से पराङ्मुख है। वह आत्म तत्त्व को नहीं समझता। अपने आत्मा के तत्त्व को देह से अलग नहीं समझता, वह देह को ही आत्मस्वरूप मानता है। इसलिये देह के पोषण में मन से-वचन से-काय से लग जाता है। बस यही मैं हूँ।

बहिरात्मा बाहर की ओर देख रहा है। जब तुम अपने मकान के ऊपर खड़े होकर बाहर की ओर देखोगे तो तुम्हें बाहर का ही तो दिखाई देगा तुम्हारे घर में क्या रखा है यह क्या दिखाई देगा। पीठ के पीछे क्या रखा है तुम्हें दिखाई नहीं दे रहा। दृष्टि तुम्हारी बाहर की ओर है। जब व्यक्ति दृष्टि अंदर की ओर मोड़ ले, उसी देहरी पर खड़ा है दृष्टि घर की ओर कर ले तो घर में क्या रखा है उसे सब दिखाई दे जायेगा। किन्तु अभी देहरी पर खड़े होकर के अंदर का आनंद नहीं लिया जा सकता, अभी बाहर की तपन पीछे से आ रही है। पर अभी जब बाहर की ओर देख रहे थे तो बाहर की चकाचौंध आँखों पर ही पड़ रही थी अंदर की ओर आना शुरू किया तो अन्तरात्मा हो गयी, बाहर छोड़ दिया पुनः अंदर जाकर गेट बंद करके बैठ गये बाहर की तपन बिल्कुल नहीं मिलेगी पुनः परमात्मा बन गये अब बाहर कभी जाने की आवश्यकता नहीं है।

तो बहिरात्मा वो है जो बाहर ही बाहर देखता है अंदर देख ही नहीं सकता।

९. ज्ञानी-अज्ञानी में भेद

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान्मन्यते नरम्।
तिर्यञ्च तिर्यङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा॥८॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंत धी शक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥९॥ युग्मम्

अन्वयार्थ-अविद्वान्-मूढ़ बहिरात्मा **नरदेहस्थं**-मनुष्य देह में स्थित **आत्मानं**-आत्मा को **नरम्**-मनुष्य **तिर्यङ्गस्थं**-तिर्यंच शरीर में स्थित आत्मा को **तिर्यंचं**-तिर्यंच **सुराङ्गस्थं**-देव शरीर में स्थित आत्मा को **सुरं**-देव **तथा**-और **नारकाङ्गस्थं**-नारक शरीर में स्थित आत्मा को **नारकं**-नारकी **मन्यते**-मानता है। किन्तु **तत्त्वतः**-वास्तव में शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से **स्वयं**-कर्मोपाधि से रहित खुद आत्मा **तथा न**-मनुष्य, तिर्यंच देव और नारकीय रूप नहीं है, निश्चयनय से तो यह आत्मा **अनंतानंतधी-शक्तिः**-अनन्तानन्त ज्ञान और अनन्तानन्त शक्तिरूप वीर्य का धारक है **स्वसंवेद्यः**-स्वानुभवगम्य है-अपने द्वारा आप अनुभव किये जाने योग्य है और **अचलस्थितिः**-अपने उक्त स्वभाव से कभी च्युत न होने वाला-उसमें सदा स्थिर रहने वाला है।

आत्मा न तो मनुष्य है न तिर्यंच है न देव है। आत्मा आत्मा है। अभी इस मनुष्य पर्याय से संयुक्त है किन्तु आत्मा मनुष्य ही हो या हमेशा मनुष्य ही रहेगी ऐसा नहीं है। ये तो वर्तमान काल में आत्मा ने शरीर प्राप्त किया है। किसी ने मनुष्य का, किसी ने देव का किसी ने नारकी या तिर्यंच का। ये शरीर अलग है आत्मा अलग है किन्तु मिथ्यादृष्टि अविद्वान-पूर्ण अज्ञानी नरदेह में स्थित आत्मा को मनुष्य मान लेता है, आत्मा को ही मनुष्य कहता है ये नहीं कहता मनुष्य के शरीर में आत्मा है। ये ही मनुष्य है और तिर्यंच के शरीर में तिर्यंच को मानता है, देवता के शरीर में देव मानता है और नारकी के शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है। आत्मा की जो अनंतानंत शक्ति है, ज्ञान शक्ति है स्वसंवेदन से अचल स्थिति है उस स्थिति को वह मिथ्यादृष्टि नहीं जानता। क्योंकि मिथ्यादृष्टि वह बाहर की वस्तु ग्रहण करता है। उसे आत्मा की अनंतानंत शक्ति का ज्ञान नहीं होता। आत्मा का स्वसंवेदन नहीं होता। आत्मा की अचल, ध्रौव्य स्थिति का ज्ञान उसे नहीं होता, क्योंकि वह इन्द्रियों से ग्रहण कर रहा है और इन्द्रियों से आत्मा को ग्रहण नहीं किया जा सकता।

महानुभाव ! जैसे सामान्य चश्मा लगाकर आपको सूक्ष्म वस्तु नहीं दिखती यदि सूक्ष्मदर्शी यंत्र हो तो सूक्ष्मवस्तु बहुत बड़ी-बड़ी दिखाई दे जाती हैं। मिथ्यादृष्टि के पास सूक्ष्मदर्शी यन्त्र नहीं है वह सूक्ष्मदर्शी यंत्र सम्यग्दृष्टि के पास है। इसमें मिथ्यादृष्टि का दोष ही क्या जब वो कह रहा है कि मुझे दिख नहीं रहा। सम्यग्दृष्टि जिस बात को कहता है मिथ्यादृष्टि कहता है तू झूठा है।

मिथ्यादृष्टि को आत्मा दिख ही नहीं रही सम्यग्दृष्टि कह रहा है भव्य आत्मन् ! अपनी आत्मा को जान, समझ जो ज्ञान-दर्शन लक्षण है। मिथ्यादृष्टि तो मानने को तैयार ही नहीं। पहले हमें आँखों से दिखाओ, स्पर्श कराओ, गंध सुंघाओ, ऐसी बात हो तो हम मानें। क्योंकि पंचेन्द्रिय से यदि मिथ्यादृष्टि के ग्रहण करने में आ रही है तो मान लेगा। सम्यग्दृष्टि ठीक कह रहा है किन्तु उसके ग्रहण करने में नहीं आ रही तो सब बक्वाद है समय की बर्बादी है। किन्तु जब वह सम्यग्दृष्टि हो जायेगा तब उसे विश्वास होगा कि आत्मा-आत्मा है शरीर शरीर है।

महानुभाव ! अज्ञानी पुरुष मनुष्य के शरीर में विद्यमान आत्मा को शाश्वत मनुष्य ही मान लेता है। ये नहीं जानता कि आत्मा न तो मनुष्य है और न देव है, न नारकी है न तिर्यंच है। न छोटी है न बड़ी है कोई स्थावरादि पृथ्वीकायिक आदि भी नहीं है। आत्मा आत्मा है, सभी की आत्मा एक जैसी है। प्रत्येक आत्मा में असंख्यात प्रदेश हैं। प्रत्येक आत्मा शुद्ध हो सकती है अभी संसार की दशा में उस आत्मा को भी शरीर आरोपित करके उसी शरीर का नाम उद्घोषित किया जाता है। यहाँ पर आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी बता रहे हैं कि **अविद्वान मन्यते नरम्**-जो अविद्वान (अज्ञानी) मनुष्य है वह मान लेता है कि मनुष्य देह में स्थित आत्मा मनुष्य है।

अज्ञानी और ज्ञानी की क्या पहचान है ? ज्ञानी पुरुष कहता है व्यवहार से हम मनुष्य हैं निश्चय से हम आत्मा हैं। व्यवहार में हम इसलिये कह रहे हैं कि व्यवहार हम उसका करते हैं जो हमें इन्द्रियों के द्वारा दृष्टिगोचर होता है। इन्द्रियों से जैसा हम सुन रहे हैं देख रहे हैं ये सब हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है जिसे न्याय की भाषा में साम्व्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं। यह व्यवहार में होता है निश्चय में नहीं इसलिये इसे साम्व्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। मैंने स्वयं अपने कान से ऐसा सुना, मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा है, जाना है तो इस प्रत्यक्ष को कहते हैं साम्व्यवहारिक प्रत्यक्ष। तो व्यवहार में जो दिखाई दे रहा है उसे व्यवहार में ही कह सकते हैं कि तुम मनुष्य हो, वह तिर्यंच है, नरक में नारकी हैं, स्वर्ग में देव हैं और व्यवहार की अपेक्षा से यह मिथ्या नहीं है किन्तु आचार्य महोदय यहाँ निश्चय की बात भी बता रहे हैं कि व्यवहार से तो तुम सभी को आरोपित कर रहे हो किन्तु निश्चय से तुम शरीर नहीं हो, तुम आत्मा हो।

किसी भी बर्तन में दूध, घी, तेल, पानी आदि रखा है और आप ये जानते हैं तो आप ये नहीं कहेंगे ये डिब्बा है, आप कहेंगे ये घी आदि अमुक पदार्थ है। चाहे वह घी डिब्बे में रखा है या बोतल में रखा है या किसी कनस्तर में रखा है। घी कहाँ है तो घी ये रहा। आपको दिखाई तो वह बर्तन दे रहा है किन्तु है तो उसमें घी ही। वहीं कोई दूसरा व्यक्ति कह रहा है अरे! यहाँ घी कहाँ है ये तो बोतल है, ये डिब्बा है, कनस्तर है किन्तु घी कहाँ है। तो जिसको घी का ज्ञान नहीं है वह बर्तन का नाम लेता है जिसको घी का ज्ञान है वह कहता है कि ये बर्तन तो इसका आधार

है इसमें रखा द्रव्य घी है। वह कहता है मुझे तो दिख नहीं रहा, तो जिसके पास अन्तरंग को देखने की दृष्टि नहीं है जो सिर्फ बहिरंग को ही देख सकता है वह केवल पात्र ही देखता है अंतरंग की वस्तु को नहीं देख सकता।

व्यवहार में डूबा हुआ व्यक्ति केवल शरीरों को देख सकता है आत्मा को नहीं देख सकता अर्थात् बहिरात्मा व्यक्ति केवल शरीर को देखता है अन्तरात्मा को नहीं। इसलिये बहिरात्मा व्यक्ति कहता है-'नरदेहस्थमात्मानम्' मनुष्य की देह में विद्यमान आत्मा भी मनुष्य है, तिर्यंच के शरीर में विद्यमान आत्मा तिर्यंच है, देवता के शरीर में विद्यमान आत्मा देव है। उस बहिरात्मा की ये धारणा होती है कि जो मनुष्य है वह सदा मनुष्य ही रहेगा, जो तिर्यंच है वह तिर्यंच ही रहेगा। जो देव है वह देव ही रहेगा, नारकी नारकी ही रहेगा। उसने उस आत्मा को ही वैसा मान लिया है वह नहीं सोच पाता कि बैल का जीव भी सुग्रीव बना, सिंह का जीव भगवान् महावीर बना आदि-आदि बातें नहीं जानता व मानता, किन्तु अन्तरात्मा व्यक्ति कहता है कि ये मेरी आत्मा जिस प्रकार का कर्म करती है मनसा-वाचा-कर्मणा उसी प्रकार का इसे कर्मों का आश्रव व बंध होता है और जैसा कर्मों का बंध होता है उसी प्रकार का फल इस आत्मा को प्राप्त होता है। किन्तु जो बहिरात्मा है वह कहता है ये ही मैं हूँ, इसके अलावा मैं कुछ नहीं हूँ।

आगे कह रहे हैं-

नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंत धी शक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥९॥

एक शब्द (वाक्य) आपने सुना होगा पाप से घृणा करो पापी से नहीं। क्योंकि पाप एक कर्म है वह पापकर्म आत्मा के लिये दुःख देने वाला है शत्रु की तरह से है। पापी एक आत्मा है जब उस आत्मा पर पाप सवार हो जाता है तब उसे पापी कहते हैं। वह आत्मा पाप के भार को उतार करके पुण्यात्मा, निष्कर्मात्मा, सिद्धात्मा, शुद्धात्मा बन सकता है। यदि हमने आत्मा से ही घृणा की आत्मा के प्रति विद्वेष का भाव रख लिया तब हम परमात्मा को भी नहीं मान पायेंगे कहेंगे-ये वो ही आत्मा है जो पाप के कारण नरक में पड़ी थी, जो मार-काट कर रही थी तो आत्मा से विद्वेष हो जायेगा। फिर तुम सिद्धों को भी नहीं मान पाओगे क्योंकि सिद्ध भी पहले कभी नारकी थे, वे भी पहले संसारी प्राणी थे, नरकगति में भी गये, तिर्यंच, देव मनुष्यादि गति में भी गये फिर तो तुम किसी को मान नहीं पाओगे। आपकी दृष्टि में यही हो जायेगा कि नारकी सदा नारकी रहेगा, तिर्यंच तिर्यंच ही रहेगा जो जो है वही रहेगा आगे बढ़ ही नहीं सकता। ये तो फिर हिन्दू धारणा हो गयी कि जो अनादिकाल से मोक्ष पहुँच चुके हैं जो भगवान् हैं सो भगवान् हैं, जो संसारी है सो संसारी है। संसारी कभी भगवान् नहीं बनता भगवान् कभी संसारी नहीं होता। उनकी धारणा

जैसे है कि भगवान् पुनः आकर संसार में लीला करता है फिर भगवान् बन जाता है ये धारणा हमारे जैन दर्शन की नहीं है।

यहाँ बता रहे हैं-

कोई भी आत्मा कर्मों के भार को छोड़कर के परमात्मा बन सकता है किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव, अज्ञानी जीव वह क्या मानता है-

नारकं नारकाङ्गस्थं-'नारक अंगस्थ' नारकी के अंग अर्थात् शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है ये तो शाश्वत नारकी ही है परन्तु ऐसा है क्या ? नहीं, वह तो आत्मा है जैसे हमारी आत्मा है वैसे ही उसकी भी आत्मा है। जैसे हमें कष्ट होता है वैसा ही कष्ट उस चींटी की आत्मा को भी होता है। जो हिंसक व मांसाहारी लोग होते हैं वे जो पशु-पक्षियों को मारते काटते रहते हैं वे कहते हैं अरे ! क्या हुआ ये खाने के लिये ही तो हैं किन्तु उन्हें ये ज्ञात नहीं है कि उनके अंदर भी स्वयं जैसी ही आत्मा है। जब स्वयं को काँटा लगने पर इतना कष्ट होता है तो उनको कितना कष्ट होता होगा। आज तो तुम मनुष्य हो और मूक पशुओं पर अत्याचार कर रहे हो कल यदि तुम वैसे बन गये तो तुम्हें भी उसका वैसा ही फल भोगना पड़ेगा। इसलिये किसी भी प्राणी के साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा व्यवहार तुम्हारी आत्मा तुम्हारे लिये चाहती है। तुम नहीं चाहते मुझे दुःख मिले, कोई मेरा अपमान करे, तुम नहीं चाहते कि मुझे कोई पीड़ा-वेदना हो तो तुम भी दूसरों को कष्ट मत दो पीड़ा मत दो उसका मन मत दुखाओ। सज्जनता का व्यवहार करो निःसंदेह आपको भी अच्छा लगेगा और उसे भी अच्छा लगेगा।

यहाँ कह रहे हैं-अज्ञानी नारकी के शरीर में विद्यमान आत्मा को नारकी मान लेता है किन्तु वास्तव में निश्चय से वैसा है नहीं जैसा मान रहा है। आत्मा तो निश्चय से अनंतानंत ज्ञान से सहित है, अनंत शक्ति से युक्त है और ये आत्मा अचलस्थिति वाली अर्थात् ये आत्मा कभी भी अनात्मा नहीं होती। अनात्मा कभी आत्मा नहीं होता मैं पहले आत्मा था, आत्मा हूँ, आत्मा ही रहूँगा मैं कभी अनात्मा नहीं था, न हूँ, न हो सकूँगा। अनात्मा अनादि काल से अनात्मा ही था, है और रहेगा। अनात्मा कभी आत्मा न था, न है न होगा। इस प्रकार का दृढ़ श्रद्धान होना चाहिये। अनात्मा-आत्मा कभी एक नहीं हो सकते। साथ-साथ रहकर भी दोनों के अलग-अलग स्वभाव हैं।

शरीर पुद्गल है, स्पर्श रस गंध वर्ण ये उसके गुण हैं उसका स्वभाव पूरण-गलन है। आत्मा का स्वभाव है ज्ञान और दर्शन। शरीर में कभी ज्ञान दर्शन नहीं हो सकता आत्मा में कभी स्पर्श रस वर्ण गंधादि गुण नहीं हो सकते। शरीर शरीर है आत्मा-आत्मा। हाँ ये बात ठीक है दोनों साथ-साथ बैठ गये अग्नि और पानी दोनों पास-पास में है तो अग्नि के संयोग से पानी गर्म हो

गया। पानी गर्म तो हुआ है ये बात बिल्कुल सही है किन्तु फिर भी उसकी शीतलता पूरी तरह नष्ट नहीं हुई वह शीतलता अभी भी है वही पानी अग्नि पर चला जाये तो अग्नि को नष्ट कर दे और यदि उस पानी को अग्नि से अलग कर दिया जाये तो वह पुनः शीतल हो जायेगा। तो ऐसे ही ये कर्म हैं अग्नि की तरह से, आत्मा पानी की तरह शीतल स्वभाव वाली है। अग्नि रूपी कर्म के संयोग में आती है तो आत्मा भी उबलने लगती है किन्तु अभी भी इस आत्मा की शक्ति नष्ट नहीं हुई। ये आत्मा थोड़ा सा पुरुषार्थ करे तो इन कर्म रूपी अग्नियों को शांत कर सकती है और फिर शीतल हो सकती है।

दूसरी बात यदि ये आत्मा कर्मों से थोड़ी दूर हो जाये तो भी शांति का अनुभव कर सकती है। जो भी इस आत्मा का स्वभाव है उसे पुनः अनुभव में ला सकते हैं यदि तीव्र कर्मों से दूर हो जायें, जो कर्म हमारी आत्मा रूपी जल को उबाल रहे हैं। तीव्र कर्म का उदय आता है तो तीव्र अग्नि के समान जल को उबालने लगते हैं। यहाँ यही बता रहे हैं कि अपनी आत्मा की अनंतानंत ज्ञान शक्ति को पहिचानो। तुम्हारें अंदर अनंतज्ञान है और व्यक्ति जब भी पाप करता है अज्ञानता में करता है। व्यक्ति जब भी संसार परिभ्रमण करता है अज्ञानता के कारण ही करता है वह जब भी दुःखों को प्राप्त करता है, जब भी विभाव में रमण करता है, पर वस्तु को अपना मानता है सब अज्ञानता के कारण करता है।

व्यक्ति सम्यक् पुरुषार्थ नहीं कर रहा, सुअवसरों को चूक रहा है वह भी अज्ञानता के कारण। जो व्यक्ति बुद्धिमान होता है, ज्ञानी-विवेकी होता है वह अवसर चूकता नहीं वह जो काम करने का होता है उसे पहले करता है। जो पहले करने का है उसे पहले व बाद वाले को बाद में ही देखता है। किन्तु अज्ञानी व्यक्ति जैसा मन में आया वैसा ही करने लगता है। अज्ञानी व्यक्ति नहीं जानता कि मेरी आत्मा में अनंतानंत शक्ति है। और आत्मा कैसी है ?

स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः-यह आत्मा स्वसंवेदन के योग्य है। स्वसंवेदन किसे कहते हैं? स्व-स्वयं, संवेदन-समीचीन वेदन। आत्मा ऐसी है जो अपने द्वारा ही जानी जा सकती है। दूसरे के द्वारा हम अपनी आत्मा को नहीं जान सकते और दूसरा हमारे द्वारा अपनी आत्मा को नहीं जान सकता। प्रत्येक आत्मा स्वसंवेदन के योग्य है, पर संवेदन के योग्य नहीं है। पर पदार्थ-पर संवेदन के योग्य होते हैं पर आत्मा-पर संवेदन के योग्य है। पर आत्मा को हम पर रूप में ही जानेंगे। अनंतानंत केवली भगवान् हैं उनके ज्ञान और दर्शन में अनंत गुण-द्रव्य-पर्यायें झलक रहीं हैं तो वे उन पर को पर रूप में ही जान रहे हैं वे किसी की आत्मा को स्वरूप में नहीं जान सकते। हम अपनी आत्मा को स्वरूप में जान सकते हैं और कोई नहीं जान सकता। स्वसंवेदन का यही अर्थ होता है कि स्वयं ही स्वयं का वेदन करना।

सामने वाला व्यक्ति कुछ भी खाये-पीये उसका स्वाद हम नहीं ले सकते। एक बात लोक व्यवहार में बहुत प्रचलित है कहते हैं-'अपने मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता'। अर्थात् कोई कितना ही निकटवर्ती मृत्यु को प्राप्त हो जाये उसने समाधि को प्राप्त किया साधना की, तपस्या की, पुण्य किया पुनः मृत्यु को प्राप्त हो गया, वह कहे कोई बात नहीं तूने पाप किये तेरी जगह मैं पुण्य कर लेता हूँ तेरी जगह मैं मर जाता हूँ मैं तुझे स्वर्ग दे दूँगा। यह कोई लेन-देन का व्यापार नहीं है, जिसका पुण्य-पाप है उसका वेदन उसका फल उसे ही मिलेगा। यह आत्मा स्वसंवेदन के योग्य है। शास्त्रों में कृत-कारित अनुमोदना का कथन तो किया है कि स्वयं समर्थ हो तो स्वयं करो, समर्थ नहीं हो कोई प्रतिकूलता है माना शरीर में कोई दोष है, अति विकलांग है अथवा घर में सूतक-पातक है वह धार्मिक क्रिया में भाग नहीं ले सकता तो वह दूसरों से कह दे कि आप चले जाओ, आहारादि दान दो, तो कारित अर्थात् उनसे कराओ और यदि ऐसा भी नहीं है कि तुम उसे कह भी नहीं सकते तो एक कार्य कर सकते हो हे भगवन् ! जहाँ भी कोई सम्यक् पुण्य का कार्य हो रहा है मैं हाथ जोड़कर उस पुण्य कार्य की अनुमोदना करता हूँ। मैं प्रत्यक्ष या परोक्ष में उसकी अनुमोदना करता हूँ। हे प्रभु! जो कोई भी महार्चना, पूजा-विधान-पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करा रहा है, साधु तपस्या कर रहे हैं या तीर्थयात्रा कर रहे हैं, जो कोई भी भव्य जीव पुण्य के कार्य कर रहा है आँख बंद कर आप देख रहे हैं उनका वह पुण्यकार्य, तपस्या का कार्य, आत्मसंवेदन का कार्य निराकुलता से चलता रहे क्योंकि मैं भी उसको प्राप्त करना चाहता हूँ इसीलिये मेरी भी भावना यही है कि उन सभी का अच्छा हो उनका अच्छा होगा तो मुझे भी अच्छा-अच्छा प्राप्त होगा।

महानुभाव ! आचार्य भगवन् यही कह रहे हैं यह आत्मा स्वसंवेदन के योग्य है पर संवेदन में नहीं आती। इन्द्रिय ज्ञान भी स्वयं की इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये बिना उन पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। जब कि पदार्थ तो स्थूल है आत्मा अति सूक्ष्म है उस आत्मा का हम दूसरों के द्वारा ज्ञान कैसे कर सकते हैं। किसी ने कुछ खाया और स्वाद वह सामने वाले से पूछे कैसा है? तो भईया आप भी खाकर देख लो जैसा है वैसा है। शब्द भले ही सुन लो खट्टा-मीठादि किन्तु स्वाद नहीं ले सकते। सबकी अनुभूति अलग-अलग होती है। बात यह भी है कि पदार्थ की अनुभूति अलग होती है, शब्दों की अनुभूति अलग होती है। जब कि पदार्थों की अनुभूति सबकी एक जैसी हो सकती है फिर भी अलग-अलग है स्थूल पदार्थ हैं उनके स्थूल लक्षण गुण हैं फिर भी अनुभूति अलग-अलग हो रही है क्योंकि सबके ज्ञान का क्षयोपशम अलग-अलग है। सबकी अनुभूतियाँ पर पदार्थ सम्बन्धित भी अलग-अलग हैं फिर आत्मा की अनुभूति सबकी एक कैसे हो सकती है। आत्मा की अनुभूति भी अलग होती है।

आत्मा कैसी होती है-'अचलस्थितिः' आत्मा अचल है, वह कभी चलायमान नहीं होती। यदि नारकी की अवस्था में शरीर के तिल-तिल के बराबर टुकड़े भी कर दिये जायें तो ऐसा नहीं कि आत्मा बिखर जाये आत्मा अखण्ड रहती है, इसके खण्ड-खण्ड नहीं किये जा सकते। न कोई अपनी आत्मा का खण्ड-खण्ड कर सकता है न दूसरे की आत्मा का खण्ड-खण्ड कर सकता है। वह अनादि काल से अखण्ड रूप से है व रहेगी। आत्मा को खण्ड-खण्ड करने का भाव ही पाप है, दुराभाव है, विभाव है। आत्मा को सम्यक् रूप में ले जाने का भाव सद्भाव है सुभाव है उसके माध्यम से पुण्य का आश्रव होता है और सद्भाव पुण्य देने वाला होता है वह पुण्य स्वभाव में ले जाने के लिये निमित्त कारण बन जाता है।

यह अचल शब्द यहाँ आया है-चलायमान अवस्था से रहित। आत्मा के प्रदेश तो चलायमान हैं किन्तु जो प्रदेश गोस्तनाकार हैं वे अचल हैं इसलिये हमारी आत्मा चलाचल है। किन्तु यहाँ पर अचल शब्द से आशय यह है कि हम संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं चलायमान हैं, कभी अधोलोक-मध्यलोक कभी ऊर्ध्वलोक में पहुँच रहे हैं, तो हमारी आत्मा घूम रही है किन्तु हमारी आत्मा स्वाभाविक अचल है सिद्धालय में जाकर विराजमान होने के योग्य है।

१०. मिथ्यादृष्टि की धारणा

स्वदेह सदृशं दृष्ट्वा पर देहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढ़: परत्वे नाध्यवस्यति॥१०॥

अन्वयार्थ-मूढः-अज्ञानी बहिरात्मा **परात्माधिष्ठितं**-अन्य की आत्मा सहित **अचेतनं**-चेतना रहित **परदेहं**-दूसरे के शरीर को **स्वदेहसदृशं**-अपने शरीर के समान इन्द्रियव्यापार तथा वचनादि व्यवहार करता हुआ **दृष्ट्वा**-देखकर **परत्वेन**-पर का आत्मा **अध्यवस्यति**-मान लेता है।

यहाँ बता रहे हैं-

यह संसारी प्राणी अपने शरीर को ही अपना आत्मा मान लेता है और अपनी देह को देखकर उसके सदृश ही दूसरे की देह को भी वह आत्मा मान लेता है जैसे अपनी देह को आत्मा मानता है वैसे ही दूसरे की देह को भी आत्मा मानता है। वह मूढ़ है। वह आत्मा को आत्मारूप नहीं जानता अपितु पर शरीर को ही आत्मा समझ लेता है क्योंकि उसका आत्मा से परिचय ही नहीं है। उसके पास जो भी चश्मा है उससे सिर्फ पुद्गल ही दिखाई देता है। जैसे किसी के पास काले रंग का चश्मा हो तो उसे सारी वस्तुयें काली-काली ही दिखाई देती हैं चाहे वस्तु सफेद हो या काली नीली-पीली। मिथ्यादृष्टि जीव के पास तो मिथ्यात्व का काला चश्मा है उसमें उसे सफेद वस्तु कैसे दिखाई देगी आत्मा कैसे दिखाई देगी, उसे तो मिथ्यात्व के कारण शरीर ही आत्मा दिखायी देता है। आत्मा, आत्मा दिखायी नहीं देता।

महानुभाव ! मूर्ख प्राणी पर के शरीर को ही उसकी आत्मा मान लेता है उसके शरीर को शरीर नहीं मानता, ये मानता है कि ये पर की आत्मा है। **परत्वेनाध्यवस्यति**-परत्वेन्-दूसरे का अध्यवस्यति-मान लेता है।

जैसे उसके स्वयं का शरीर क्रियाशील है तो अपने शरीर की चेष्टाओं को देखकर कि जैसे मैं शरीर से चलता हूँ, इन्द्रियाँ मेरी कार्य कर रही हैं वह यह नहीं समझता कि इन्द्रियाँ तो जड़ हैं यदि आत्मा न हो शरीर में तो इन्द्रियाँ कुछ भी काम नहीं कर सकती हैं। दूसरे की मृत्यु को देखकर के उसे भान हो रहा है देखो ! शरीर तो अभी भी पड़ा हुआ है और इसमें से जो शक्ति थी वह शक्ति निकल गयी। कौन सी शक्ति निकल गयी? जिस शक्ति के माध्यम से वह जानता था, देखता था, सुनता था, बोलता था, चखता था, सोचता-विचारता कोई भी क्रिया मन वचन काय से करता था। अब ये शरीर तो ज्यों की त्यों पड़ा है, शरीर में पाँचों इन्द्रियाँ भी हैं, द्रव्यमन भी शरीर के अंदर विद्यमान है, वचन शक्ति भी विद्यमान है किन्तु ये सब होते हुये भी वह कुछ भी क्रिया करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि जो अन्तरंग की शक्ति है वह नष्ट हो गयी।

भाव से रहित द्रव्य की शक्ति कुछ भी काम नहीं करती। दूसरे के शरीर को मिथ्यादृष्टि, मूढ़ बुद्धि, बहिरात्मा मानता है कि यह भी आत्मा है। अपने शरीर को भी आत्मा मानता है किन्तु वह इतना भेद नहीं कर पाता कि ये शरीर आत्मा नहीं है आत्मा तो इसके अंदर विद्यमान है। वह ये नहीं मानता कि दूध में घी है वह ये मानता है कि दूध ही घी है। वह यह नहीं मानता कि जल में शीतलता है वह मानता है जल ही शीतलता है। जल में अन्य गुण भी हो सकते हैं किन्तु वह कहता है यही सब कुछ हो गया। जल को चलो फिर भी ले सकते हैं उन्होंने अभेद कथन कर दिया किन्तु ऐसा अभेद आत्मा का और शरीर का नहीं है।

आत्मा और शरीर तो संयोगी दशा है जिसकी भी संयोगी दशा है वह वियोग को प्राप्त हो सकती है। जिसका संयोग नहीं होता तो उसका कभी वियोग नहीं होता। जिसका जन्म होता है उसकी नियम से मृत्यु होती है ये तो नियामक संबंध है। जो उदीयमान अवस्था को प्राप्त होता है तो अस्तगत अवस्था को प्राप्त होता है। जो पुष्प खिलता है वह कभी मुरझाता भी है ऐसे ही यहाँ पर कह रहे हैं शरीर और आत्मा एक नहीं है उनका संयोग-वियोगी भाव है। जैसे वह मूढ़ अपने शरीर को आत्मा मान लेता है वैसे ही दूसरे के शरीर को जो चेष्टा कर रहा है अपनी तरह से, तो कहने लगता है ये भी आत्मा है।

जिसका शरीर मृत पड़ा है उसे आत्मा नहीं कह रहा। अब उससे पूछो भाई ! तुम इसको आत्मा क्यों नहीं कह रहे ? तुम शरीर से आत्मा कह रहे थे शरीर तो देखो अभी भी पड़ा हुआ है उसमें क्या कमी आ गयी तो वह उसका उत्तर नहीं दे पायेगा। वह कहेगा अब इसमें आत्मा नहीं है। क्यों नहीं है आत्मा ? ये तो मृत्यु को प्राप्त हो गया, तो क्या हुआ मृत्यु को प्राप्त हो गया तो तुम तो शरीर को आत्मा मान रहे थे ना ? शरीर तो अभी भी है क्या चीज चली गयी? तो जो चीज चली गयी है वही चीज आत्मा थी तुम जिसे आत्मा मान रहे थे वह आत्मा नहीं है। जो चीज गई है वह क्यों गयी? जिसने जैसे कर्म बांधे थे वैसे कर्म उस आत्मा को उठाकर उस गति में ले गये। जहाँ के संस्कार उसकी आत्मा में पड़े थे, जहाँ का भाव उस आत्मा ने भाया था, जिस प्रकार की भावना से कर्म का बंध हो गया था अथवा जिस क्षेत्र में जाने योग्य परिणाम किये थे वहाँ पहुँच गया।

जिस तरह कॉलेज में विद्यार्थी के प्रतिशत के हिसाब से बाहर के अच्छे-बुरे कॉलेज आकर उनका चयन कर लेते हैं। जिसके जैसे नम्बर होते हैं उसे उसी प्रकार का कॉलेज मिल जाता है ऐसे ही जिस जीव के जैसे उत्कृष्ट और निकृष्ट परिणाम होते हैं उसे भी उसी गति में जाना होता है। उत्कृष्ट परिणाम से सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति, उससे कम है तो ग्रैवेयक-अनुदिश अथवा 16 स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो जाती है। निकृष्ट परिणामों से नरक-तिर्यंच आदि गतियों की प्राप्ति होती है जिस तरह स्कूल की जो ड्रेस होती है विद्यार्थी को वही पहननी पड़ती है यदि विद्यार्थी अपना

स्कूल बदलता है तो ड्रेस भी बदलनी पड़ती है उसी तरह यह जीवात्मा आज इस ड्रेस में इस शरीर में है यह शरीर क्या है ड्रेस है यह शरीर विद्यार्थी नहीं है अर्थात्-यह शरीर आत्मा नहीं है आत्मा अलग है जैसे विद्यार्थी अलग है ड्रेस अलग है।

यहाँ पर यही कह रहे हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव दूसरे के शरीर को आत्मा मान लेता है ऐसी उसकी धारणा बन जाती है इसलिये दूसरे के शरीर के साथ वैसा ही व्यवहार करता है जैसा व्यवहार वह अपने साथ करता है। यदि उसे अंतर भेद हो जाये, अन्तर्ज्ञान हो जाये कि देह अलग है आत्मा अलग है तो वह शरीर के पोषण में इतना समय नहीं लगाये वह तो फिर आत्मा का पोषण करने लग जाये। किन्तु ये आजकल आत्मा का तो शोषण करता है और शरीर का पोषण करता है अथवा यूँ कहें कि आत्मा को तो जानता ही नहीं है। तो आत्मा का तो कुछ नहीं कर रहा जो हो रहा है सो अपने आप हो रहा है चाहे उसका शोषण हो रहा है या पोषण स्वत: हो रहा है। बुद्धिपूर्वक तो वह शरीर के पोषण में लगा हुआ है।

महानुभाव ! जो व्यक्ति केवल दूसरे की अर्थात् शरीर की ही सुरक्षा व पोषण करते हैं उसे भोजन पानी देकर उस पर जो उपकार कर रहे हैं उसका वह उपकार नगण्य है। क्योंकि शरीर तो नष्ट हो जायेगा। यदि किसी ने उसकी आत्मा पर उपकार किया है, उसकी आत्मा का कल्याण करने के लिये सहयोग प्रदान किया है तो वास्तव में उसके प्रति उसका महान उपकार है। क्योंकि उसकी आत्मा जो अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रही थी, बार-बार नरक तिर्यंचगति में जाती थी अब ऐसा उपदेश व संस्कार दिया, उसके ज्ञान को जाग्रत किया, उसके बुझे दीपक को जला दिया जिससे उसने अपने उस ज्ञान के दीपक से अपने आत्मा के वैभव को जान लिया समझ लिया। तो महान उपकारी कौन है ? जो आत्मा का ज्ञान कराने वाला है। जो आत्मा की रक्षा करने वाला है आत्मा को पापों से बचाने वाला है। शरीर की केवल रक्षा करने वाला महान नहीं हो सकता है। नीतिकार कहते हैं-

अन्नदानं परं दानं, विद्यादान मत: परम्।
अन्नेन क्षणिका तृप्ति-र्यावज्जीवं च विद्यया।। संस्कृत सुभाषित माला

लोग कहते हैं अन्न दान परम दान है किन्तु विद्या का दान उससे भी श्रेष्ठ है। क्यों? अन्न के माध्यम से तो क्षणभर की तृप्ति होती है, किन्तु यदि कोई तत्त्व की बात जान ली, तत्त्वज्ञान आपको हो गया तो वह तो ऐसा मिश्री का टुकड़ा है जब-जब भी उसे चूसो वह मिठास देता रहेगा और वह अक्षय है वह ज्ञान कभी नष्ट होने वाला नहीं है। उस ज्ञान का दान देने की चेष्टा करो।

केवली भगवान् महादानी होते हैं, मुनिमहाराज महादानी होते हैं क्यों? क्योंकि वे ऐसी उत्कृष्ट वस्तु का दान दे रहे हैं जिसका दान उस व्यक्ति के पास सदैव रहेगा। ऐसे ज्ञान का दान दे दिया जिसके माध्यम से वह स्वयं को जान सकता है। ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता और अन्न भले ही बोराभर-कोठी भर कितना भी दे दिया आखिर में तो खर्च होगा ही, खाते-खाते नष्ट हो ही जायेगा।

किन्तु अन्न के अलावा ज्ञान दिया है तो ज्ञान को कितना भी खर्च करें वह सौ बार सुने, सौ बार सुनाये, चिंतवन करे तो वह ज्ञान बढ़ेगा, घटेगा नहीं।

अपूर्वःकोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात्।। सुभाषित

हे भारती! हे जिनवाणी ! हे ज्ञान देवी ! आपके कोष की एक अपूर्व ही बात है जितना व्यय करते जाते हैं वृद्धि होती चली जाती है और संचय करने से वह नष्ट हो जाता है।

सरस्वती के भण्डार की बड़ी अपूरब बात।
ज्यों-ज्यों खर्चें त्यों-त्यों बढ़े, बिन खर्चे घट जात।।

महानुभाव ! यहाँ इस कारिका में मूढ़ व्यक्ति की धारणा को बताया है कि वह बहिरात्मा अन्य आत्मा द्वारा अधिष्ठित अचेतन पर देह को अपने शरीर की तरह देखकर पर रूप से अर्थात् पर का आत्मा मान लेता है। वह स्व और पर दोनों जगह गलत मान्यता रखता है।

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः।।११।।

अन्वयार्थ-अविदितात्मनां पुंसां-आत्मा के स्वरूप को नहीं जानने वाले पुरुषों के **देहेषु**-शरीरों में **स्वपराध्यवसायेन**-अपनी और पर की आत्म मान्यता से **पुत्रभार्यादिगोचरः**-स्त्री पुत्रादिविषयक **विभ्रमः वर्तते**-विभ्रम होता है।

जो श्लोक पहले पढ़ा था उसमें भी यही बात थी। यहाँ भी यह कह रहे हैं कि बहिरात्मा ने स्व के संबंध में और पर के संबंध में जो कुछ भी धारणा-मान्यता बनाई है या जो भी प्रवृत्ति की है। क्या प्रवृत्ति की है ? वह देह को ही आत्मा मानकर बैठ गया है क्यों ? क्योंकि वह आत्मा से अविदित है। जिसने जीवन में कभी शेर नहीं देखा उसको बिल्ली दिखाकर बता दिया कि ऐसा ही शेर होता है ये तो मान सकते हैं कि ऐसा शेर होता है किन्तु वह उस बिल्ली को शेर मानकर बैठ गया। जब उसे पता चला कि शेर बहुत पराक्रमी होता है हाथी को भी पछाड़ देता है शेर को किसी का डर नहीं। किन्तु उसने बिल्ली को बांधकर रखा और कह रहा है ये तो मेरा शेर है। भले ही उससे बड़ा जानवर कुत्ता आदि आकर उस बिल्ली का घात कर दे कोई भी उसे मार सकता है। तो वह कहता है अरे ! ये तो मेरा शेर था, ये कैसा शेर था इसे मार दिया। अरे मूढ़ प्राणी ! ये शेर ही नहीं था, तेरी धारणा उल्टी बन गयी थी, तूने बिल्ली को शेर मान लिया था। तो जब तक बिल्ली को शेर मानकर बैठोगे तब तक शेर तक न पहुँच पाओगे।

आप पढ़ते हो आत्मा तो अजर-अमर है। जब शरीर मरता है तो अज्ञानी व्यक्ति रोता है अब मैं मर जाऊँगा, हे भगवान् ! मैं बच जाऊँ मुझे बचा ले। वह क्यों रो रहा है ? क्या वह मर रहा

है? क्या उसकी आत्मा मर रही है? अरे ! यह शरीर छूट रहा है कोई बात नहीं यह तो छूटना ही है। यदि तूने अच्छे कर्म किये हैं तो यह आत्मा अच्छे स्थान पर पहुँच जायेगी, बुरे किये हैं तो बुरे स्थान पर जायेगी, अब तुझे डर क्यों लग रहा है ? मरते समय आँसू क्यों बहाता है? जो होना है वह होगा यह तो संसार का नियम है। किन्तु वह अज्ञानी व्यक्ति मृत्यु को देखकर रोता है। जैसे देव अवस्था में वे देव संक्लेश परिणाम करते हैं, रुदन करते हैं यह विषय सामग्री हमसे छूट जायेगी। वह मिथ्यादृष्टि जीव शरीर के मरण को ही आत्मा का मरण मान लेता है। उसकी ऐसी धारणा बन चुकी है।

और यदि घर में किसी बच्चे का जन्म हुआ तो खुश होता है एक नयी आत्मा और आ गयी। अरे ! आत्मा तो उस जीव की अनादिकाल से थी ही, आत्मा नहीं आयी उस आत्मा ने नया शरीर प्राप्त किया, उस शरीर का जन्म हुआ तो साथ में आत्मा भी आयी। क्योंकि बिना आत्मा के शरीर ऐसे जन्म लेता नहीं है और आत्मा निकल जाती है तो शरीर मृत अवस्था को प्राप्त हो जाता है उसमें फिर वह क्रियाशीलता नहीं रहती है। तो स्व और पर के विषय में उसकी मिथ्या धारणा है। वह अंधकार को ही प्रकाश मानकर बैठ गया है, वह काँच को ही हीरा मानकर बैठ गया है।

ऐसी मिथ्याधारणा जब रहती है तो अपने बारे में भी रहती है दूसरें के बारे में भी रहती है। 'पुत्रभार्यादि गोचरः' स्त्री-पुत्र-भाई-बंधु सभी के संबंध में यही धारणा रहती है उनके शरीर नष्ट हो रहे हैं, मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं तो वह उनके वियोग में रोता है कि अब वे हमें नहीं मिलेंगे। वह चार्वाक जैसा सिद्धान्त मान लेता है। व्यक्ति सोचता है ठीक है मैंने इसको मार दिया इसका कर्ज मैंने ले लिया नहीं चुकाया तो कोई बात नहीं अब तो ये मर गया मरकर कभी वापस लेने नहीं आयेगा, किन्तु ऐसा नहीं है मृत्यु को प्राप्त करने के उपरांत उसकी आत्मा नहीं मरी, उसका शरीर छूटा है वह पुनः तुमसे अपना कर्ज वसूल करेगा। चाहे वह किसी भी प्रकार से परेशान करे व्यंतरादि देव बनकर परेशान करे या पशु बनकर या कोई सेठ बन जाये तुम्हें उसके यहाँ जिंदगी भर नौकरी करनी पड़े या वह किसान बन गया तो तुम्हें उसके खेत पर वृक्ष बनकर बीसों साल तक सर्दी-गर्मी बरसात सहन करनी पड़ेगी उसे फल देने पड़ेंगे कर्ज तो चुकाना पड़ेगा। वह सोच तो ये रहा था कि मैं तो बच गया, बड़ी खुशी हो रही है कि मैंने उसका 20-50 लाख रुपया ले लिया था अब वह मर गया बहुत अच्छा हुआ। समाचार मिलते ही दिवाली मनाने लगा। क्यों? क्योंकि वह सोच रहा है कि मैं कर्ज से मुक्त हो गया। अरे ! मुक्त नहीं हुआ यहाँ नहीं तो आगे देना ही पड़ेगा।

महानुभाव ! मिथ्यादृष्टि जीव की धारणा बता रहे हैं। दोनों गाथाओं का भाव लगभग एक जैसा ही है कि वह अपने व दूसरों के शरीर में आत्मा रूप ही धारणा मान लेता है।

११. तत्त्वज्ञानी बनो

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते॥१२॥

अन्वयार्थ-तस्मात्-उस विभ्रम से **अविद्यासंज्ञितः**-अविद्या नाम का **संस्कारः**-संस्कार **दृढः**-दृढ़ मजबूत **जायते**-हो जाता है **येन**-जिसके कारण **लोकः**-अज्ञानी जीव **पुनरपि**-जन्मान्तर में भी **अंगमेव**-शरीर को ही **स्वं अभिमन्यते**-आत्मा मानता है।

तस्मात्-उससे। पूर्व में जो श्लोक पढा था कि 'वर्तते विभ्रमः पुंसा पुत्रभार्यादि गोचरः' वह स्व पर के अध्यवसाय से देह में आत्मा की प्रतिष्ठा कर लेता है, उसमें जो विभ्रम पैदा होता है उस पैदा हुये विभ्रम से क्या होता है? **अविद्या**-अज्ञान **संज्ञा**-नाम **संस्कार**-संस्कार।

देखो-किसी व्यक्ति ने किसी बात को गलत समझ लिया यहाँ तक कोई बात नहीं है किन्तु उस गलती की बार-बार पुष्टि करता चला जा रहा है यह बहुत गलत है। गलत समझने पर पुनः समझाने पर वह सही समझ सकता है किन्तु 100 व्यक्तियों ने उसकी बात की पुष्टि कर दी अब उसके सुधार के चांस बहुत कम हैं। दुनिया कह रही है शरीर ही आत्मा है।

जिस दृढ़ संस्कार अज्ञानता के कारण पूरा संसार ही (लगभग) अपने शरीर को आत्मा मान रहा है तो मैं भी मान रहा हूँ। तो इसके माध्यम से उसके मिथ्या संस्कार और दृढ़ होते चले जाते हैं। जो व्यक्ति जिस प्रकार की संगति में रहता है उस पर वैसा असर होने लगता है। यदि कोई व्यक्ति कितने ही धवलवस्त्र पहन कर कोयले की खदान में पहुँच जाये कितना ही बचने का पुरुषार्थ करे वस्त्रों में कालिमा लगेगी ही लगेगी। और कोई व्यक्ति गंदे कपड़े पहनकर अच्छे व्यक्तियों के बीच में बैठता है तो बैठ नहीं पायेगा कहेगा मुझे चेंज करना ही करना है। गंदे व्यक्तियों के बीच गंदे वस्त्र पहनकर बैठा रहेगा उसे बुरा नहीं लगेगा अरे सभी तो एक जैसे हैं किन्तु अच्छे आदमियों के बीच में गंदा व्यक्ति बैठ नहीं पायेगा। बैठेगा तो उसकी बुराई छूट जायेगी। बुराई व्यक्ति को बुराई की ओर ले जाती है, अच्छाई व्यक्ति को अच्छाई की ओर ले जाती है। बुरा व्यक्ति अच्छे व्यक्तियों में बैठ भी जायेगा तो उसकी बुराई उसे वहाँ से उठाकर बुरे व्यक्तियों में ले जायेगी अच्छा व्यक्ति कहीं बुरे व्यक्तियों के बीच में फँस भी जायेगा उसकी अच्छाई उसे वहाँ से उठाकर ले आयेगी।

महानुभाव ! यहाँ पर जो बता रहे हैं कि व्यक्ति निरन्तर तत्त्व का चिंतवन करे। कई बार हम सोचते हैं कि आचार्यों ने तत्त्व चिंतन की बात क्यों कही ? ध्यान की बात क्यों कही ? सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया ज्ञान व चारित्र प्राप्त कर लिया तो मोक्ष हो जाना चाहिये ? तुरंत मोक्ष क्यों नहीं होता ? इसलिये नहीं होता कि अनादिकाल के हमारे जो

संस्कार पड़े हुये हैं उन संस्कारों का मजबूत बंधन है उस बंधन को हम तत्त्वज्ञान के द्वारा ही काट सकते हैं काटेंगे तो एक ही झटके में अन्तर्मुहूर्त में किन्तु काटने से पहले बंधनों को शिथिल किया जाता है। रस्सी के बंधनों को हाथी हिला-हिला कर शिथिल करता है। पुनः एक झटका दिया तो रस्सी टूट जायेगी। हमें पहले अपने कर्म बंधनों को शिथिल करना है।

आचार्यों ने दिया है सिद्धान्त ग्रंथों में योगी जब श्रेणी चढ़ते हैं (क्षपक श्रेणी) तब सबसे पहले वे कृष्टीकरण करते हैं। किसी भी कर्म को ऐसे ही नष्ट नहीं करते वह कर्म रूपी पहाड़ों की बड़ी-बड़ी चट्टानों को पहले तोड़ते हैं। योगी ध्यान की अग्नि का डॉयनामेंट लगाते हैं जिससे कर्म रूपी बड़े-बड़े पहाड़ बिखर जाते हैं फिर थोड़ा डॉयनामेंट लगाते हैं उससे कर्म और शिथिल हो जाते है पुनः घन लेकर कूटना प्रारंभ करते हैं बड़े-बड़े पत्थर गिट्टी रूप बना लेते हैं, और तोड़ते हैं तोड़-तोड़ कर उनकी बालू बना देते हैं। धूल आकर के आत्मा को दुःख नहीं दे सकती। धूल उड़ा देते हैं आत्मा अलग हो गयी, धूल अलग हो गयी।

यदि कोई बहुत बड़ी चट्टान ऊपर से गिरे तो ? उसमें एक नहीं अनेक व्यक्ति दबकर मर जायेंगे यदि कोई सिर्फ एक बड़ा पत्थर ऊपर से गिरे तो ? तो जिस व्यक्ति पर गिरेगा वो ही मृत्यु को प्राप्त होगा, आस-पास के एक-दो व्यक्ति घायल हो सकते हैं। छोटा पत्थर गिरे तो? तो हो सकता है सिर पर गहरी/हल्की चोट लग जाये मृत्यु को प्राप्त ही न हो, और छोटा गिरे तो इतना घायल भी नहीं होगा थोड़ा सा अहसास होगा हाँ चोट लगी है। बारीक सी कंकरीट गिरे तो बिल्कुल हानि नहीं है। यदि धूल गिरती है तो उड़कर आ रही है शरीर से लगकर जा रही है उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। ऐसे ही जब हम कर्मों की धूल बना देते हैं तो वे कर्म हमारी आत्मा से चिपक नहीं पाते। इन कर्मों ने चट्टान बनकर हमारी आत्मा को दबाकर रखा है हमारी आत्मा उन कर्मों से निकलना भी चाहे तो भी निकल नहीं पाती। वे ऐसे कर्म बंधे हैं कि जिन कर्मों का फल हम एक साल तो क्या हजारों-लाखों वर्षों नहीं कई भवों तक भी भोगते रहें तब भी उनका फल पूरा नहीं हो पाये।

तो क्या करें ? उनका बस इलाज यही है। जो कर्म बंधे हैं उनको तोड़ते चलें। बालू बना लें फिर हमारी आत्मा यदि बालू में चिपक भी गयी तो बालू को तुरंत ही जैसे हाथी धूल में पूरा मिल भी जाये वह पुनः फुरफुरा कर झटकार कर ऊपर आ जाता है किन्तु यदि चट्टान के नीचे दबा है तो नहीं आ सकता। तो ऐसे ही आत्मा कर्मों के बीच में दब भी जायेगी तो वह कर्म (बालू) उस आत्मा को दबा नहीं पायेंगे। जैसे कि संयोग केवली को 11वें, 12वें, 13वें गुणस्थान में होने वाला सातावेदनीय कर्म का आश्रव। आश्रव तो हो रहा है कर्म आ रहे हैं किन्तु वे कर्म आत्मा को बांध नहीं पा रहे हैं। आत्मा में आ रहे हैं चले जा रहे हैं। कर्मों की धूल कर दी वे कर्म आत्मा को बांध नहीं पायेंगे।

चट्टान हमारी आत्मा पर रखी है ऊपर चट्टान है राग की, नीचे एक चट्टान है द्वेष की। ये पहाड़ ऐसे हैं नीचे भी बढ़ते हैं ऊपर भी बढ़ते हैं, नीचे की ओर भी बढ़ रहे हैं ऊपर की ओर भी बढ़ रहे हैं। आत्मा उस राग-द्वेष के बीच में फंसी हुयी है और इतना ही नहीं रागद्वेष की चट्टान तो ऊपर नीचे हैं ही जहाँ वो जीवात्मा है वह जीवात्मा मोह के खूँटों से बांध दिया गया है अब जायेगा कहाँ, क्या करे, कैसे निकले ? उसके लिये एक ही उपाय है कि वह उन पहाड़ों को चूर-चूर करे जब पहाड़ों की धूल हो जायेगी तो धूल फिर उस आत्मा को बांध नहीं पायेगी। चट्टान से दबाया जा सकता है, बांधा जा सकता है किन्तु धूल से कैसे बांधेगा धूल से कैसे दबायेगा। ये आत्मा यदि उस अवस्था को प्राप्त हो गयी जहाँ कर्म धूल-धूल हो गये तो सयोग केवली अवस्था तक पहुँच जायेंगे। फिर वह धूल बढ़ती भी रहे तो कोई असर नहीं पड़ता धूल तो झड़ जायेगी ध्यान रूपी एक हवा चली सारी धूल एक बार में उड़ जायेगी। किन्तु चट्टानें बड़ी-बड़ी हैं ध्यानरूपी हवा चले भी तो भी चट्टानें हिलती भी नहीं हैं। वह हवा चट्टान से टकराकर के अपना रुख ही मोड़ लेती है।

यहाँ पर बता रहे हैं कि अज्ञानता के संस्कार अविद्या जिसका नाम है, अविद्या के संस्कार 'दृढ जायते' बहुत मजबूत हो जाते हैं। क्यों? क्योंकि हम अज्ञानी व्यक्तियों के बीच में अनादिकाल से ही जी रहे हैं और जहर को अमृत समझकर पी रहे हैं इसलिये हम जहर से बचना नहीं चाहते अमृत को खोजना नहीं चाहते। और जिन व्यक्तियों के बीच में जी रहे हैं वे ही हमें अच्छे लग रहे हैं क्योंकि और व्यक्ति हमने कभी देखे नहीं। जिसने जीवन भर सूखी रोटी खायी हो वह नाना प्रकार के व्यंजनों की कल्पना व कामना कैसे कर सकता है। ऐसे ही हमने अनादि काल से दु:ख भोगा है। अनादिकाल से जिनको देखा है उन्होंने शरीर को ही आत्मा मान रखा है। आज भी मान रखा है हमने उससे बढ़कर कोई देखा ही नहीं। स्वप्न में भी वीतरागी मुद्रा को देखा नहीं, ऐसा कोई मिला ही नहीं जिसने आत्मा-अनात्मा का भेद पहचान लिया हो इसलिये हम आज तक संसार में परिभ्रमण करते रहे। यदि एक बार भी वीतरागी मुद्रा का दर्शन हो जाता तो संभव है हम संसार में परिभ्रमण नहीं करते किन्तु हमारे पास इतना पुण्य संग्रह नहीं हो पाया जिससे वीतरागी मुद्रा को देख सकें। क्योंकि बिना पुण्य के कोई भी व्यक्ति वीतरागी मुद्रा को जाग्रत में तो छोड़ो स्वप्न में भी नहीं देख सकता।

आचार्य कल्याणकीर्ति जी महाराज ने लिखा है-

पश्यन्ति पुण्य रहिता न हि वीतरागं

पुण्य से रहित व्यक्ति वीतरागी मुद्रा को देख नहीं सकता और वीतरागी मुद्रा को देखते ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। यदि अपना पुरुषार्थ प्रबल है तो भगवान् की मूर्ति को देख लो, चाहे

मुनि महाराज को देख लो, चाहे साक्षात् भगवान् को समवशरण में देख लो। अनादि मिथ्यादृष्टि भी देख ले वह भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। वह कहता है हे भगवान् ! आज तक मैंने कभी इस रूप को देखा भी नहीं, आत्मा का रूप तो ये है इन्होंने अपने आत्मा के वैभव को प्राप्त किया है, मैं अब तक कहाँ फँस गया इन मिथ्यादृष्टियों के बीच में। अब तक मैं इसी में लगा रहा लोगों से प्रतिस्पर्धा करता रहा पुद्गल में ही लगा रहा, पुद्गल का ही संग्रह करता रहा पुद्गल नष्ट होता रहा तो रोता रहा, प्राप्त होता रहा तो हंसता रहा किन्तु मैंने आत्मा के वैभव को तो जाना ही नहीं। आज मुझे दिखाई दिया कि आपने आत्मा के वैभव को प्राप्त कर लिया है यही मेरा शाश्वत स्वभाव है मैं इसे प्राप्त करके रहूँगा। इस प्रकार की भावना आना ही सम्यग्दर्शन है। उसको प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करना वह सम्यक्चारित्र है और इस प्रकार का ज्ञान होना वह सम्यग्ज्ञान है।

महानुभाव ! यहाँ यही देखा कि मिथ्यादृष्टि की किस प्रकार की धारणा होती है। अनादि कालीन उन धारणाओं को तोड़ना सरल नहीं है इसीलिये एक ही बात को आचार्य महाराज दो चार बार इधर से उधर से घुमा-फिरा कर कह रहे हैं आपको कैसे न कैसे समझ आ जाये ऐसा आचार्य महोदय का प्रयास चल रहा है।

१२. ज्ञानामृतं भोजनं

देहेस्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम्॥१३॥

अन्वयार्थ-देहे स्वबुद्धिः-शरीर में आत्म बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा **निश्चयात्**-निश्चय से **आत्मानं**-अपनी आत्मा को **एतेन**-शरीर के साथ **युनक्ति**-जोड़ता-बाँधता है। किन्तु **स्वात्मनि एव आत्मधीः**-अपनी आत्मा में ही आत्मबुद्धि रखने वाला अन्तरात्मा **देहिनं**-अपनी आत्मा को **तस्मात्**-शरीर के सम्बन्ध से **वियोजयति**-पृथक् करता है।

प्रत्येक काव्य में उसी बात को विशेष रूप से समझा रहे हैं कि जिसने अपने शरीर को आत्मा मान लिया है, अपनी आत्मा व शरीर को जोड़ रूप एकमेक कर लिया है। जैसे लोहे का गोला अग्नि में पड़ा हो तो वह गर्म हो जाता है। वह मान लेता है गर्मी और लोहा एक हैं, एक दिखाई दे रहे हैं उसमें वह लोहा दिखाई नहीं दे रहा किन्तु जब लोहा ठंडा पड़ जायेगा तो अग्नि शांत हो जायेगी लोहा-लोहा दिखाई देगा। अभी आपकी आत्मा आपको दिखाई नहीं दे रही शरीर दिखाई दे रहा है। तो शरीर और आत्मा एक-मेक हो रहे हैं। जो ज्ञानी पुरुष है जिसकी आत्मा में आत्मबुद्धि है वह जानता है लोहा और अग्नि दोनों एक-मेक होते हुये भी दोनों की सत्ता अलग-अलग है दोनों कभी एक नहीं हो सकते। लोहा कभी अग्नि नहीं हो सकता। अग्नि कभी लोहा नहीं होती। अग्नि का लोहे में प्रवेश हो गया है दोनों एक दूसरे में प्रवेश हो गये हैं फिर भी दोनों में से कोई भी अपने-अपने स्वभाव को छोड़ता नहीं है।

आत्मा का स्वभाव है जानना और देखना। अनंत आकाश के मध्य यह तीन लोक है, तीन लोक में विद्यमान अनंत द्रव्य हैं उन अनंत द्रव्यों की अनंत गुण पर्यायें हैं उन सभी को जानने देखने में हम समर्थ हैं किन्तु अभी नहीं देख-जान पा रहे। क्यों ? क्योंकि हमारी आत्मा पर कर्मों का पटल है, उसके कारण हमारी आत्मा का स्वभाव ढक गया। जैसे-सूर्य का उदय हो जाने से संसार में विद्यमान पदार्थ प्रकाशित होने लगते हैं, सूर्य प्रकाशित करने में निमित्त है और पदार्थों में प्रकाशित होने की शक्ति है यदि सूर्य के ऊपर बादलों का पटल आ जाये तो पुनः सूर्य अपने प्रकाश को देने में असमर्थ होता है और वे पदार्थ प्रकाशित होने में असमर्थ हो जाते हैं। इसी तरह हम अपने शरीर और आत्मा को अलग मानते हैं तब निःसंदेह आत्मा में आत्म बुद्धि करके आत्मा का जब भी ह्रास होता है तब फिर हमें (ज्ञानी पुरुष को) चिंता होती है। किन्तु जो आत्मा के बारे में जानता ही नहीं आत्मा में क्या हो रहा है वह जानता नहीं। वह शरीर की गिरावट उसके ह्रास से चिंतित होता है। शरीर के रोगों से चिंतित होता है क्योंकि वह शरीर को ही आत्मा मान बैठा है। गलती उसकी भी नहीं है, जो व्यक्ति यात्रा करने के लिये जा रहा है यात्रा के लिये उसने

किराये की गाड़ी की और यात्रा करने वाले ने उस गाड़ी के मालिक से कह दिया कि भईया-देखो ये गाड़ी किराये की है रास्ते में जो भी डीजल-पेट्रोल डलेगा वह सब तुम्हारा होगा, यदि गाड़ी की कोई टूट-फूट होती है तो भी जिम्मेदारी तुम्हारी ही है मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं है मैं तो तुम्हें यात्रा का जितना किराया बनता है उतना दूँगा। मालिक ने कहा ठीक है। अब रास्ते में गाड़ी में कोई कमी आती है तो ये बताओ वह यात्री स्वयं का ध्यान रखेगा या गाड़ी का ध्यान रखेगा ? माना कि उसके पास कुछ धन भी है व भूखा भी है और माना कि आवश्यकता गाड़ी को भी है तो क्या कहेगा ? भैया मैं गाड़ी की संभाल न करूँगा, मैं पहले स्वयं की संभाल करूँगा मुझे भूख लगी है तो अपने धन का उपयोग मैं अपने लिये करूँगा। गाडी तेरी है अपनी गाडी की संभाल तू खुद कर मैंने तो बस किराये के पैसे दिये हैं।

महानुभाव ! ऐसे ही हमारी आत्मा तो सवारी हो गयी यह शरीर गाड़ी है, इस शरीर रूपी गाड़ी में बैठकर हम जा रहे हैं तो ऐसा नहीं है कि सवार भूखा बैठा रहे और गाड़ी का ध्यान रखें। अरे जिस घोड़े पर हम सवार होकर जा रहे हैं ठीक है उस घोड़े को भी भोजन पानी देओ पर ऐसा नहीं है स्वयं भूखे प्यासे चलते रहो। आत्मा का भी तो ख्याल रखो। घोड़े को उतना ही दो जितना घोड़े का चारा है आत्मा का भोजन घोड़े को नहीं दिया जा सकता और घोड़े का भोजन आत्मा को नहीं दिया जा सकता दोनों का भोजन अलग-अलग है।

आत्मा का भोजन ज्ञानामृत है और शरीर का भोजन पौद्गलिक पदार्थ हैं। शरीर को वह पौद्गलिक पदार्थ चाहिये जिनमें उसने धारणा-मान्यता-कल्पना मान ली है अर्थात् कभी खट्टा कभी मीठा कभी चरपरा चाहिये। अरे ये शरीर की डिमाण्ड है और आत्मा की डिमाण्ड यही है वह चाहता है थोड़ा आध्यात्मिक उपदेश मिल जाये, कभी सिद्धांत की चार बातें हो जायें, ध्यान कर लूँ, आज मन पूजा-भक्ति करने का हो रहा है, उपवास का मन हो रहा है ऐसी भावनायें आत्मा की होती हैं। यदि हम उपयोग आत्मा में लगायेंगे तो शरीर में उपयोग ज्यादा नहीं लगा पायेंगे। शरीर के लिये इतना ही पर्याप्त है ऐसा नहीं कि सुबह से शाम तक शरीर रूपी घोड़े पर हाथ फिराते रहो, उसे खिलाते रहो और स्वयं भूखे प्यासे रहो। ऐसा कार्य विवेकी मनुष्य नहीं करता अज्ञानी पुरुष ही ऐसा करता है।

महानुभाव ! इस घोड़े की ज्यादा संभाल नहीं करनी है ज्यादा संभाल की तो और कम संभाल की तो ये घोड़ा वहाँ नहीं जायेगा जहाँ हम जाना चाहते हैं। वहाँ तो हमें पैदल जाना होगा, हमारे अंदर इतनी दमखम होनी चाहिये कि जहाँ घोड़ा छोड़ दे वहाँ से हम पैदल जा सकें। महानुभाव ! भेद विज्ञान की प्रक्रिया जब संयोगी भाव में रहती है कि हर संयोग वियोग को प्राप्त होता है इस बात को यदि हम समझ जायें कि इस शरीर का भी संयोग हुआ है इसका वियोग होगा, यदि हमें

अन्य पुत्रभार्यादि का संयोग प्राप्त हुआ है तो वह भी वियोगादि को प्राप्त होगा। इस बात को जान लेंगे तो उसमें आसक्ति नहीं होगी। जिस तरह कायोत्सर्ग में शरीर का उत्सर्ग नहीं किया जाता अपितु जो शरीर के प्रति ममत्व भाव है उसका उत्सर्ग किया जाता है। उसके प्रति जो रति भाव है उसका त्याग करना है। शरीर तो रहेगा किन्तु उस समय हम अभ्यास कर रहे हैं कि शरीर मेरा नहीं है मैं आत्मा हूँ और शरीर अलग है। ये पर्णकुटी अलग है योगी अलग है, योगी को पर्णकुटी छोड़नी ही पड़ेगी और पर्णकुटी छूटेगी ही छूटेगी। पर्णकुटी योगी के साधना करने के लिये है। उस पर्णकुटी की सेवा करने के लिये नहीं है इस पर्णकुटी को प्राप्त कर अपनी साधना करें यही योगी की बुद्धिमानी है। यदि वह जिंदगी भर पर्णकुटी की सेवा में लगा रहेगा तो फिर अन्य सामान्य व्यक्ति और योगी में कुछ अंतर नहीं रहेगा।

भोगी जिंदगी भर पर्णकुटी की सेवा करता है और योगी जिंदगी भर उस पर्णकुटी से अपनी आत्मा के लिये सेवा लेता है। पर्णकुटी की सेवा लेकर आत्मा को परमात्मा बनाने की चेष्टा करता है और भोगी परमात्मा बनने की शक्ति को भूलकर के आत्मा को पर्णकुटी की सेवा में लगा देता है। किन्तु फिर भी पर्णकुटी नष्ट हो जाती है। तब उसे पश्चाताप होता है मैंने यह समय ऐसे ही बर्बाद कर दिया। यदि मैं अपनी बुद्धि को प्रगट कर अपनी आत्मा को जानने की चेष्टा करता तो मेरा समय यूँ ही व्यर्थ न जाता। जिस समय में मैंने पाप बांधा था उस समय में मैं पुण्य का संचय कर सकता था। जिस समय में मैं संसार मार्ग पर चला था उस समय मोक्षमार्ग पर चल सकता था, जिस समय में मैंने बाह्य पुद्गल का वैभव प्राप्त किया है उस समय में मैं पुरुषार्थ करके आत्मा के वैभव को भी प्राप्त कर सकता था।

महानुभाव ! इस प्रकार इस कारिका में आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी संक्षिप्त में यही कहना चाहते हैं कि जो शरीर को आत्मा मानता है शरीर को अपनाता है वह शरीर से जुड़ता ही रहेगा, शरीर पाता ही रहेगा किन्तु जो शरीर को न अपनाकर आत्मा को ही आत्मा मानता है वह शरीर से छुटकारा पा जायेगा। जो देह को चाहता है उसे देह मिलेगा जो आत्मा को चाहता है उसे आत्मा मिलेगा।

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादि कल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत्॥१४॥

अन्वयार्थ-देहेषु-शरीरों में **आत्मधियाा**-आत्मबुद्धि होने से **पुत्रभार्यादिकल्पनाः**-मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादि कल्पनाएँ **जाताः**-उत्पन्न होती हैं **हा**-खेद है कि **जगत्**-बहिरात्मा स्वरूप प्राणिगण **ताभिः**-उन कल्पनाओं के कारण **सम्पत्ति**-स्त्री-पुत्रादि की समृद्धि को **आत्मनः**-अपनी समृद्धि **मन्यते**-मानता है और इस प्रकार यह जगत् **हतं**-नष्ट हो रहा है।

महानुभाव ! जिसकी शरीर में आत्मबुद्धि उत्पन्न हुई है उसने पुत्र-पत्नी आदि में अपनत्व की कल्पना कर ली है। जब देह को अपना नहीं मानेगा तो देह से संबंधित संबंधियों को भी अपना नहीं मानेगा। देह के प्रति तीव्रराग होगा तो उतना ही तीव्रराग देह से उत्पन्न होने वाले तनुज-तनुजा के प्रति, अर्द्धांगिनी के प्रति या जनक-जननी के प्रति, मित्रादि के प्रति भी राग रहता है। वह बहिरात्मा अपनी आत्मबुद्धि कहाँ-कहाँ कर सकता है? जिस-जिस में उसने आत्मबुद्धि कर ली है उस-उस के नष्ट होने पर ये दु:खी होता है रोता है और कई बार तो मृत्यु तक को प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति पहले से ही शरीरादि पर पदार्थों से विरक्त रहे।

आचार्यों ने वैभवादि को एकत्र करने से मना नहीं किया, जितना है बना रहे, चक्रवर्ती के पास भी होता है किन्तु उसमें आसक्ति मत रखो। 'मूर्च्छापरिग्रह:' और बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुष: बहुत आरंभ, परिग्रह नरक का कारण है। क्योंकि आपकी उसमें आसक्ति है। यदि आपके पास चक्रवर्ती से ज्यादा विभूति भी हो जाये तीर्थंकर के समान समवशरण में बैठे हों तब भी तुम्हारे लिये हानिकारक नहीं है। हानिकारक क्या है? हानिकारक है वह आसक्ति, राग की तीव्रता जिसके बिना रह नहीं सकते वह खतरनाक है। बेटे में यदि आसक्ति है तो जब तक बेटा आपकी आज्ञा में चल रहा है तब तक आपको आनंद आ रहा है उसकी सब क्रियायें अच्छी लग रही हैं और एक दिन बेटा विपरीत हो गया फिर कौने में बैठकर आँसू बहा रहे हो कि मैंने कभी सोचा नहीं था कि मेरा बेटा मुझसे मुख मोड़ लेगा।

यदि व्यक्ति पहले से ही अरमान सजाकर बैठेगा और वैसा नहीं हुआ तो नि:संदेह आँसू बहाना पड़ेगा। ऐसे ही यह शरीर जो अब साथ नहीं दे रहा है फिर कहो कि अरे ! मैंने तो इसे खूब खिलाया-पिलाया-सजाया-संवारा सब कुछ किया किन्तु आज ये धोखा दे रहा है। अब क्या करू ? करूँ क्या ? वह तो धोखा देगा ही उसका स्वभाव ऐसा ही है अब अपने परिणामों को आर्त्त करने से क्या होता है पहले से ही अपने परिणामों की आसक्ति को कम रखो। जिससे निर्भीक बने रहो इसीलिये वह निर्भीक समाधि करने वाला साधक कहता है-

''जीने की हो न इच्छा, मरने की हो न वांछा''

जिस समय मृत्यु आनी है उसी समय आये एक समय पहले नहीं, एक समय बाद नहीं मैं प्रसन्नचित्त हो उसी समय तैयार हूँ।

यहाँ पर यही कहना चाह रहे हैं, जो व्यक्ति शरीर में निरासक्त होकर जी रहा है, जो शरीर में ममत्वभाव से रहित होकर जी रहा है, ऐसे व्यक्ति की पुत्रादि परिवार के प्रति आसक्ति भी कम होती है। जब वह संन्यास को ग्रहण करता है, वैरागी होता है तो उसका राग शरीर के प्रति तो कम होता है, भोजन के प्रति भी निरासक्तभाव रहता है और परिवार के प्रति भी उसका राग कम हो

जाता है। क्योंकि उसका उपयोग अब आत्मा की ओर आ गया कि वास्तव में तू क्या कर रहा है। क्या जिंदगी भर बैल बनकर जुतता ही रहेगा कोल्हू में। अरे ! अपनी आत्मा के लिये कुछ कर ये तो सब संसार है। यह सब तो यूँ ही चलता रहेगा इस संसार में तू आत्मबुद्धि रखकर क्यों ठगा जा रहा है अपनी आत्मा को तो देख पहले। अब तेरा अंत समय है, अभी भी नहीं जागेगा तो कब जागेगा।

महानुभाव ! यहाँ बता रहे हैं जिसकी शरीर रूप आत्मबुद्धि उत्पन्न हुयी है अपने शरीर में भी और पुत्र भार्यादि में भी और उनके संवर्धन से ही स्वयं को सम्पन्न समझता है। कहता है महाराज ! मेरे घर क्या कमी, स्त्री है पुत्र है भरा पूरा परिवार है मैं सभी प्रकार से सम्पन्न हूँ। चाहे भले ही मिथ्यादृष्टि है अरे तेरी ये सम्पन्नता क्या आत्मा में है? क्या वह तेरे साथ जायेगी? घर में किसी नये सदस्य का आगमन होने पर फूला नहीं समाता। इस तरह वह संसारी पर-पदार्थों से स्वयं को समृद्ध मानता है। यह सब दु:ख की जड़ है। हा हतं जगत्: हाय रे! ये संसार कैसे नष्ट हो रहा है, यह बड़े खेद की बात है। इन सब झमेले में पड़कर ये संसारी प्राणी अपनी आत्मा को क्यों नहीं देख रहे हैं उसमें ही अपना समय क्यों बर्बाद कर रहे हैं। मोह की अग्नि में जलता हुआ भी आनंद मना रहा है। जब झुलस जाता है तब सोचता है अरे ! मैं तो नष्ट ही हो गया। जब पैर थे, भागने में समर्थ था अपनी रक्षा कर सकता था अर्थात् इस मनुष्यगति में पैर मिले हैं, संयम पथ पर चलकर के व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय दोनों पैर जिसके पास हैं इन्हें ग्रहण कर सकता है सदुपयोग कर सकता है और संसार के जंगल से उसकी दावाग्नि से बच सकता है। जहाँ पर अग्नि कभी लगती ही नहीं ऐसे सिद्धालय में जाकर बैठ सकता है। किन्तु वह इन पैरों का उपयोग न करे, पैरों को पैर समझें ही नहीं, उन पैरों पर कुल्हाड़ी पटक कर पैरों को ही तोड़ ले तो उसके लिये क्या उपाय हो सकता है।

महानुभाव ! यहाँ आचार्य महाराज बता रहे हैं जो संसारी प्राणी शरीरादि पर पदार्थों में आत्मबुद्धि करता है। स्व-पर शरीर में आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गयी है और जो पर शरीरों की समृद्धि को ही अपनी सम्पत्ति मानता है वह व्यक्ति अपनी आत्मा को ही ठग रहा है। ऐसा एक व्यक्ति नहीं लगभग पूरा संसार ही अपनी आत्मा को ठग रहा है। धिक्कार है, हाय रे ! खेद की बात है यह संसार कैसे ठगा जा रहा है मोह के कारण। इस मोह बुद्धि से यह अपने आत्म वैभव को नहीं जान पा रहा।

मूलं संसार दु:खस्य देहे स्वात्मधीस्तत:।
त्यक्त्वेना प्रविशेदन्तर्वहिरव्यापृतेन्द्रिय:॥१५॥

अन्वयार्थ-देहे-इस जड़ शरीर में **आत्मधी: एव**-आत्म बुद्धि का होना ही **संसार दु:खस्य**-संसार के दु:खों का **मूलं**-कारण है। **तत:**-इसलिए **एनां**-शरीर में आत्मत्व की मिथ्या कल्पना को

त्यक्त्वा-छोड़कर **बहिरव्यापृतेन्द्रियः**-बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकता हुआ **अन्तः**-अन्तरंग में अर्थात् आत्मा में ही **प्रविशेत्**-प्रवेश करे।

जिसकी देह में आत्म बुद्धि नहीं होगी जिसे तत्त्वज्ञान हो गया कि पुद्गल का स्वभाव पूरन-गलन है आत्मा अजर-अमर है आत्मा व शरीर दोनों अलग-अलग हैं ऐसा तत्त्वज्ञान जिसे अनुभव में हो गया है (शब्दों में नहीं) ऐसे व्यक्ति को कोई भी दुःखी नहीं कर सकता।

तत्त्वज्ञान हि जीवानाम् लोकद्वय सुखावहं

तत्त्वज्ञानी जीव को इहलोक-परलोक में सुख ही सुख है और

तत्त्वज्ञान विहीनानाम् दुःखमेव हि शाश्वतम्।

तत्त्वज्ञान से हीन व्यक्ति के लिये सर्वत्र शाश्वत दुःख ही दुःख है, उसे कोई सुखी कर ही नहीं सकता। सुखी होने का मात्र एक तत्त्वज्ञान ही उपाय है उससे रहित अवस्था दुःख ही है।

जब तक वह अज्ञानता नष्ट नहीं होगी तब तक दुःख नष्ट नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति को स्वप्न में कोई बदमाश पकड़कर पीट रहे हैं वह रो रहा है-चिल्ला रहा है बचाओ-बचाओ उसके दुःख को कोई नष्ट नहीं कर सकता। जब तक नींद नहीं टूटेगी आँख नहीं खुलेगी तब तक उसका दुःख नष्ट नहीं हो सकता और नींद खुल गयी तो स्वप्न के चोर उसका बाल-बांका नहीं कर सकते। ऐसे ही जब तक अज्ञानता है तब तक उसे कोई सुखी नहीं कर सकता और जब तत्त्वज्ञान हो गया तो उसे कोई दुःखी नहीं कर सकता।

देह ही आत्मा है ऐसी स्वात्म बुद्धि संसार दुःख का मूल है इसलिये इस बुद्धि को त्याग करके, यह इन्द्रियों का बाह्य व्यापार छोड़कर के अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करें अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार में यह व्यस्त न रहे अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करे। क्यों ? यदि वह संसार के दुःखों से बचना चाहता है तो।

शरीर में बुद्धि कर ली, इन्द्रियों के माध्यम से पदार्थ ग्रहण करता है, इन्द्रियों से ग्रहण किये पदार्थों में से सुख खोजता है, पुद्गल में सुख खोजता है। किन्तु सुख इन्द्रियों से नहीं मिलता, पदार्थों से नहीं मिलता, इन्द्रियों की प्रवृत्ति से नहीं मिलता, सुख तो आत्मा को आत्मा में रहने से मिलता है। आत्मा को आत्मारूप जानने से मिलता है उसमें लीन होने से मिलता है। जिसकी आत्मा का उपयोग बाह्य पदार्थों में भटक रहा है, आत्मा भटक रही है ऐसी आत्मा को सुख बाहर में कहाँ मिलेगा। जो चीज जहाँ है वहीं तो मिलेगी। जहाँ है वहाँ छोड़कर तीन लोक में कहीं भी खोजते रहो मिलेगा नहीं। इसीलिये आप पढ़ते हैं-

दामबिना निर्धन दुःखी तृष्णावश धनवान।
कबहुँ/कहऊँ न सुख संसार में सब जग देख्यो छान॥

किसी भी काल में और किसी भी क्षेत्र में आत्मा का सुख तुम्हें नहीं मिलेगा, आत्मा का सुख तो आत्मा में ही मिलेगा। उसे आप कभी भी खोज सकते हो और कहीं भी बैठकर उसका अनुभव कर सकते हो। आत्मा का सुख प्राप्त करने के लिये कोई निश्चित स्थान नहीं है। निश्चित काल नहीं है वह तो कभी भी कहीं भी मिल सकता है किन्तु मिलेगा आत्मा में ही आत्मा को छोड़कर कभी भी कहीं भी अन्यत्र नहीं मिलेगा।

महानुभाव ! इस कारिका के माध्यम से आचार्य महाराज बताना चाह रहे हैं कि संसार के सभी क्लेशों का मूल कारण शरीर को आत्मा मान लेना है। इस कारण जो सभी क्लेशों से छूटना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि इस देह रूपी आत्मबुद्धि का त्याग कर व बाह्य विषयों से इन्द्रियों का व्यापार बंद कर अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्व में स्व-उपयोग को लगायें।

१३. पर को अपना मान बैठा

मत्तश्च्युत्वेन्द्रिय द्वारैः पतितो विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः॥१६॥

अन्वयार्थ-**अहं**-मैं **पुरा**-अनादिकाल से **मत्तः**-आत्म स्वरूप से **च्युत्वा**-च्युत होकर **इन्द्रिय द्वारैः**-इन्द्रियों के द्वारा **विषयेषु**-विषयों में **पतितः**-पतित हुआ हूँ-अत्यासक्ति से प्रवृत्त हुआ हूँ **ततः**-इसी कारण **तान्**-उन विषयों को **प्रपद्य**-अपने उपकारक समझ कर मैंने **तत्त्वतः**-वास्तव में **मां**-आत्मा को **अहं इति**-मैं आत्मा हूँ इस रूप से **न वेद**-नहीं जाना-अर्थात् उस समय शरीर को ही आत्मा समझने के कारण मुझे आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान नहीं हुआ।

महानुभाव ! इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थ तो ग्रहण करने में आ सकते हैं किन्तु आत्मा ग्रहण करने में नहीं आती। इसके पास वह शक्ति नहीं है जिसके माध्यम से आत्मा ग्रहण कर सके, आत्मा को पकड़ने के लिये तो आत्मा को ही जाग्रत करना पड़ेगा उसे ही सावधान करना पड़ेगा। जब तक आत्मा सोयी पड़ी है, मिथ्यात्व में लिपटी पड़ी है जब तक आत्मा बहिरात्मा बुद्धि से जी रही है तब तक उसके पास आत्मा को जानने की पकड़ने की शक्ति नहीं आ सकती। इसी बात को यहाँ कह रहे हैं-

कि निश्चय से अपनी आत्मा को न जानता हुआ अनादिकाल से उन पदार्थों को मैं अपना उपकारी मानता रहा इन्द्रियों द्वारा जिन्हें मैंने ग्रहण किया था, इसलिये मैं अपने स्वभाव से च्युत होकर के पंचेन्द्रियों के विषयों में पतित हो गया हूँ।

महानुभाव ! कोई व्यक्ति छत पर खड़ा हुआ है, उसकी दृष्टि जहाँ-जहाँ तक जा रही है वह देख सकता है। एक व्यक्ति छत से नीचे खड़ा हुआ है वह चार दीवारी के बीच में पड़ा हुआ है वह अंदर की वस्तु को जान सकता है बाहर की वस्तु नहीं जान सकता। बाहर वाला अंदर की वस्तु को नहीं जान सकता अंदर वाला बाहर की वस्तु को नहीं जान सकता। अंदर वाले को लगता है अंदर जो है वही मेरा सब कुछ है, बाहर वाले को लगता है बाहर ही सब कुछ मेरा है। अंदर में क्या है क्या नहीं इस बात का परिज्ञान उस बाहर वाले को नहीं है, अंदर वाले को बाहर भी कुछ है इसका कुछ मालूम नहीं। ऐसे ही बहिरात्मा और परमात्मा का भेद है। बहिरात्मा बाहर के पदार्थों को ही अपना मानकर ये मेरा-वो मेरा है बैठा है। परमात्मा जो अंदर में पहुँच गया किन्तु अंदर पहुँचे परमात्मा को ये तो भान है कि ये मेरा है मैंने स्वयं को समग्र रूप से प्राप्त कर लिया है किन्तु वह बाहर वाले पदार्थों का भी अवलोकन करता है। पर रूप से अवलोकन करता है। वह इतना निर्मल हो जाता है कि पर पदार्थ उसे पररूप में परिलक्षित होते हैं, उसके द्वारा अवगम्य व प्रतिभासित होते हैं।

अंदर वाले को मानकर चलें कि अंदर में कैमरे लगे हैं, कैमरे लगे होने से बाहर का सब दृश्य उसमें दिखाई दे रहा है वह देख नहीं रहा किन्तु दिखाई दे रहा है। बाहर वाला जहाँ खड़ा है मात्र वही देख पा रहा है। इसे ऐसे समझ सकते हैं-

एक भवन में पाँच दरवाजे हैं एक पूरब में, एक पश्चिम में, उत्तर में व दक्षिण में, पाँचवा दरवाजा माना कि सुरंग आती है नीचे से। अब कोई व्यक्ति आ रहा है तो भवन में बैठा एक व्यक्ति एक बार में एक दरवाजे से आने वाले व्यक्ति को ही देख पाता है और उन पाँचों में से आने वाले व्यक्तियों में से वह छाँटता है कौन सा मेरा मित्र है कौन सा मेरा शत्रु। जो मित्र होता है उसके स्वागत में लग जाता है जिसे शत्रु मान लेता है उससे लड़ने में लग जाता है। वह व्यक्ति इन्द्रियों में आसक्त व्यक्ति की तरह से है बहिरात्मा है। वहीं उस भवन में दूसरा व्यक्ति बैठा है। वह मात्र अंदर से बैठकर देख रहा है जो जिस दरवाजे से आ रहा है आने दो, जा रहा है जाने दो मुझे कोई हर्ज नहीं जहाँ मैं बैठा हूँ वहाँ पाँचों में से कोई दरवाजा नहीं आता, बाहर का व्यक्ति उस दरवाजे को तोड़कर मेरे पास तक आने में असमर्थ है। मैंने पंचेन्द्रिय विजयनाम की सेना वहाँ लगा दी है इसलिये पंचेन्द्रिय के द्वार से आने वाले शत्रु यहाँ प्रवेश नहीं कर पायेंगे। मैं यहाँ पर अंदर बैठ गया चारों कषायों को जीतकर के। प्रशम भावादि मैंने अंगरक्षक नियुक्त कर रखे हैं मेरी आत्मा के पास अब कोई नहीं आ पायेगा। इसके साथ-साथ मैं भी स्वयं संयम का कवच धारण कर बैठ गया मेरे पास वैराग्य की शक्ति है, मेरे पास ध्यान की शक्ति है। मेरी आत्मबल शक्ति का नाम जब वे सुन लेते हैं तब पाँचद्वार से आने वाले विषय रूपी चोर, नाम सुनते ही भागते हैं। तो ऐसा जो तत्त्वज्ञानी होता है आत्मज्ञानी होता है वह परमात्मा होता है उसके पास पाँच इन्द्रिय से आने वाले विषय आते ही नहीं हैं। वह बहिरात्मा कभी रसना इन्दिय के द्वार पर, कभी स्पर्शन इन्द्रिय के द्वार पर इन्हीं द्वार-द्वार पर चक्कर लगाता रहता है।

महानुभाव ! इस प्रकार यहाँ 16वें काव्य में आचार्य महाराज कह रहे हैं कि अनादिकाल से यह आत्मा अपने आत्मस्वरूप के उपयोग में नहीं है इसी कारण इन्द्रिय द्वारों से इन्द्रिय विषयों को जानता आया और इन्द्रिय विषयों में पतित हो गया तथा आसक्त हो गया। इन कारणों से इस जीव ने अब तक अपनी आत्मा को जाना ही नहीं, फिर आत्महित का आरम्भ ही कैसे हो?

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एषः योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः॥१७॥

अन्वयार्थ-एवं-आगे कहे जाने वाली रीति के अनुसार **बहिर्वाचं**-बाह्यार्थवाचक वचन प्रवृत्ति को **त्यक्त्वा**-त्यागकर **अन्तः**-अन्तरंग वचन प्रवृत्ति को भी **अशेषतः**-पूर्णतया **त्यजेत्**-छोड़ देना चाहिए। **एषः**-यह बाह्याभ्यन्तर रूप से जल्पत्यागलक्षण वाला **योगः**-योग-स्वरूप में चित्त निरोध

लक्षणात्मक समाधि ही **समासेन**-संक्षेप से **परमात्मनः**-परमात्मा के स्वरूप का **प्रदीपः**-प्रकाशक है।

इस प्रकार जो पंचेन्द्रियों से हमारी बाह्य प्रवृत्ति चल रही है पंचेन्द्रियों के द्वार से जो ग्रहण कर रहे हैं उसको त्याग करें। बाहर से तो इन्द्रियों की प्रवृत्ति बंद कर दी किन्तु अन्तर्जल्प जो चल रहे हैं, अन्दर में जो विकल्प आ रहे हैं आँख से देख नहीं रहे पर पहले का देखा हुआ है सो विकल्प आ रहा है, अभी जीभ से चख नहीं रहे पहले चखे हुये का विकल्प आ रहा है या मन से अभी विचार नहीं कर रहे जो पहले कभी विचार किये थे वही अचानक टपक जाते हैं। तो यहाँ पर कह रहे हैं इस प्रकार से बाह्य पदार्थों का त्याग करके वचन से भी त्याग कर दो और वचनों को भी त्याग दो एवं सम्पूर्ण रूप से अन्तर्जल्पों का भी त्याग कर दो। शरीर को निश्चेष्ट बनाकर बैठ जाओ, वचनों से भी मौन लेकर बैठ जाओ और अन्तरंग के विकल्पों को भी छोड़कर बैठ जाओ।

महानुभाव ! आचार्य कह रहे हैं अपने परमात्म स्वभाव का प्रकाशक क्या है ? ध्यान और योग है। लोग कहते हैं-महाराज श्री हमें ध्यान लगाना सिखा दो-भईया कैसे सिखा दें।

एक किसान कहता है मुझे हीरे की परख करना सिखा दो किन्तु मैं अपनी खेती करना नहीं छोड़ सकता। भाई ! खेती छोड़कर आना पड़ेगा तभी परीक्षा कर पायेगा। इसी तरह पंचेन्द्रिय विषयों के व्यापार को छोड़कर आना पड़ेगा तभी कुछ हो पायेगा। पहले तो इन बहिर्विषय पदार्थों का, बाह्य विकल्पों का, शरीर की चेष्टाओं का त्याग कर। अन्तरंग के विकल्पों का भी त्याग कर उसके उपरांत यह योग है, समाधि है, सहजभाव है। यह समाधि भाव ही आपकी उत्कृष्ट आत्मा का प्रकाश है। बाहर के शास्त्रों का ज्ञान तुम्हारी आत्मा का प्रकाशक नहीं है। अन्तरात्मा से उत्पन्न हुआ ज्ञान व ज्ञान में हुयी एकाग्रता रूप ध्यान वह सहज समाधि उसमें ही वह आत्मा प्रकट होगा। आपके अनुभव में आयेगा।

योगी भी शास्त्रों को पढ़ना छोड़कर जब आत्म ध्यान में बैठते हैं तब आत्मानुभव करते हैं। पढ़ते-पढ़ते किसी भी परमेष्ठी का बाह्य स्वरूप देखने में आता है किन्तु अंतरंग तक हम अभी तक नहीं पहुँच पाये। जब ध्यान में पहुँचते हैं तब वहाँ शब्दों का व्यापार नहीं चलता उसे तो छोड़कर जाना पड़ता है।

यह श्लोक कई भ्रान्तियों को दूर करने वाला है। एक काम को छोड़ो, तुम यदि धूप में बैठकर छाया का अनुभव करना चाहो तो कैसे करोगे। छाया का अनुभव करोगे तो धूप छूट जायेगी। यदि कदाचित् धूप में बैठकर छाता भी लगा लिया और कहो कि धूप में छाया का अनुभव कर रहा हूँ, तो भईया उतनी देर के लिये ही सही धूप का त्याग तो करना पड़ेगा। महानुभाव ! जब पंचेन्द्रिय विषयों के द्वारा हम आनंद का अनुभव कर रहे हैं उस समय आत्मा के आनंद का अनुभव नहीं

किया जा सकता और जिस समय आत्मा के आनंद का अनुभव कर रहे हैं उस समय पंचेन्द्रिय के विषयों का अनुभव नहीं किया जा सकता।

इस बात को भी छोड़ो-जब पाँच इन्द्रिय में से किसी एक इन्द्रिय के आनंद का अनुभव ले रहे हो उस समय दूसरी इन्द्रिय के आनंद का अनुभव नहीं ले सकते। यदि आप देखने में मस्त हो तो देख रहे हो कोई कितनी ही आवाज लगा रहा हो सुन भी नहीं पाते। यदि आँख बंद कर कुछ सुन रहे हो तो सुन ही रहे हो यदि आँख खोलकर कुछ दिख भी जाये तो आपका उपयोग उस समय वहाँ नहीं जायेगा। तो एक समय में एक को ही विशेष रूप से ग्रहण करते हैं। इन्द्रियाँ पाँचों एक साथ ग्रहण कर रही हैं ऐसा लगता है, पर है नहीं जैसे एक व्यक्ति ने पापड़ खाया पापड़ की गंध भी आ रही है, उसका वर्ण भी दिखाई दे रहा है, स्पर्श कठोरपन भी दिखाई दे रहा है चर-चर की आवाज भी आ रही है। आप कहेंगे पाँचों इन्द्रियाँ एक साथ काम कर रही हैं पाँचों उसे ग्रहण कर रहे हैं किन्तु नहीं एक समय में एक इन्द्रिय एक ही विषय को ग्रहण करती है। समय इतना सूक्ष्म है कि पकड़ में नहीं आता। आप कहेंगे तीनों योग क्या साथ चलते हैं क्योंकि हम चलते भी जा रहे हैं, बोलते भी जा रहे हैं और सोचते भी जा रहे हैं। नहीं ! एक समय में एक उपयोग को ही ग्रहण करते हैं ये आपको लग रहा है कि हम तीन काम एक साथ कर रहे हैं पर एक साथ तीन काम नहीं हो सकते।

१४. मौन सदा सुखदायी

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥१८॥

अन्वयार्थ-**मया**-इन्द्रियों के द्वारा मुझे **यत्**-जो **रूप**-शरीरादिक रूपी पदार्थ **दृश्यते**-दिखाई दे रहा है **तत्**-वह अचेतन होने से **सर्वथा**-बिल्कुल भी **न जानाति**-नहीं जानता और **जानत् रूपं**-जो पदार्थ को जानने वाला चैतन्यरूप है वह **नदृश्यते**-मुझे इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं देता **ततः अहं**-इसलिये मैं **केन**-किसके साथ **ब्रवीमि**-बात करूँ।

यहाँ योगी के लिये कहा कि साधना में योगी बैठा है पूछा महाराज ! आप मौन लेकर क्यों बैठे हो ? वे बोले किससे बोलूँ बताओ ? जो दिखाई दे रहा है वह शरीर दिखाई दे रहा है और शरीर तुम नहीं हो तुम्हारी आत्मा बोलती नहीं, हमारी आत्मा बोलती नहीं तुम्हें हमारा शरीर दिखाई दे रहा है, हमें तुम्हारा शरीर दिखाई दे रहा है आत्मा तो अनुभव की चीज है।

''अनंतानंत धी शक्ति स्वसंवेद्यो चलस्थितिः''

आत्मा में तो अनंतानंत ज्ञान शक्ति है किन्तु पुद्गल में ज्ञान शक्ति है क्या ? पुद्गल तो पुद्गल है। जब तक इस पुद्गल के साथ में आत्मा विद्यमान है उस आत्मा में आयु कर्म है, नामकर्म है, अन्य कर्म हैं उनका उदय चल रहा है तब तक ये शरीर ठहरा हुआ है उस पुद्गल में से आत्मा निकल जाये तो लोग कहने लगते हैं जल्दी से इस शरीर का संस्कार करो देर हो रही है, मिट्टी कब तक रखोगे इसमें जीव पैदा हो जायेंगे तो हिंसा का दोष लगेगा।

इस पुद्गल में आत्मा है जिदंगी भर उस पुद्गल की सेवा तो की जाती है किन्तु आत्मा से परिचय नहीं किया जाता। इस शरीर के साथ हम जिंदगी भर रहते हैं किन्तु फिर भी कई बार ऐसा होता है कि जिंदगी पूरी हो जाती है हम अपने आप को नहीं जान पाते। घर में रहकर के घर की सफाई में तो जिदंगी भर लगे रहते हैं, घर को सजाने में लगे रहते हैं किन्तु हम कौन हैं इसे नहीं जान पाते, हमें क्या करना है, हमारा क्या कर्त्तव्य है ये हमें बोध नहीं हो पाता।

यहाँ पर आचार्य महोदय यही कह रहे हैं कि संसार में अब किससे बोलें किससे चर्चा करें। चर्चा भी करते हैं तो सिवाय संसारी चर्चा के उसके पास और कोई चर्चा नहीं है। बस लोग यही आशीर्वाद माँगते हैं कि महाराज श्री हमारे पुद्गल की वृद्धि हो। आत्मा के लिये तो कोई माँगता ही नहीं कि हे गुरुदेव ! मेरी आत्मा में मेरे चेतना के गुणों का विकास हो, मेरी आत्मा में भी परमात्मा जैसे गुण प्रकट हों, मैं भी संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो जाऊँ, मैं वीतराग दशा को प्राप्त हो जाऊँ, मैं सर्वज्ञता को प्राप्त करूँ, मैं जिनस्वरूप को प्राप्त करूँ ऐसा तो कोई कहता नहीं जो भी कहता है पुद्गल के लिये ही कहता है।

महानुभाव ! संसार में ऐसे व्यक्ति खोजना मुश्किल है असंभव तो नहीं जो कहते हों कि हे प्रभु मैं अपनी आत्मा में आत्मा के गुण कैसे प्रकट करूँ उसका क्या उपाय है। यहाँ कह रहे हैं या तो कम से कम बोलो-मौन बहुत बड़ी साधना है। देखो उपवास करना इतना कठिन नहीं है जितना मौन लेना कठिन है। छोटा बालक स्कूल में पढ़ने जाता है उसे यदि एबीसीडी याद हो जाती है तो वह घर में आते ही सुनाना शुरू कर देगा और सुनायेगा क्या घर को ही सिर पर उठा लेगा। उसके सामने तुम यदि जानबूझ कर भूल करो एक दो लेटर छोड़ दो तो वह बालक बीच में ही टोक देगा ऐसा नहीं, ऐसा है वह चुप नहीं बैठ सकता।

तो आचार्य महोदय कहते हैं ज्ञान को पचाना बहुत मुश्किल है। मौन बहुत बड़ी साधना है, और मौन रहने से संसार का विच्छेद होता है क्योंकि वचनालाप करने से संसार की वृद्धि होती है वचनालाप करने से संबंध बनते हैं वृद्धि को प्राप्त होते हैं स्थिरता को प्राप्त होते हैं और जितना कम बोलोगे, बस बोलना कम और ज्यादा हुआ तो आँख बंद और ज्यादा हुआ तो क्या कह रहा है सुनो ही मत। व्यक्ति कब तक बैठेगा तुम उसे देख भी नहीं रहे, बोल भी नहीं रहे उसकी सुनी को भी अनसुनी कर रहे हो, वह कहेगा 'अरे आप तो पत्थर की मूर्ति बने हो मुझे तो जाना है। दूसरे दिन कहेगा मुझे उनके पास नहीं जाना वे तो बोलते ही नहीं हैं। यहाँ पर यही कह रहे हैं कि व्यक्ति मौन साधना करे-

मौन साधना करना प्यारे, मौन सदा सुखदायी है।
आत्म शांति का अनुभव होगा, सुख की यही दवाई है॥

क्योंकि जितना तुम बोलोगे उतने विकल्प तुम्हें ज्यादा आयेंगे तुमने किसी से अच्छा बोल दिया तो तुम्हें लगेगा इससे ये बात और बोल देता तो अच्छा रहता, यदि तुमने कोई बात गलत बोल दी तो विकल्प आयेगा अरे ! मैंने उससे ऐसा बोल दिया नहीं बोलता तो ठीक रहता। जितना शांत रहोगे उतनी शांति मिलेगी। जितने भी महापुरुष रहे उनकी प्रवृत्ति बड़ी शांत रही किसी ने जितना पूछ लिया उतना जवाब दिया और शांत। तीर्थंकर भगवान् भी जब तक छदमस्थ रहते हैं (दीक्षा के उपरांत) बोलते ही नहीं। चाहे कोई पूजा करे तो करो, निंदा करे तो करो, उपसर्ग करे तो करो जो कुछ करना है सो करो तुम्हारा काम तुम जानो उन्हें दूसरों के काम से कुछ लेना देना नहीं अपने आप से मतलब है अपने आप में मस्त हैं अपनी साधना करना है। तो मौन आत्म शांति का सबसे बड़ा उपाय है।

जो व्यक्ति वास्तव में शांति चाहता है तो सबसे पहले मौन की साधना शुरू कर दो। घर में भी अशांति हो रही हो तो शांति की स्थापना करने के लिये कम से कम बोलें। जितना कम वार्तालाप होगा उतने झगड़े कम से कम होंगे। यह मौन गृहस्थ जीवन में भी और साधु जीवन में

भी बहुत अच्छा है। बोलना बहुत लोग जानते हैं किन्तु यह कम लोग जानते हैं कि हमें क्या बोलना चाहिये। सुनने वाले लोग संसार में कम हैं बोलने वाले ज्यादा। वक्ताओं की बाढ़ आ रही है, श्रोताओं की कमी हो रही है। दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सब बोलने वाले हैं सबके पास रसना इन्द्रिय है बोलने की शक्ति है। लोग सुनाना ज्यादा चाहते हैं सुनना कम चाहते हैं। जब तुम्हारे जीवन में सुनने की क्षमता आ जाये तब समझ लेना तुम्हारा मोक्षमार्ग प्रारंभ हो गया। दौलतराम जी ने छहढाला में लिखा-

''ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण'' बिना सुने तो सम्यक्त्व की प्राप्ति भी नहीं होती। देशना लब्धि के बिना प्रारंभ की दोनों लब्धि बेकार हैं और आगे की दो लब्धि होती नहीं। देशनालब्धि मध्य दीपक है जिसका प्रभाव आगे वाली लब्धियों पर भी जाता है और पीछे वाली लब्धियों पर भी जाता है। जिस तरह सम्यग्ज्ञान मध्य दीपक है ज्ञान के बिना न सम्यक्त्व दृढ़ हो सकता है न चारित्र में निर्मलता आ सकती है। यहाँ पर यही कह रहे हैं कि सुनो ज्यादा। आचार्यों ने कहा है बिना सुने सम्यक्त्व की भी प्राप्ति नहीं होती, बिना सुने सम्यग्ज्ञान व चारित्र की वृद्धि नहीं होती बिना सुने वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती, बिना सुने आत्मध्यान नहीं होता और न ही तप की प्राप्ति होती है सुनना बहुत जरूरी है। ऐसे अनंत केवली हो गये जिनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी वे मोक्ष चले गये किन्तु ऐसा एक भी सम्यग्दृष्टि नहीं है जिसने बिना सुने सम्यक्त्व भी प्राप्त कर लिया हो केवली बनना तो बहुत दूर की बात है।

सुनना बहुत जरूरी है। श्रावक किसे कहते हैं-श्रावक शब्द श्रु धातु से बना है, जिसका अर्थ है सुनना तो श्रावक उसे कहते हैं जो सुनता है सो श्रावक है। श्रमण की बात सुनता रहे सो श्रावक है उपासक है। सुनते-सुनते ही वह श्रमण बनता है बिना सुने श्रमण नहीं बनता। जो बिना सुने बोलता है, आधी बात सुनकर के बोलता है उसकी बात पर विश्वास नहीं करना चाहिये। जिसकी बात सुनने की क्षमता है वह कुछ बोले तो प्रभाव पड़ता है। यदि घर में कभी बच्चे नाराज हो गये उन्होंने कुछ बोला और पिता जी शांति से सुनते रहे एक शब्द भी नहीं बोले बाद में कोई बात हुयी उन्होंने थोड़ा सा बोल दिया तो बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और जो सुन नहीं सकता है उसकी बात को भी कोई सुनना नहीं चाहता जो सबकी सहन कर लेता है उसकी बात का बड़ा प्रभाव पड़ता है उसकी बात भी सब सुनना चाहते हैं।

यहाँ पर यही कहा-मैं किससे बोलूँ ? क्योंकि जो मुझे दिखाई दे रहा है वह तो मात्र शरीर है न मुझे उसकी आत्मा दिखाई दे रही न उसे मेरी आत्मा दिखाई दे रही। आत्मा को आत्मा देखने में आवे तो आनंद आये। ऐसे मैं किससे बोलूँ पुद्गल से बोलकर मैं क्या करूँगा। यहाँ यही कह रहे हैं कि जितना मौन रखें उतना ज्यादा अच्छा है।

१५. जैसी संगत वैसी रंगत

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥१९॥

अन्वयार्थ-**अहं**-मैं **परैः**-उपाध्याय आदिकों से **यत्-प्रतिपाद्यः**-जो कुछ प्रतिपादित किया जाता हूँ तथा **परान्**-शिष्यादिकों को **यत् प्रतिपादये**-जो कुछ प्रतिपादन करता हूँ **तत्**-वह सब **मे**-मेरी **उन्मत्तचेष्टितं**-पागलों जैसी चेष्टा है **यदहं**-क्योंकि मैं **निर्विकल्पकः**-विकल्प रहित हूँ-वास्तव में मैं इन सभी वचन-विकल्पों से अग्राह्य हूँ।

दो बात हो गयीं-जो दूसरों के द्वारा प्रतिपादन (व्यवहार) किया जाता है वह तथा जो व्यवहार मैं दूसरों के प्रति प्रतिपादन करता हूँ वह। ऐसा लगता है वह मेरी चेष्टा पागलों जैसी है।

मैं तो विकल्पों से रहित हूँ यदि मैं फिर भी ऐसी चेष्टा कर रहा हूँ तो मुझमें और पागल में क्या अन्तर है। पागल भी तो ऐसी चेष्टा करता है जिस चेष्टा का कोई लेना-देना नहीं। कैसे-? कोई शराबी व्यक्ति शराब पीकर अनावश्यक शब्द बोल रहा है, उन शब्दों की कोई संगति नहीं बैठ रही। जैसे-ये कोठी है न इसका जन्म परसों ही हुआ था एक गाय ने इसको जन्म दिया है अथवा ये नीम का पेड़ है न (जबकि पेड़ आम का है) ये पेड़ मुझे अभी चौराहे पर मिला था मुझसे पहले दौड़कर यहाँ पर खड़ा हो गया, लोग क्या कहेंगे ? लगता है ज्यादा पीकर आ गया। ऐसी अनर्गल बातें कोई बुद्धिमान व्यक्ति सुनेगा तो क्या कहेगा ? पागल है। जैसे उस शराबी व्यक्ति की उल्टी-सीधी बातें जैसी भी वह कर रहा है कोई सामने से बस आयी तो कहने लगा ये बस मेरी है और बस चली गयी तो रोने लगा ऐसे ही संसारी प्राणी कहता है ये मेरा है किसी का जन्म हुआ तो मेरा बेटा मेरा पोता, चला गया तो रोने लगा। उस शराबी की चेष्टा में बुद्धिमान व्यक्ति अपना उपयोग नहीं लगाता। ऐसे ही मोही प्राणी मोह की मदिरा पीकर बोलता है मेरा बेटा, मेरी बहू, मेरी पत्नी। आत्मा सबकी अलग-अलग है कौन किसका अपना हो सकता है कोई नहीं हो सकता।

यहाँ कह रहे हैं ये सब कहना-करना पागलों जैसी चेष्टा है। योगी जो ध्यान में बैठे हैं कभी संसारी प्राणियों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो उन्हें लगता है ये मूढ़ प्राणी क्या कर रहे हैं। तीन लोक में अनादि से भ्रमण कर रहे हैं यहाँ किसी से राग किया किसी से द्वेष किया, परभव में अन्य-अन्य से रागद्वेष करेंगे, अपनी जिंदगी यूं ही बर्बाद कर देंगे। योगी देखता है ये अपना अमूल्य समय केवल पागलपन में व्यर्थ कर रहे हैं, यदि चाहें तो इस अमूल्य समय में अपनी आत्मा का कल्याण किया जा सकता है।

जैसे कोई किसान देख रहा है कि कोई दूसरा किसान अनावश्यक रूप से अपने समय को बर्बाद कर रहा है। अभी समय पर खेत में बीज नहीं बो रहा, बो देगा तो समय पर फसल आ सकती है। इसके पास बीज भी हैं, खेत भी है, सिंचाई का साधन भी है किन्तु फिर भी मूर्खता भरे काम करता है। यह सब देख वह किसान कहता है ये पूरा मूर्ख है तो ऐसे ही योगी भी सोचता है कि ये संसारी प्राणी तो मूर्ख हैं, इन पर पागलपन सवार हो गया है ऐसा पागलपन जैसे किसी को भूत की व्याधा सवार हो जाती है वह पागल सा हो जाता है। योगी उन संसारी प्राणियों के लिये यही सोचता है कि देखो ! इनकी कितनी अज्ञानता है इन्हें बोध नहीं है ये क्या हैं और क्या कर रहे हैं इनकी करनी का फल इन्हें क्या प्राप्त होगा। कई बार साधु जब विहार कर रहे होते हैं तो कई युवा उन्हें देखकर हंसी उड़ाने लगते हैं उपहास सा करने लगते हैं तो मुनिराज, वे योगी उनसे कुछ कहते नहीं अपितु उनकी उस अज्ञान बुद्धि पर तरस खाते हैं विचारते हैं हे प्रभु! इन्हें नहीं पता कि अज्ञानता में ये कैसे पाप का बंध कर रहे हैं। इन्हें अपनी चेष्टाओं का बोध ही नहीं।

जैसे राजा श्रीपाल ने श्रीकंठ की पर्याय में एक तपस्या करते हुये मुनिराज की निंदा की कहा देखो कुष्ट बह रहा है और उन्हें समुद्र में डाल दिया, पुनः निकाला भी। तो आगे श्रीपाल की पर्याय में वे भी कुष्टी हुये, उन्होंने श्रीकंठ की पर्याय में ही अपशब्द भी कहे थे तो पुनः आगे भांड़ पुरुषों द्वारा उनके लिये कहा गया कि ये हमारे परिवार का ही है ऐसा उन पर अपवाद लगाया गया। तो व्यक्ति अज्ञानता में कितने-कितने पाप का बंध कर लेता है।

वेगवती की पर्याय में सीता ने सुदर्शन मुनि और सुदर्शना आर्यिका को देखकर दोष लगाया कि वे एकांत में अशिष्ट चेष्टा कर रहे होंगे दोनों अकेले थे ये बात नगर में फैला दी। वे दोनों आर्यिका, मुनि गृहस्थ जीवन की अपेक्षा से भाई बहिन थे। तो वेगवती की पर्याय में कही गयी निंदा का परिणाम ये हुआ कि सीता की पर्याय में उनका भी अपवाद हुआ। व्यक्ति अनजाने में न जाने कितने कर्मों का बंध कर लेता है।

महानुभाव ! आज संसारी प्राणी एक दूसरे को सुधारना चाहते हैं स्वयं को कोई नहीं सुधारना चाहता। जो स्वयं को सुधारना चाहता है उसे कहते हैं साधु/योगी। जो अपने आप को सुधार लेता है उसे कहते हैं महापुरुष। संसार में स्वयं को सुधारने वाले का अनुकरण पूरी दुनिया करना चाहती है जो दूसरों को सुधारना चाहते हैं उनसे सब हाथ जोड़ते हैं भैया पहले स्वयं को सुधार लो।

यहाँ आचार्य महाराज यही कह रहे हैं-जो क्रियायें दूसरों द्वारा मनसा-वाचा-कर्मणा की जा रही हैं कुछ भी किया जा रहा है वह तथा दूसरों के प्रति मैं जो कुछ भी प्रतिपादित करता हूँ वह सभी उनकी व मेरी दोनों की चेष्टायें पागल जैसी हैं। पागल-पागल मिल जायें तो पागल-पागल के साथ ही रह सकते हैं पागल में कोई बुद्धिमान हो जाये तो साथ में रहना कठिन हो जाये।

एक नगर में दो कुयें थे। एक कुआँ राजा के महल में था दूसरा नगर के बाहर। बाहर के कुयें से पूरे नगर के लोग पानी पीते थे महल के कुयें से राजा पानी पीता था। हुआ ये कि नगर वाले कुयें में किसी व्यक्ति ने कुछ मादक पदार्थ डाल दिया इसके कारण लोग पानी पीकर पागल से हो गये, कपड़े उतारकर नाचने लगे। अब राजा ने देखा कि लोग पागल हो गये हैं। वे लोग कहने लगे कि हमारा राजा पागल हो गया। मंत्री राजा के पास आया कहने लगा महाराज ! ये जनता आपको मार देगी क्योंकि वे एक स्वर में यही कह रहे हैं कि हमारा राजा पागल हो गया है इसे गद्दी से उतारो। अब तो आप भी उनके साथ उन जैसी चेष्टा करो तब तो आप रह सकते हो, नहीं तो नहीं रह सकते।

राजा ने कहा–ये पागल हैं तो क्या मैं भी पागलों जैसी चेष्टा करूँगा। मंत्री समझ गया कि राजा के कुयें का पानी ठीक है। मंत्री को पागलपन कम सवार हुआ था क्योंकि वह आधा पानी राजा के महल का भी पीता था, आधा पानी बाहर का भी पीता था आधी समझदारी थी। उसने सोचा ऐसे तो काम नहीं चलेगा मुझे जनता का हित भी करना है राजा का हित भी करना है। वह बोला महाराज ! आज आपका दावत के लिये निमंत्रण है। राजा बोले मैं कहीं नहीं जाऊँगा, वह बोला कोई बात नहीं मैं भोजन बनवाकर यहीं ले आऊँगा। राजा को भोजन कराया वहीं नगर का पानी पिलाया। अब क्या राजा भी वैसी ही चेष्टा कर रहा है जनता कहने लगी वाह ! हमारा राजा यहीं रहेगा। अब हम राजा को नहीं छोड़ेंगे। पागलों में तो हजारों पागल मिलते चले जायें कोई बात नहीं किंतु पागलों के बीच में बुद्धिमान नहीं रह सकता। बुद्धिमान होगा तो वहाँ से अलग हो जायेगा।

महानुभाव ! संसारी प्राणी को यदि वैराग्य हो जाये तो घर वाले उसको घर में नहीं रहने देंगे। कहेंगे घर में रहो तो ऐसे ही रहना पड़ेगा ये तुम्हारे ढोंग धतूरे यहाँ नहीं चलेंगे। दीक्षा लेना है तो यहाँ से जाओ, यहाँ रहोगे तो सबका ख्याल रखना पड़ेगा यूँ मौन रहकर घर में नहीं चलेगा। अब यदि वह साधु संघ में पहुँच गया तो कह रहा है महाराज बेटे का व्यापार नहीं चल रहा वह आये तो उसे आशीर्वाद दे देना यहाँ बैठकर वहाँ की चिन्ता करेगा तो महाराज कहेंगे भईया एक काम करो तुम बेटे के पास जाओ उसे सेट करके आना अभी तुम दीक्षा के योग्य नहीं हो। यहाँ रहकर के वहाँ की चिन्ता करेगा तो यहाँ नहीं टिक पायेगा और वहाँ रहकर के यहाँ की चिन्ता करेगा यहाँ जैसा व्यवहार करेगा तो वे लोग कहेंगे वहीं जाओ।

जिस दुकान पर रहता है वहीं से पगार प्राप्त करे। महेश की दुकान पर काम करता है सुरेश की दुकान से पगार लेना चाहे तो कोई नहीं देगा। यदि गृहस्थ जीवन में रहकर के वह अपने परिवार का पालन तो कर नहीं रहा उसका ध्यान सुबह से शाम तक मंदिर में लगा है तो घर वाले कहेंगे

भईया तुम मंदिर में जाकर ही रह लो, यहाँ रात में आते हो सोने के लिये तो क्यों आते हो वहीं रह लो। साधु के यहाँ रहकर यदि ध्यान घर परिवार का रखता है तो साधु कहेंगे-भईया क्षमा कर तू वहीं जा तेरा वैराग्य अभी कच्चा है। जब तेरा वैराग्य पक्का हो जाये तब तुम आ जाना हमें परेशान मत कर।

महानुभाव ! व्यक्ति जिस समूह में रहता है उसी समूह की विचारधारा से युक्त रहेगा तो आनंद आयेगा और विपरीत विचारधारा के साथ रहेगा तो रह नहीं पायेगा दोनों को संक्लेशता हो जायेगी। बेर के पेड़ जहाँ हों वहाँ बेर ही बेर के पेड़ रहें कोई दिक्कत नहीं, केला के कहीं अकेले हों तब भी कोई दिक्कत नहीं किन्तु बेर-केला के पेड़ दोनों एक साथ रहें तो-

कहु रहीम कैसे निभै केर बेर को संग।
वे डोलत रस आपने उनके फाटत अंग॥

तो भैया ऐसे नहीं चलेगा। यहाँ पर ये कह रहे हैं-कि संसार तो पागल जैसी चेष्टा करने वाला है इसलिये संसार में जितने प्राणी हैं वे आनंद से रह रहे हैं और जो ये समझ जाते हैं कि ये पागलों जैसी चेष्टा है फिर वे वहाँ रह नहीं सकते। वह कहेगा मैं एक मिनट भी यहाँ नहीं रुकूँगा, मैं अपना 1 मिनट भी बर्बाद नहीं करूँगा मुझे जल्दी जाना है। अभी कल्याण करना है। वह यही सोचता है बच गये, यह संसार तो अजगर का मुख है उसमें से निकलकर आ गये। ऐसा लगता है ये पंचेन्द्रिय के विषय तो पंचानन (शेर) का पंजा है। उसने वार किया परन्तु मैं उनसे बचकर आ गया। जो उसमें फंसे हुये हैं वे उसी में आनंद मना रहे हैं। जो संसार के लायक नहीं हैं वे मोक्ष के लायक हैं जो मोक्ष के लायक नहीं हैं वे संसार के लायक हैं। अब देख लो हम किसके लायक हैं। प्रत्येक आत्मा शक्ति रूपेण मोक्ष के लायक है अपनी शक्ति को भूले बैठो हो यह बात अलग है। मोह के आवेश में इस जीव की पागलों जैसी चेष्टा चल रही है। वह नशा उतरे तो हमें सही मार्ग पता चले।

१६. आत्म परिचय

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥२०॥

अन्वयार्थ-यत्-जो शुद्धात्मा **अग्राह्यं**-ग्रहण न करने योग्य को **न ग्रह्णाति**-ग्रहण नहीं करता है और **गृहीतं अपि**-ग्रहण किये गये अनन्तज्ञानादि गुणों को **न मुञ्चति**-नहीं छोड़ता है तथा **सर्वं**-सम्पूर्ण पदार्थों को **सर्वथा**-सर्व प्रकार से **जानाति**-जानता है **तत्**-वही **स्वसंवेद्यं**-अपने द्वारा ही अनुभव में आने योग्य चैतन्यद्रव्य **अहं-अस्मि**-मैं हूँ।

अभी जो शरीरादि के बारे में बता रहे थे 8वीं, 9वीं कारिकादि के माध्यम से कि किस प्रकार मिथ्यादृष्टि भ्रमित हो जाता है। उस भ्रान्ति को दूर करने के लिये कह रहे हैं-''मैं कौन हूँ''। तो यहाँ बता रहे हैं-जो ग्रहण करने के योग्य नहीं है। अब ग्रहण करने के योग्य क्या नहीं है? आत्मा के अलावा जितने भी सर्व पदार्थ हैं वे सब मेरे द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। जिन्हें मैं ग्रहण कर रहा हूँ स्व-पर शरीरादि या पंचेन्द्रिय विषयादि वह वास्तव में मैं नहीं हूँ। क्योंकि यदि मैं उन पर पदार्थों रूप हो जाऊँगा तो फिर जो मेरी सत्ता है अस्तित्व है वही लुप्त हो जायेगा। जो पदार्थ जिनको अनादि से मैं ग्रहण करता आया हूँ वह तो पर पदार्थ हैं यदि एक बार भी मुझे अपनी सत्ता का बोध हो जाता तो मैं पर-पदार्थों को ग्रहण नहीं करता। व्यक्ति परपदार्थ तब तक ग्रहण करता है जब तक वह अपने आत्मा के वैभव अपने आत्म स्वरूप को नहीं जानता। दूसरों की वस्तु को ग्रहण करने के पीछे दो भाव होते हैं।

पहला भाव यह होता है उसे अपनी वस्तु का ज्ञान नहीं हो, कि ये वस्तु मेरी है या परायी। तब व्यक्ति ग्रहण कर लेता है। दूसरा भाव यह होता है कि उसके पास वह वस्तु हो ही नहीं तब दूसरे की वस्तु ग्रहण करता है। क्योंकि जैसे कोई विद्यार्थी पेन से लिख रहा है सामने वाले विद्यार्थी ने देखा कि मेरे पास तो पेन नहीं है और मुझे भी लिखने की आवश्यकता है, पहले विद्यार्थी ने पेन रखा तो ज्यों ही निगाह बची दूसरे विद्यार्थी ने चुपके से वह पेन ले लिया और जाकर बैठकर लिखने लगा और पहला वाला ढूँढ रहा है अरे मेरा पेन कहाँ चला गया। तो उस विद्यार्थी ने पेन क्यों उठाया ? क्योंकि उसके पास पेन नहीं था या व्यक्ति पेन तब उठाता है जब उसका पेन व सामने वाले का पेन एक जैसा था सो जल्दी में उसने लिखने के लिये उठा लिया।

तो पहली स्थिति में तो उस विद्यार्थी ने जानबूझ कर पेन उठाया क्योंकि उसके पास तो पेन है ही नहीं तो ये स्थिति तो आत्मा के साथ है ही नहीं क्योंकि प्रत्येक आत्मा के पास अपने स्वयं का आत्मवैभव उसके ही पास है। ऐसी कोई आत्मा नहीं है जिसमें ज्ञान दर्शन आदि न हो। प्रत्येक आत्मा में अपना स्वभाव प्राप्त करने की योग्यता है तो ऐसा तो नहीं है कि दूसरे की वस्तु चोरी

करूँ। दूसरी बात ये भी है कि आत्मा में आत्मा के गुण हैं। यदि कदाचित् ऐसा हो जाये कि पर द्रव्य के गुण स्वभाव मेरे अंदर आ जायें तब उनका ग्रहण करना सार्थक है तो व्यक्ति ऐसे भी ग्रहण करता किन्तु आत्मा के गुण ही आत्मा ग्रहण कर सकती है पर पदार्थों के गुणों का, स्वभाव का लक्षण का ग्रहण करना कुछ समय के लिये होता है किंचित होता है, बहिरात्म दशा में होता है। किन्तु जब उसे ज्ञान हो जाता है वह छोड़ देता है। जैसे द्वितीय दशा थी उसने भूल से दूसरे बालक का पेन ले लिया था और लेकर जब लिखने लगा तब जिसका पेन था वह बालक आया देखो यह पेन तो मेरा है। तुम्हारा कैसे ? देखो ! ये जो पेन का कवर है इस पर तीन बिन्दी लगी हुयी हैं, तुम्हारे पेन पर तो नहीं लगी थी बोला नहीं लगीं थी। तो ये तुम्हारा नहीं मेरा पेन है भूल से तुम अपना वहाँ छोड़ आये थे मेरा तुम्हारे साथ आ गया। तो ऐसे ही अपनी आत्मा को पहचानने के लिये एक निशान लगा हुआ है। तुम्हारी आत्मा पर ज्ञान चेतना-दर्शन चेतना। ज्ञान दर्शन चेतना के निशान देख लो जहाँ लगा हुआ है वह द्रव्य तुम्हारा है।

तो आप इन अनंत द्रव्यों से अलग हो गये जो पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल है। जैसे पेन सब एक प्रकार के थे अब उसमें यह देखो कि तुम्हारा कौन सा था। तुम्हारे जीवात्मा के गुण धर्म दूसरी जीवात्मा ग्रहण नहीं कर सकती और दूसरे की आत्मा का गुण धर्म तुम ग्रहण नहीं कर सकते। यदि तुम्हारा कुछ गिर गया है, खो गया कुछ भी हो गया है तो दूसरा उसे उठा नहीं सकता, इसलिये जहाँ तुमने गुमा दिया वहीं जाकर के खोजो तुम्हें ही मिलेगा, दूसरे को न मिलेगा। एक बार एक वृद्धा अम्मा अपनी झोपडी में कुछ ढूंढ रही थी। झोपडी में बहुत अंधकार था। तभी वहाँ से एक व्यक्ति गुजरा उसने वृद्धा को बहुत परेशान देखकर पूछा अम्मा क्या ढूँढ रही हो। वृद्धा बोली बेटा मेरी सूई खो गई है वही ढूँढ रही हूँ। वह युवक बोला अम्मा वह सूई अंधेरे में नहीं मिलेगी, प्रकाश में मिलेगी। यह सुनकर वह वृद्धा अम्मा प्रकाश में सूई ढूँढने चौराहे पर जहाँ लाइट लगी थी वहाँ चली गई और सूई ढूंढने लगी। तभी एक युवक ने देखा तो पूछ बैठा अम्मा क्या खो गया है, बेटा सूई खो गयी है, बहुत देर हो गई ढूँढते-ढूँढते मिल नहीं रही। पूछा अम्मा! सूई कहाँ गिरि थी, बोली झोपड़ी में खाट के पास गिरी थी। अरे अम्मा जहाँ गिरी थी वहीं तो मिलेगी। झोपड़ी में गिरी सुईं चौराई पर नहीं मिलेगी। जो वस्तु जहाँ है वहीं खोजोगे तो प्राप्त हो जाएगी यदि अन्य स्थान पर वस्तु खोजने का प्रयास करोगे तो कुछ भी प्राप्त न होगा। ऐसे ही हमारी आत्मा का स्वभाव क्या है उस आत्मा के स्वभाव को जानो-खोजो एकांत में बैठो तो तुम्हें अपनी आत्मा के गुण लक्षण जो भी हैं सब प्राप्त हो जायेंगे। किन्तु तुम दूसरे की आत्मा की सुख शांति को ग्रहण नहीं कर सकते, इतनी बात अवश्य है कि दूसरे व्यक्ति को देखकर तुम्हें अपनों की याद आ सकती है। हम प्रभु परमात्मा के पास जब जाते हैं तो उन्हें देखकर जिस अपनी आत्म निधि को हम भूल गये हैं उसकी याद आ जाती है।

याद आता है अरे ये तो अनंत ज्ञानी हैं। अनंतज्ञानी नहीं होते तो इनके चेहरे पर जिज्ञासा का भाव होता। ये तो पूर्ण संतुष्ट हैं यदि संतुष्ट नहीं होते तो इनके चेहरे पर याचना का भाव होता। अरे ये तो अनंतदृष्टा हैं अनंतसुखी, अनंतशक्ति से युक्त हैं जब हम मूर्ति में मूर्तिमान की कल्पना करके उस परमात्मा में डूब जाते हैं। जब उनके अनंत गुणों को देखते हैं तो श्रद्धा से मस्तक अपने आप झुक जाता है और जो कुछ भी अपना मानते हैं (अच्छे से अच्छा द्रव्य) वह उनके चरणों में चढ़ जाता है और भक्ति के साथ उनके गुणों की प्राप्ति रूप तीव्र भावना के साथ जो तुम चढ़ाते हो उसे ही पूजा कहते हैं उसे ही भक्ति कहते हैं। **''पूज्येषु गुणानुरागो भक्ति''**

पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग करना भक्ति कहलाती है और उनके गुणों में अनुराग रखते हुये जो तुम अपने उत्तम द्रव्य का समर्पण करते हो क्योंकि तुम्हें वहाँ पर अच्छा मिल रहा है और अच्छा मिल रहा है इसलिये तुम्हें छोड़ने में देर नहीं लगती। तुम अपने सिर पर नमक की पोटली रखकर घूम रहे हो जिसे खाते-खाते तुम परेशान हो और तुमने देखा सामने वाला मुस्कुरा रहा है देखा उसके पास तो बहुत सारी मिश्री की डली है उसने तुरंत नमक को छोड़ा और मिश्री को ले लिया। किन्तु कब, जब उसे ज्ञान हो गया तब। ऐसे ही तुम्हें अपना छोड़ने में देर नहीं लगेगी। जिस व्यक्ति को मालूम पड़ जाये कि ये सोना है तो लोहे को छोड़ने में समय न लगेगा। भगवान् के सामने आकर के जब भगवान् के गुणों को देख लेगा कि ऐसे गुण भी मेरी आत्मा में हैं और इन गुणों को मैं तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक बाह्य विभूति से अपना चित्त न हटाऊँ। बाह्य पुद्गल का ढेर छोड़ने में फिर देर नहीं लगती। भगवान् के चरणों में सब समर्पित कर दिया, ऐसा नहीं उस विभूति को छोड़ने के लिये घर जाओ या कहीं लौट जाओ। वहीं छोड़ दी जिसको मैंने चिरकाल से पोसा था ग्रहण किया था, जिसके लिये परिश्रम किया उसे कहाँ छोड़ूँ जहाँ से मुझे अमूल्य निधि मिल रही है वहीं उसे छोड़ दो। इसलिये भगवान् के चरणों में श्रद्धापूर्वक भक्ति पूर्वक कहो, हे प्रभु ! आप धन्य हो आपने मेरी निधि मुझे दी मैं इन बाह्य वस्तुओं का आपके सामने त्याग करता हूँ।

यदि आपसे कोई पूछे कि प्रभु परमात्मा की मूर्ति के नित्यप्रति दर्शन क्यों करते हो? क्योंकि हम उन जैसा बनना चाहते हैं हम अपनी निधि को भूल चुके हैं आपको देखकर के हमें उसकी याद आ जाती है और कहाँ रखी है उसे खोजने की प्रक्रिया भी हम यहीं से सीखते हैं एवं उस स्थान को भी प्राप्त कर लेते हैं व अपने स्थान को भी प्राप्त कर लेते हैं। जब हमें अपनी अमूल्य निधि मिल जाती है तो फिर इस बाह्य कचरे को कौन पकड़े। भगवान् महावीर स्वामी, आदि प्रभु या चक्रवर्ती आदि ने अपना इतना अथाह वैभव ऐसे कैसे छोड़ दिया एक सैकिण्ड भी नहीं लगी। कारण, उन्हें एक क्षण के लिये आत्मा के वैभव की याद आ गयी बस। ज्यों ही याद आयी त्यों ही उन्हें लगा ये क्षण तेरे लिये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं यदि उन्हें तूने गवा दिया तो फिर नहीं मिलेगा उन्हें ऐसा आत्मबोध हुआ, जिसे तत्त्वज्ञान कहते हैं।

आचार्य गुणभद्र स्वामी ने उत्तरपुराण में कई जगह इस शब्द का प्रयोग किया। वह जैसे ही याद आया तीव्र वैराग्य हुआ फिर कुछ नहीं उन्होंने अपने सहज सरल भोग भी छोड़ दिये और सबसे विरक्ति हो दिगम्बर वेष धारण कर ध्यान में बैठ गये। इसलिये पहले महापुरुष दीक्षा लेते ही मौन ले लेते थे कोई बाहरी व्यवहार जगत में नहीं मात्र अपनी आत्मा की निधि को प्राप्त करके रहना है। चाहे कोई भी महापुरुष हुये फिर अन्य कोई प्रवृत्ति नहीं आहार के लिये गये फिर ध्यान में आकर के बैठ गये, कोई उपदेश नहीं देना, कोई स्वाध्याय नहीं करना बस ध्यान में रहना है, लगन वहीं लगी है जब तक वो नहीं मिलेगा तब तक मन अन्य कहीं लगायेंगे ही नहीं। जब तक केवल ज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया तब तक कहीं प्रवृत्ति नहीं करना। जिन महापुरुषों ने दीक्षा लेकर मौन ले लिया तो उन महापुरुषों की केवलज्ञान को प्राप्त करके ही दिव्यध्वनि खिरी और जो महापुरुष दीक्षा लेकर उपदेश देते रहते हैं उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

महानुभाव ! यहाँ बता रहे हैं-अग्राह्य को मैं ग्रहण नहीं करता, जब ग्रहण हो गया मैंने चेतना के गुण ग्रहण कर लिये उन्हें मैं कभी छोड़ नहीं सकता। वे कभी छूट नहीं सकते और जो कर्म, भावकर्म, नोकर्म मैंने ग्रहण कर लिये थे वे पूरी तरह से छूट जायें तो फिर दुबारा पकड़ में नहीं आ सकते ये अग्राह्य है ग्रहण करने के योग्य नहीं है। पुत्र स्त्री आदि में जो मैंने अपनत्व की कल्पना कर ली थी कि ये मैं हूँ या मेरे है ये बुद्धि यदि एक बार नष्ट हो जाये तो फिर उन्हें कोई भ्रमित नहीं कर सकता। जिनकी यह अपनत्व बुद्धि नष्ट नहीं हुयी, वे कहते हैं कि अभी हमारे बहुत दायित्व हैं उन्हें पूर्ण करके ही मैं गृहत्याग की सोचूँगा। फिर बच्चे स्टैण्ड भी हो जाते हैं फिर बच्चे तो स्टैण्ड हो जाते हैं किन्तु माता-पिता स्टैण्ड नहीं रह पाते हैं। डाउन (बैठ) हो जाते हैं। अब गृहत्याग मुश्किल हो गया स्वयं खड़े होने में असमर्थ हो गये। तो अब ज्यादा बच्चों को स्टैण्ड करने के चक्कर में मत पड़ो। जब तक स्वयं के पैरों में दम खम है, खड़े होकर आहार लेने की दमखम है तब तक गृह त्याग कर लोगे तो ज्यादा अच्छा है। खड़े-खड़े घर से निकल आओगे तो ज्यादा अच्छा है अन्यथा कंधे पर रखकर लोग निकालेंगे। निकलना तो है उस घर में तो शाश्वत रह नहीं पाओगे। त्याग तो करना ही करना है। आज का कल का व पल का भी भरोसा नहीं। इस काल में 100 वर्ष से ज्यादा उम्र तक नहीं जी सकता। हम तो ये सोचते हैं जो 60 के ऊपर पहुँच गये वे सोच लें कि वे महावीर स्वामी की उम्र तक पहुँच जायें तो बहुत बड़ी बात है और जिनकी उम्र 72 साल की हो गयी है और शरीर में थोड़ी दमखम है तो उनको तो ये सोचना चाहिये कि आज से 2600 साल पहले भगवान् महावीर स्वामी 72 साल तक जीये उससे ज्यादा तुमने उम्र प्राप्त की है अब तो कम से कम घर छोड़ दो, अब भी यदि गृह त्याग नहीं कर पा रहे हैं तो बहुत आश्चर्य की बात है।

महानुभाव ! अपनी इच्छाओं को रोकें। सरकार भी 60 साल के बाद आपको संन्यास दे देती है कि हाँ अभी तुममें दमखम है तुम अभी काम कर सकते हो किन्तु अब तुम्हारी इच्छायें पूर्ण

हो गयीं होंगी, नहीं पूर्ण हुयी तो अब उन इच्छाओं को रोको और संन्यास को स्वीकार करो। किन्तु हमारे देश की परम्परा अब थोड़ी उल्टी हो गयी है। आजकल 60 साल के ऊपर होने के उपरांत लोग राजनीति से संन्यास नहीं लेते तो कर्मचारी संन्यास कैसे लें। यदि राजनेता नियम ले लें कि 60 साल के ऊपर कोई राजनीति नहीं करेंगे कोई विधायक, सांसद नहीं बनेगा तो समझता हूँ देश की 20-30 प्रतिशत जनता संन्यास को प्राप्त कर लेगी। किन्तु व्यक्ति बड़ों का अनुसरण करता है पहले जनता राजा का अनुसरण करती थी अब नेता लोग ही राजा हैं। यदि उन्हें वैराग्य हो जाये वे संन्यास ले लें तो उनके अनुयायी वे भी उस मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं। तीर्थंकरादि ने दीक्षा ली तो साथ में 4-4 हजार राजाओं ने दीक्षा ली। आपको यदि कोई अपना आदर्श मानता है और आप संन्यास की ओर बढ़ेंगे तो हो सकता है आपके पीछे वह भी चल दें।

महानुभाव ! जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्-मैं अपनी आत्मा के द्वारा अनुभव करने के योग्य हूँ और अपनी आत्मा का अनुभव करने वाला व्यक्ति, जो पूर्ण रूप से अनुभव करने वाला है वही वास्तव में सर्वज्ञ है। जिसने अपनी आत्मा को नहीं जाना उसने संसार को नहीं जाना, किंचित जाना है जिसने अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से जान लिया जिसे केवलज्ञान केवलदर्शन हो गया वह लोकालोक को जानने में समर्थ होता है।

यहाँ यही भाव समझना चाहिये आत्मा पर पदार्थों को ग्रहण नहीं करता उन्हें आत्म-स्वरूप नहीं कर सकता क्योंकि वे अग्राह्य हैं और वह आत्मा अपने अनंत गुणों को छोड़ नहीं सकता क्योंकि वे ग्रहीत ही हैं। वह तो सर्व कार्यों को जानने का काम करता है। ऐसा चेतन द्रव्य मैं हूँ जो कि स्वयं ही स्वयं के द्वारा अनुभव में आ सकता हूँ, मुझसे पर का कोई वास्ता नहीं है।

१७. निज को पहचाना नहीं

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात्॥२१॥

अन्वयार्थ-स्थाणौ-स्थाणु में **उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः**-उत्पन्न हो गई है पुरुषपने की भ्रान्ति जिसको ऐसे मनुष्य की **यद्वत्**-जिस प्रकार **विचेष्टितम्**-विकृत अथवा विपरीत चेष्टा होती है **तद्वत्**-उसी प्रकार की **देहादिषु**-शरीरादिक परपदार्थों में **आत्मविभ्रमात्**-आत्मा का भ्रम होने से **पूर्वं**-आत्मज्ञान से पहले **मे**-मेरी **चेष्टितम्**-चेष्टा थी।

कई बार कोई पेड़ जो ऊपर से कटा हुआ है ठूंठ खड़ा हुआ है और रात में आपने देखा तो लगता है कोई पुरुष खड़ा हुआ है उसे स्थाणु कहते हैं। तो जिसे उस लकड़ी के ठूंठ में भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी है ऐसे भ्रान्ति पुरुष की चेष्टा अलग रहती है पुनः जब निर्णय हो जाता है तो भय दूर हो जाता है। उसकी चेष्टा उस स्थाणु के प्रति वैसी होती है जैसी पुरुष के प्रति करता है जैसी चेष्टा श्री रामचन्द्र जी ने मृतक लक्ष्मण के शरीर के प्रति की। भईया तू अब नहा ले, तू रूठ क्यों गया है, अब तू सो गया है अब तू जाग जा वे ऐसी चेष्टा कर रहे हैं क्यों? क्योंकि उनको ये भ्रान्ति पैदा हो गयी है कि मेरा ये भाई मरा नहीं है। उन्हें लेकर छः माह घूमते रहे। किन्तु यह उनकी भ्रान्ति है ये तो हम कह रहे हैं जब उसे सही ज्ञान हो जायेगा तब वह कहेगा कि ये भ्रान्ति है किन्तु जब तक उसे भ्रान्ति होती है तब तक उसके लिये वह पक्का ज्ञान है सही ज्ञान है। उसने जिसको जो मान लिया है उसके प्रति वैसी चेष्टा करेगा जैसे स्थाणु को पुरुष मानकर पुरुष जैसी चेष्टा करता है। किन्तु जो व्यक्ति ज्ञानी है वह क्या करेगा ? वह यदि जान जायेगा तो कहेगा अरे ! मैं अभी कहाँ भ्रान्ति में पड़ा हुआ था पहले जब तक मैंने आत्मा को आत्मा नहीं माना था तो मैं भी देह आदि को आत्मा मानकर वैसा कर रहा था।

अब तो मैं जान गया देह अलग है आत्मा अलग है जब तक मैंने आत्मा को नहीं जाना था तब तक देह को आत्मा मानकर के उस देह की पुष्टि में लगा रहा, पूरा समय उसी के लिये बिता दिया किन्तु अब समझ में आ गया कि आत्मा तो कभी मरती नहीं, आत्मा तो अजर-अमर है देह कभी शाश्वत रहती नहीं। जो नष्ट नहीं होना है वह मैं हूँ उसकी मुझे संभाल करनी है जब ये ज्ञान हो गया तब मेरी प्रवृत्ति में भी अंतर आ गया। वह भ्रम मेरी विभ्रान्ति थी उसके नष्ट होने पर सत्य का बोध हुआ।

इस प्रकार आचार्य महाराज बता रहे हैं जैसे ठूँठ को आदमी समझ जाने वाला पुरुष अब यह मुझे साथी मिल गया या यह मुझे रास्ता ठीक बता देगा या कहीं ये मुझे लूट न ले इत्यादि कल्पनायें करके व्यर्थ सुखी-दुःखी होता है उसी प्रकार शरीर को आत्मा समझ जाने के कारण मैं अज्ञान

अवस्था में यह मैं बड़ी अच्छी अवस्था में हूँ इससे मुझे बड़े सुख मिलते हैं या यह शरीर कभी बीमार न हो जाये, मर न जाये, ऐसा हुआ तो मैं बर्बाद हो जाऊँगा इत्यादि कल्पनायें कर व्यर्थ सुखी दु:खी हो रहा था।

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्म विभ्रमः॥२२॥

अन्वयार्थ-असौ-जिसको वृक्ष के ठूँठ में पुरुष का भ्रम हो गया था वह मनुष्य **स्थाणौ**-ठूँठ में **पुरुषाग्रहे निवृत्ते**-यह पुरुष है ऐसे मिथ्याभिनिवेश के नष्ट हो जाने पर **यथा**-जिस प्रकार उससे अपने उपकारादि की कल्पना त्यागने की **चेष्टते**-चेष्टा करता है उसी प्रकार **देहादौ**-शरीरादिक में **विनिवृत्तात्मविभ्रमः**-आत्मपने के भ्रम से रहित हुआ मैं भी **तथा चेष्टः अस्मि**-देहादिक में अपने उपकारादिक की बुद्धि को छोड़ने में प्रवृत्त हुआ हूँ।

जिस तरह ठूंठ में पुरुष मानने के भ्रम से वह बार-बार उसे बुलाता है, न आने पर क्रोध करता है उसके क्रोध करने पर या अच्छा कहने पर, प्यार से बुलाने पर या दुतकारने पर स्थाणु में कोई परिवर्तन नहीं हुआ वह ज्यों की त्यों खड़ा रहा तब उसकी समझ में आया अरे ! ये तो ठूँठ है।

ठूँठ में जो पुरुष का आग्रह था उसकी निवृत्ति हो गयी। कब निवृत्ति हुयी? जब उसने ठूँठ की परीक्षा ले ली उसे पक्का विश्वास हो गया कि यदि यह पुरुष होता तो मेरे बुलाने से आ जाता, मेरी आवाज को सुनता और बोलता। वह पास जाकर देख लेता है कि ये ठूँठ है श्वांस भी नहीं ले रहा, ये तो मानवाकृति भी नहीं है मुझे भ्रम सा हो गया था कि ये कोई मनुष्य खड़ा हो गया है। इस ठूँठ पर किसी ने कपड़ा डाल दिया है मुझे दूर से लग रहा था कि कोई मनुष्य खड़ा हुआ है। तो इस प्रकार उसके पास में जाने पर, स्पर्श करने पर, देखने पर, उसको आवाज लगाने पर सब प्रकार से उसने देख लिया, ये पुरुष नहीं है। जब पुरुष नहीं है ये ठूँठ है ऐसा ज्ञान हो जाता है तो पुरुष का जो आग्रह था उस ठूँठ में उसकी निवृत्ति हो जाती है। पहले हम भ्रम में जी रहे थे अब मुझे यथार्थ ज्ञान हो गया उसी प्रकार देहादि में आत्मा की चेष्टा करने वाला मैं भी अभी शरीर को आत्मा मान रहा था और शरीर का पोषण करके आत्मा का हित मान रहा था, ऐसी मेरी धारणा थी किन्तु अब मुझे याद आया, अब मुझे ज्ञात हुआ अपनी आँखों के सामने इतनी मृत्यु देखी, देखा कौन मरा ? शरीर तो ज्यों की त्यों पड़ा है, आत्मा निकल गयी। यह जन्म हुआ तो किसका हुआ शरीर साथ में आया है। ये शरीर जन्म में छोटा था अब बढ़ता जा रहा है, क्यों बढ़ता जा रहा है, ये मुर्दा क्यों श्वांस नहीं ले रहा, ये क्यों खा-पी नहीं रहा तो इसका आशय ये है कि शरीर तो पुद्गल है, इस पुद्गल में विद्यमान आत्मा नाम का तत्त्व अलग है।

उसे यह आत्मबोध ऐसा ही हुआ जैसा आदिनाथ भगवान् को नीलांजना की मृत्यु से आत्म बोध हुआ वैराग्य हुआ था अन्य-अन्य महापुरुषों को भी वज्रपात आदि देखकर, जातिस्मरण द्वारा,

विद्युत्पात या अन्य निमित्त मिलने से वैराग्य हो गया। उन्होंने जान लिया जिसके प्रति हम आत्मबुद्धि लगाकर बैठे हैं बहिरात्म बुद्धि बनाकर बैठे हैं हम तो वह हैं ही नहीं। भगवान् महावीर स्वामी का जीव सिंह की पर्याय में जब शिकार कर रहा होता है तब युगल मुनिराज उन्हें संबोधन देते हैं रे सिंह ! तू आज हिंसा कर रहा है अरे आज से दसवें भव में तू तीर्थंकर होगा अहिंसा का उद्घोषक होगा। तू हिंसा क्या इस शरीर के लिये कर रहा है पर तू शरीर नहीं है आत्मा है। यह सम्बोधन जब प्राप्त होता है उस सिंह का पंजा ज्यों का त्यों ढीला पड़ जाता है, पश्चाताप के आँसू बहाता है, मैं ये क्या कर रहा हूँ और उपदेश सुनकर के संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होता है। अणुव्रतों को स्वीकार कर लेता है सम्यक्त्व को स्वीकार कर लेता है। वही जीव भगवान् महावीर स्वामी बनकर मोक्ष चला जाता है।

महानुभाव ! जब तक व्यक्ति की भ्रान्ति दूर नहीं होती तब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिस व्यक्ति को तुम उपकारी मान रहे हो तुम्हें पता चला कि मैं जो समझ रहा था कि ये मेरा उपकारी है किन्तु ये तो बार-बार मुझे धोखा दे रहा है। अब समझा ये कौन है। आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज को निमित्त ज्ञान शिरोमणि कहा जाता था, बीना के दरबारी लाल जी कोठिया बहुत बड़े पण्डित जी थे न्यायाचार्य थे। उन्होंने कई न्याय की पुस्तकों की प्रस्तावनादि लिखी हिन्दी अर्थादि भी किया है। एक बार वो किसी केस में फँस गये बड़े परेशान हुये वैसे तो उनकी श्रद्धा आ. विमल सागर जी के प्रति थोड़ी कम थी किन्तु व्यक्ति जब परेशान होता है तब सोचता है चलते हैं। वे उनके पास पहुँचे जैसे ही पास जाकर बैठे, आचार्य श्री को आभास हो गया। वे बोले हाँ पण्डित जी कहो खूब परेशान हो लिये अब, अरे ! तुम जिस पर विश्वास कर रहे हो न, वही तुम्हें धोखा दे रहा है। जिसको तुमने अपना केस दे दिया है उसी ने तुम्हें उलझा कर रखा है, तुम उसे अपना मित्र समझ रहे हो। कोठिया जी ने सोचा मैंने तो कोई बात कही ही नहीं ये कैसे जान गये कि मैं अपने केस के बारे में पूछने आया हूँ। वे बोले महाराज श्री! वह तो मेरा मित्र है। अरे ! ये ही तो मैं कह रहा जिसे तू मित्र समझ रहा है वह तो मात्र मित्र का वेष पहने हुये है वही तुम्हारे केस को बिगाड़ रहा है। वह केस तो तुम्हारा कब का निपट गया होता। पण्डित जी लौटे, सोचा-विचार किया कि मेरा केस तो उसी के हाथ में है क्या करूँ। दूसरे दिन नये वकील को नियुक्त किया और जिस मित्र से सलाह ले रहा था उससे मिलना बंद किया और चुपचाप अगले वकील ने एक या दो पेशी लेकर केस का निबटारा किया, वे बाइज्जत बरी हो गये।

कहने का आशय ये है पण्डित जी की उस मित्र के प्रति सही पहचान हो गयी जिसे अपना मान रहे हैं, वह वास्तव में अपना मित्र नहीं है। हमारी भी कई पदार्थों के प्रति ऐसी भ्रान्ति पड़ी हुयी है कि ये वस्तु मुझे सुख देने वाली है, इससे मेरे पास बहुत धन हो जायेगा, मकान होगा, पुत्र-पुत्री-पुत्रवधु होगी आदि-आदि नाना कल्पनायें करता है। किन्तु इससे तुम्हें सुख मिलने वाला

नहीं है तुम्हारा पुण्य का उदय नहीं है तो तुम्हें पुण्य की एक वस्तु भी नहीं मिल सकती सुख की झलक भी नहीं मिल सकती और तुम्हारा पुण्य का उदय है और तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है तब भी तुम्हें सब कुछ मिलेगा, कोई रोक नहीं सकता। सांसारिक सुख भी तुम्हारे पुण्य पर निर्भर करता है। आत्मा का सुख तुम्हारी आत्मा से ही निःसृत होगा उसे कोई दूसरा व्यक्ति तुम्हें नहीं दे सकता वह शरीर में से नहीं निकलेगा। जैसे श्वान सूखी हड्डी को चबाकर के मान लेता है इसमें से ही खून निकल रहा है बाद में जब उसका पूरा जबड़ा हिल जाता है जब हड्डी निकाल पर बाहर फेंकता है तो उसे ज्ञान होता है यह खून हड्डी में से नहीं मेरे मुंह से निकल रहा था। ऐसे ही जिस व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि शरीरादि से राग करना कुछ भी नहीं है चाहे भोगोपभोग स्वशरीर से कर रहे या पर शरीर से, वह विरक्त होता है। वह सहजोपलब्ध पंचेन्द्रिय के विषयों को छोड़ देता है।

देखो राम के पास चन्द्रनखा आयी उन्होंने कहा मैं तुम्हें अपनी पत्नी नहीं बना सकता मेरी शादी हो चुकी है मेरे पास सीता है मैं तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकता, वह चन्द्रनखा पुनः लक्ष्मण के पास गयी, उन्होंने (राम ने) इशारा कर दिया (रामायण में दिया है) मुख से नहीं बोले लक्ष्मण समझ गये, लक्ष्मण बोले-तुम तो मेरी माँ के समान हो क्योंकि तुमने अपने मन में पहले मेरे बड़े भाई को पति बनाने का भाव पैदा किया और जो ऐसा भाव करता है, वह सीता की तरह मेरी माँ की तरह है तो मैं तुम्हें अपनी पत्नी कैसे बना सकता हूँ। अब वह चन्द्रनखा दोनों जगह से गयी। वह नारी जो स्वयं अपना प्रस्ताव रखे और उसे पुरुष ठुकरा दे तो उसकी सबसे बड़ी बेइज्जती हो गयी। कहते हैं नाककाटी, न नाक काटी न कान बेइज्जती हो जाना ही नाक कटने के बराबर होता है। सार यही है जब तक व्यक्ति को अच्छे बुरे की पहचान नहीं होती है तब तक व्यक्ति कई बार अच्छे को तो फेंक देता है बुरे को ग्रहण कर लेता है। कई बार व्यक्ति को जब ज्ञात नहीं है तब तक वह उसी को हित समझ कर आत्मा से लगाये रहता है।

आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परणति न जाय॥

किन्तु दिन-रात हम कषाय का पोषण करते रहते हैं, हमारी हर क्रिया में कहीं न कहीं कषाय के पोषण की बात छिपी है या जो भी संग्रह किया जा रहा है वहाँ कहीं न कहीं देह का सुख छिपा हुआ है। चाहे वह सुख स्पर्शन संबंधी हो घ्राण इन्द्रिय, रसना, चक्षु, कर्ण आदि से संबंधित हो प्रायःकर संसारी प्राणी विषय कषायों के लिये ही जीते हैं।

महानुभाव ! इसके विपरीत जो धर्मात्मा होता है वह कहता है-

'आतम हित हेतु विरागज्ञान'

आत्मा का हित करने वाला तो वैराग्य और ज्ञान ही है। सत्य बात यही है आचार्य महाराज यहाँ यही कहना चाह रहे हैं कि 'यथासौ-पुरुषाग्रहे' यदि स्थाणु में पुरुष का आग्रह निवृत हो जाता

है, उस प्रकार की चेष्टा की निवृत्ति भी हो जाती है फिर स्थाणु के प्रति वह पुरुष जैसी प्रवृत्ति नहीं करता। ऐसे ही जब उसकी निवृत्ति हो जाती है कि देह अलग है आत्मा अलग है फिर देह के प्रति वह आत्मा जैसी प्रवृत्ति नहीं होती।

कुसंगदीइ पावेणं, खयेदि हु गुणा धणं।
णाणिसंगेण रोसो य, त्थि-संगेण तवो सया॥५४॥

अर्थ-निश्चय से कुसंगति से गुण, पाप से धन, ज्ञानी के संग से रोष और स्त्री के संग से सदा तप नष्ट होता है।

-णंदिणंद-सुत्तं
आचार्य श्री वसुनंदी मुनि

१८. स्वसंवेद्य आत्मा

येनात्मानानुभूयेऽह मात्मनै वात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नेको न द्वौ न वा बहुः॥२३॥

अन्वयार्थ-येन-जिस **आत्मना**-चैतन्यस्वरूप से **अहम्**-मैं **आत्मनि**-अपनी आत्मा में ही **आत्मना**-अपने स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा **आत्मनैव**-अपनी आत्मा को आप ही **अनुभूये**-अनुभव करता हूँ **सः**-वही शुद्धात्मस्वरूप **अहं**-मैं **न तत्**- न तो नपुंसक हूँ **न सा**-न स्त्री हूँ **न असौ**-न पुरुष हूँ **न एको**-न एक हूँ **न द्वौ**-न दो हूँ **वा**-और **न बहुः**-न बहुत हूँ।

महानुभाव ! यह संख्या तो पौद्गलिक वस्तु के लिये है। स्याद्वाद की अपेक्षा, नय की अपेक्षा कहें तो यह आत्मा अखण्ड है खण्ड-खण्ड नहीं होती तो इसे एक कह दो। असंख्यात प्रदेश हैं तो बहुत कह दो। आत्मा की पर्याय की अपेक्षा से संसारी आत्मा मुक्त आत्मा। मैं विभाव स्वभाव से युक्त हूँ मेरे अंदर अभी विभाव भी है स्वभाव भी है ऐसे दो रूप कह दो किन्तु वास्तव में शुद्ध निश्चय नय से देखा जाये तो मैं न एक हूँ, न दो हूँ, न बहुत हूँ, न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ, न नपुंसक हूँ यह तो देहादि की अपेक्षा से कहा जा रहा है। आत्मा तो जो है सो है।

आत्मा एक है न दो, न इससे ज्यादा, मैं जो हूँ सो हूँ। क्या आत्मा पुरुष है, नहीं इस शरीर ने पुरुष रूप ले लिया तो पुरुष कहने लगे, स्त्री रूप ले लिया तो स्त्री कहने लगे मैं शरीर नहीं हूँ मैं स्त्री-पुरुष-नपुंसक कुछ भी नहीं हूँ। ये लिंग तो शरीर में हैं और शरीर की अपेक्षा से आप गिनती कर रहे हैं किन्तु आत्मा की शरीर से गिनती कैसे करोगे। शरीर से यदि कहा एक आत्मा है किन्तु इस शरीर में असंख्यात आत्मायें भरी पड़ी हैं कौन देख पा रहा है वे आत्मायें देखने में नहीं आ रही हैं। जो वस्तुयें देखने में आ सकती हैं उसे तो गिनती कर सकते हो और जो देखने में नहीं आ रही उसे ग्रहण ही नहीं कर सकते तो कैसे कहोगे कि 2 हैं 4 या ज्यादा।

इसलिये यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं-आत्मा एक भी नहीं है, दो भी नहीं है, तीन भी नहीं है बहुत भी नहीं है आत्मा क्या है? तो आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने कहा-जो है सो है। प्रमत्त भी नहीं है, अप्रमत्त भी नहीं है फिर क्या है-न प्रमत्त है न अप्रमत्त जो है सो है। न संज्ञी न असंज्ञी, क्या ज्ञानादि से सहित है या रहित, नहीं जो है सो है उसे एकांत रूप से कुछ कह ही नहीं सकते, क्योंकि आत्मा में केवल एक रूप नहीं है आत्मा तो अनंत स्वभावों से सहित है उसे कैसे कहोगे। जो कहने में आ जाये वह तो नय का विषय बन जायेगा। नय से तो आत्मा के सम्पूर्ण स्वभाव नहीं कहे जा सकते आत्मा को सम्पूर्ण रूप से तो प्रमाण से ही जाना जा सकता है। प्रमाण ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षज्ञानी जिन्हें सम्पूर्ण ज्ञान हो गया जो अनंतज्ञानी हैं, जिनका ज्ञानावरण कर्म नष्ट हो गया है वे सम्पूर्ण द्रव्यों के सम्पूर्ण गुण और सम्पूर्ण पर्यायें अतीत और अनागत की सब जान

रहे हैं। किन्तु कह सकते हैं क्या? नहीं कह सकते। जो जैसे जान रहे हैं वह बस वैसे ही जान रहे हैं कहा नहीं जा सकता इसलिये आत्मा के बारे में भी कुछ कहा नहीं जा सकता। आत्मा जो है जैसी है वैसी ही है उससे पृथक नहीं है ज्यादा नहीं कम नहीं।

इसलिये आचार्य महोदय ने यहाँ यह बात कही है आत्मा के द्वारा, आत्मा में आत्मा की अनुभूति मैं स्वयं (आत्मा) जान रहा हूँ वही मैं हूँ। उससे पहले जो देहादि मैं देख रहा था वह मैं नहीं हूँ।

क्यों ? क्योंकि (अभी आपने देखा था) स्थाणु की परीक्षा कर ली उसे हिलाकर, आवाज लगाकर देख लिया यदि किसी मनुष्य के पुतले को देखकर उसे छूकर, पास जाकर अपनी इन्द्रियों से अनुभव कर लिया अब उसकी शिकायत उसके प्रति नहीं रही, न राग रहा न द्वेष रहा कब? जब उसका अनुभव हो गया तब। ऐसे ही आत्मा जब आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा का अनुभव कर लेती है तो अनात्मा के प्रति उसका सारा गिला-शिकवा मिट जाता है। इस बात का अनुभव करने पर वह निवृत्ति हुयी है कि यह पुरुष नहीं स्थाणु है ऐसे ही यह शरीर आत्मा नहीं देह है इस प्रकार उसने आत्मा में आत्मा का अनुभव कर लिया है और ये जान लिया कि आत्मा एक नहीं है, दो नहीं है बहुत नहीं है आत्मा स्त्री-पुरुष-नपुसंक नहीं है। आत्मा कर्मों से बंधी नहीं है, आत्मा कर्मों से खुली नहीं है। आत्मा में बंध नहीं है, संवर नहीं है, निर्जरा नहीं है कुछ नहीं, शुद्धात्मा तो वास्तव में शुद्ध आत्मा है। योगी जब उस आत्म ध्यान में बैठता है तो उस अनुभव को कह नहीं सकता। जो कह रहा है वह मार्ग बता रहा है अनुभूति नहीं कह रहा। ऐसे ही जब इस आत्मा ने आत्मा को जान लिया तो बस जान लिया अब इसे कोई धोखा नहीं दे सकता।

यद् भावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥२४॥

अन्वयार्थ-यत् अभावे-जिस शुद्धात्मस्वरूप के प्राप्त न होने से **अहं**-मैं **सुषुप्तः**-अब तक गाढ़ निद्रा में पड़ा रहा हूँ-मुझे पदार्थों का यथार्थ परिज्ञान न हो सका **पुनः**-और **यत् भावे**-जिस शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि होने पर मैं **व्युत्थितः**-जागरित हुआ हूँ-यथावत् वस्तुस्वरूप को जानने लगा हूँ **तत्**-वह शुद्धात्मस्वरूप **अतीन्द्रियं**-इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है **अनिर्देश्यं**-वचनों के भी अगोचर है-कहा नहीं जाता। वह तो **स्वसंवेद्यं**-अपने द्वारा आप ही अनुभव करने योग्य है, उसी रूप **अहंअस्मि**-मैं हूँ।

जिसके अभाव से मैं सोया हुआ हूँ आत्मा के स्वभाव को न जानता हुआ मैं आत्मा की अपेक्षा से तो सोया हुआ हूँ जिसके भाव से जिसके प्राप्त होने पर मैं जाग्रत हुआ हूँ। आज तक आत्मा के स्वभाव के बारे में मैं जानता नहीं था श्रद्धान भी नहीं था, आत्मा का अनुभव भी नहीं

किया था, इस अपेक्षा से मैं उससे अन्जान था, अनभिज्ञ था, वह वस्तु मेरे लिये अदृश्य व अगम्य थी और मैं सो रहा था। सोता हुआ मैं आत्मा के बारे में नहीं जान पाया और सोता व्यक्ति जानता भी नहीं है। सोने वाला चाहे झोंपड़ी में सो रहा है या महल में सोने वाले के पास चाहे मिट्टी का ढेर लगा हो चाहे स्वर्ण का ढेर लगा हो क्या फर्क पड़ता है, चाहे कागज की रद्दी रखी हो, चाहे नोटों के बण्डल रखे हों सोने वाला सो रहा है। सोने वाले व्यक्ति को कुछ भी फर्क नहीं पड़ता ऐसे ही जब तक मुझे अपनी आत्मा के वैभव का ख्याल नहीं था और मैं संसार के पदार्थों को ही अपना मान रहा था जैसे सोने वाला व्यक्ति स्वप्न में जिसे जान रहा है उसे ही अपनी सम्पत्ति मानकर उसमें ही राग कर रहा है ऐसे ही मैं देहादि पदार्थों को और पौद्गलिक प्रचय को अपनी सम्पत्ति मानकर उसमें ही राग द्वेष कर रहा था, उसके प्रति मोह कर रहा था। अभी तक मैंने आत्मा की सम्पत्ति को जान नहीं पाया। जैसे ही मेरी मोह की निद्रा टूटी, उसमें जो मुझे स्वप्न आ रहे थे, मैं जो स्वप्न के जाल बुन रहा था, कि ये मेरा, वो मेरा, ये मेरी खुली आँखों वाला सपना टूट गया। मोह का अंधकार छटते ही मेरी खुली आँखों वाला सपना टूट गया।

बंद आँख वाला सपना कब टूटता है, जब आँख खुल जाती है और खुली आँख वाला सपना कब टूटता है जब आँख बंद हो जाती है एक आँख बंद होती है मृत्यु के समय अब मेरा कोई नहीं है किन्तु जो व्यक्ति जीते जी अपनी आँखों को बंद करके जब अपने बारे में विचार कर लेता है, जो जीते जी आँख बंद कर ले पूरे परिवार से मित्र-कुटुम्बी जनों से मोह छोड़कर दीक्षा ले ले तो समझो उसकी अंतरंग की आँख खुल गयी, बाहर की आँख बंद हो गयी। कई बार व्यक्ति कहते हैं महाराज श्री घर में रहते हैं तो रहते हुये देखते हुये ऐसा हो नहीं पाता कि हम उनकी खैर-खबर न लें उनकी चिंता न करें। हाँ जब घर में नहीं होता कहीं बाहर होता हूँ तो मुझे उनकी न चिंता होती न याद आती। मेरी आँखों के सामने मेरी माँ-पत्नी या बच्चे बीमार हैं तो मैं इतना कठोर नहीं बन सकता कि देखते-देखते मैं उनकी उपेक्षा कर सकूँ। किन्तु बाहर हूँ तब तो कोई बात ही नहीं है। दूसरी बात ये भी है जब सामने रहूँगा तो उनकी भी मुझसे अपेक्षा रहेगी किन्तु बाहर रहूँगा तो उन्हें भी अपेक्षा नहीं है। यदि कोई व्यक्ति गृह त्याग कर साधु-संन्यासी बन गया तो उससे गृहस्थ से संबंध रखने वाले क्या अपेक्षा रखेंगे कुछ भी नहीं।

महानुभाव ! कहने का आशय यह है कि जीते जी आँख बंद करना अर्थात् वैराग्य को प्राप्त होना, जीते जी आँख खुलना अर्थात् अब उसकी अंतरंग की आँख खुल रही है। ऐसे तो हर व्यक्ति ही रात्रि में सोता है सुबह जगता है वह आँख बंद करता हुआ तो सपना देखता है किन्तु एक सपना होता है आँख बंद करके और एक सपना होता है आँख खोलकर के। बाहर की आँख खुलते ही जो सपना चल रहा था वह टूट जाता है और बाहर की आँख बंद होते ही ये जो सपना चल रहा है वह टूट जाता है।

एक राजा जिसका इकलौटा बेटा 2-4 दिन से बीमार था बड़े-बड़े डॉक्टर, वैद्य हकीमों को बुलाया सबने उपचार किया पर बालक ठीक नहीं हुआ। राजा लगातार तीन रात तक बेटे के सिर के पास बैठा रहा खूब सेवा में लगा रहा। जिस राजकुमार को सिर्फ राजा-रानी नहीं अपितु पूरा राजपरिवार चाहता था, किन्तु होनी बड़ी बलवान होती है कभी भी कुछ पलट सकता है। राजा की थोड़ी झपकी लगी और इधर बेटे का प्राणान्त हो गया। प्राणान्त होते ही रोने की आवाज पूरे महलों में गूँज गयी। राजा खुली आँखों से देख रहा है लोग रो रहे हैं। लोगों ने राजा को खूब समझाया राजा पागल सा हो गया, सबने खूब हिलाया तो राजा बोला मैं होश में हूँ, पूछा-क्या बात है तुम रो नहीं रहे हो, वह बोला मैं सोचता हूँ अब क्या रोऊँ। बोले क्यों? राजा बोला अभी जब मैं सो रहा था मेरी झपकी लगी थी उस झपकी में मैं राजा से चक्रवर्ती सम्राट बन गया था। मैंने पूरे छः खण्ड को जीत लिया, मेरे आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई, नवनिधि, चौदह रत्न मेरे पास आ गये थे और हजारों देव मेरी सेवा में लगे हुये थे। भरत चक्रवर्ती सा मेरा वैभव उसी की तरह मैं घर में वैरागी सा रह रहा था और अभी तुम लोगों ने रोकर के मेरी निद्रा को तोड़ दिया और जागते ही मेरा सब वैभव नष्ट हो गया। मैं उस भरत चक्रवर्ती की तरह ध्यान में बैठा हुआ था दीक्षा लेकर मैं मोक्ष जाने वाला था किन्तु आपने जगाकर के मेरी चक्रवर्ती की विभूति को नष्ट कर दिया। 64 हजार मेरे पुत्र 32 हजार मेरी पुत्रियाँ सब मर गयीं, नव-निधि-चौदह रत्न सब कुछ चला गया मेरा बचा क्या मेरे पास। लोगों ने कहा-क्या आप पागल हो गये हो वह तो सपना है। राजा ने कहा-और ये क्या है ये भी तो सपना है वो भी मेरा नहीं था, ये भी मेरा नहीं है। वो भी मेरी कल्पना थी जो अवचेतन मन में विचार आ रहे थे, उनके माध्यम से मैं देख रहा था। अब चेतन मन के माध्यम से देख रहा हूँ कल्पना कर रहा हूँ।

मेरा न ये है, न वो है मेरी तो आत्मा है इस बात का मुझे बोध हो गया है इसलिये मैं नहीं रो रहा।

महानुभाव ! सत्य बात यही है जब तक व्यक्ति आत्म स्वभाव से सोया रहता है तब तक आत्म साधना की अनुकूलता बनने पर भी आदमी आत्मा की साधना नहीं कर पाता और आत्म स्वभाव जाग जाता है तो प्रतिकूलताओं में भी साधना करने की चेष्टा करता है वह पुरुषार्थ करता है। और जागा हुआ वही कहलाता है जो चाहे अनुकूलता बने या प्रतिकूलता बने जब व्यक्ति को ज्ञान हो जाता कि अग्नि जलाती है तो अनुकूलता हो या प्रतिकूलता अग्नि यदि आ रही है तो वह अग्नि से स्वयं को बचाने की चेष्टा करेगा, यदि विकलांग भी होगा तब भी घिसटने की-खिसकने की चेष्टा करेगा अपने आप को बचायेगा। जिसके दोनों हाथ पैर होंगे वह तो भाग जायेगा व दूसरों को बचाने की चेष्टा करेगा। तो ऐसे ही जिसे वैराग्य हो गया है तो प्रतिकूलता है या अनुकूलता वह कहेगा ये तो जेल है, मुझे आत्म विश्वास हो गया, आत्म अनुभव हो गया।

घर कारागृह वनिता बेड़ी परिजन जन रखवारे

यह शरीर तो कुटी है। इस माँस पिण्ड में मेरी आत्मा अनादि से सड़ रही है ऐसे-ऐसे माँस पिण्ड मैंने अनंत बार प्राप्त किये, अब मैं इसमें रंजायमान नहीं होना चाहता, इस माँस पिण्ड के प्रति मेरी विरक्ति हो गयी। वैसे तो कहीं जमीन पर गंदगी पड़ी हो तो मैं उसे छूना भी न चाहूँगा चाहे वह मल है, मूत्र है, माँस है, हड्डी है कुछ भी पड़ा हुआ है मैं छूना भी न चाहूँगा। शरीर शरीर को छू सकता है, पुद्गल-पुद्गल है किन्तु मैं इस पुद्गल का शरीर होते हुये भी ये मानता हूँ कि इसे छूऊँगा भी नहीं यदि छूआ तो अशुद्ध हो जाऊँगा, घृणा करता हूँ किन्तु मेरी आत्मा जिसका निश्चय से स्वभाव ही सिद्धों जैसा है फिर भी वह इस माँस पिंड में पड़ी हुयी है आश्चर्य की बात है। इससे विरक्ति क्यों नहीं होती। अपने आप को क्यों नहीं जानती क्या इसी में पड़ा रहना स्वभाव है। जब ये अंदर से जाग्रति हो जाती है तब अंदर से ऐसा वैराग्य आ जाता है कि बस बंधनों को तोड़कर के वह बाहर निकल जाता है फिर उसे कोई भी रोकने की चेष्टा करे वह नहीं सुनता। जब व्यक्ति को वास्तव में वैराग्य होता है तब कौन किसको रोक पाता है। आकाश में कितने भी सघन बादल छायें हों जब बिजली कड़कती है तो उसे क्या बादल रोक पाते हैं। बादलों के रोकने से बिजलियाँ कब रुकी हैं। तो वैरागी को कोई रोक नहीं सकता, वैरागी का बल सबसे प्रबल होता है। वैराग्य सबसे प्रबल होता है।

यहाँ कह रहे हैं ''यदभावे सुषुप्तोऽहं'' आत्मा जिस भाव से सोया रहा उसके अभाव होने पर पुनः उसके जाग्रत होने पर फिर उसे क्या प्राप्त होता है। स्वसंवेदन आत्मज्ञान प्राप्त होता है जो अतीन्द्रिय है इन्द्रियों के अनुभव में नहीं आता। उस आत्मा का स्पर्श, गंध, वर्ण आदि वह कुछ नहीं बता सकता क्योंकि वह आत्मा अतीन्द्रिय है इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है व वह आत्मा अनिर्देश्य है, वह आत्मा शब्दातीत है उसका निर्देश नहीं किया जा सकता शब्दों में उसे नहीं कहा जा सकता ऐसी आत्मा है जो संवेदन के योग्य है इसे अन्य प्रकार से जान ही नहीं सकते। अब कैसे जानेंगे। कोई व्यक्ति एक नहीं हजारों कैमरे लाकर रख दे, उससे कोई कहे देखना भाई मेरी हड्डी में फ्रेक्चर कहाँ आया है। कैमरे से कैसे देखोगे और एक्स-रे मशीन लेकर कोई फोटो खिचवाये कहे देखना मेरे कपड़े कैसे आ रहे हैं ठीक आ रहे हैं क्या? तो एक्स-रे मशीन में कपड़े नहीं आयेंगे ऐसे ही इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को ग्रहण नहीं किया जा सकता, इन्द्रियाँ आत्मा को अपना विषय बना ही नहीं सकती। जो जिसका विषय ही नहीं है वह उसको कैसे ग्रहण करेगा।

इन्द्रियाँ कहती हैं आत्मा को ग्रहण करना हमारा विषय नहीं है और तुम्हारे पास और कोई साधन नहीं है तुम तब विश्वास करोगे जब इन्द्रियाँ इसे ग्रहण कर लेंगी पर इन्द्रियों से आत्मा पकड़ में नहीं आती। आत्मा तो स्वसंवेद्य है। आत्मा-आत्मा के द्वारा ही जानी जाती है, उसी से अनुभव

में आती है। एक सेठ जी थे। उनकी धर्म में रुचि नहीं थी। सेठानी का मन धर्मध्यान की ओर विशेष रूप से झुका हुआ था। सेठ को यह सब सुहाता नहीं था किन्तु सेठानी, सेठजी से आग्रह किया करती थी-''आप भी थोड़ा धर्म-आराधना किया करो।''

सेठ कहता-''तुम्हें क्या पता? मुझे कितना काम रहता है। साँस लेने तक की तो फुरसत नहीं है। वह कहती-संसार का काम तो चलता ही रहेगा किन्तु थोड़ा समय धर्म के लिए निकाला करो। परभव में यही साथ जायेगा, बाकी सब तो यहीं रहेगा। सेठ चिढ़कर बोला-धर्म कर्म फालतू की बातें है। जीव, लोक, परलोक आदि ये सब बातें बेकार हैं। किसने देखा परलोक। जो चीज दिखाई ही नहीं देती है, व्यर्थ उसके पीछे पड़ना बुद्धिमानी नहीं है। ''अच्छा, एक काम कर। तू मुझे जीव (आत्मा) को हथेली पर रखकर दिखा दे, तो मैं तेरी बात मान लूँगा। सेठानी क्या बोले? किन्तु वह चाहती थी कि सेठ को बोधि-लाभ हो, धर्म की प्राप्ति हो इसलिए वह अवसर की ताक में थी।

एक दिन वह अवसर आ ही गया। सेठजी के सिर में तीव्र दर्द उठा। डॉक्टर को बुलाया उसने जाँच करी व दवा लिख दी। सेठानी ने दवा मँगवाई और अलमारी में रख दी। सेठ ने पूछा-''दवा आ गई क्या? सेठानी ने ''हूँ'' कहा और अपने काम में लग गई। सेठ ने कुछ देर बाद पुनः पूछा परन्तु सेठानी ने सुना-अनसुना कर दिया। सेठ के दर्द बढ़ता ही जा रहा था। सेठ ने तेज स्वर में पूछा तो सेठानी अनजान बनकर बोली क्या हुआ, सेठ ने गुस्से में कहा तुझे पता नहीं क्या हुआ, मेरे सिर दर्द हो रहा है। सेठानी ने लापरवाही से सिर पर आँखें गड़ाकर कहा-''कहा'' दिख तो नहीं रहा।'' तो क्या मैं ढोंग कर रहा हूँ? सेठानी ने रुक्षता से कहा ''क्या पता कर रहे हो? आप दर्द को हथेली पर रखकर दिखाओ, तो मुझे विश्वास हो जाए। तब मैं आपको दवा दूँगी। सेठ सब बात समझ गया। जिस प्रकार दर्द को हथेली पर रखकर दिखाया नहीं जा सकता, स्वयं अनुभव किया जा सकता है और दूसरा उसका अनुमान कर सकता है। ठीक वैसे ही जीव (आत्मा) तो अरूपी है, अमूर्त है, अस्पर्शी है, अतः इसे इन्द्रियों अथवा यंत्रों से नहीं जाना जा सकता। उसे आत्मा के अलावा अन्य किसी से जान नहीं सकते, मान नहीं सकते, अनुभव कर नहीं सकते इसलिये आत्मा को आत्मा के द्वारा जानो। जब अनुभव में आ जाता है तब वह स्वयं कहता है मैं ये हूँ। चिन्मय चैतन्यमय आत्मा मैं हूँ, अनंत सुख वीर्य गुणादि मेरी आत्मा में है। अग्नि के बारे में सुना था ऐसी होती है, चित्र देखा था ऐसी होती है किन्तु जब हाथ जल गया तब अनुभव में आया वास्तव में अग्नि ऐसी होती है। जैसे अग्नि का अनुभव स्वयं हुये बिना मात्र चित्र देखने से, दूसरा कोई जल जाये उसे देखने से अग्नि की पीड़ा का बोध नहीं हो सकता ऐसे ही आत्मा के बारे में जब तक स्वयं नहीं जानेंगे तब तक आत्मा का बोध नहीं हो सकता।

आचार्य महाराज यही कहना चाहते हैं जिस शुद्ध आत्मस्वभाव (चित्स्वभाव) की प्राप्ति न होने से मैं बेहोश रहा आया हूँ और उस ही चित्स्वभाव की उपलब्धि होने पर जगा हूँ अर्थात् यथार्थ तत्त्व जानने लगा हूँ वह चित्स्वभाव मात्र मैं हूँ। जो न तो इन्द्रिय गम्य है और न वचनों से कहा जा सकता है किन्तु मात्र स्वसंवेदन से गम्य हूँ।

सगसंवेदण- जोग्गो, अप्पा णियमेणं ठादि अप्पम्मि।
अप्पा णो हु गच्छेदि, परदव्वाणि कहं पि कया वि॥४५॥

अर्थ-स्वसंवेदन के योग्य आत्मा नियम से आत्मा में ठहरती है। आत्मा कभी भी, किसी भी कारण परद्रव्यों में नहीं जाती।

-सुद्धप्पा
आचार्य श्री वसुनंदी मुनि

१९. आत्मा ही आत्मा का गुरु है

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः॥२५॥

अन्वयार्थ-यतः-क्योंकि **बोधात्मानं**-शुद्ध ज्ञान स्वरूप **मां**-मुझ आत्मा का **तत्त्वतः प्रपश्यतः**-वास्तव में अनुभव करने वाले के **अत्र एव**-इस जन्म में ही **रागाद्यः**-राग, द्वेष, क्रोध, मान, मायादिक दोष **क्षीयन्ते**-नष्ट हो जाते हैं **ततः**-इसलिये **मे**-मेरा **न कश्चित्**-न कोई **शत्रुः**-शत्रु है **न च**-और न कोई **प्रियः**-मित्र है।

यहाँ बता रहे हैं कि सोते से जागा व्यक्ति अपनी आत्मा को जान लेता है तो उसकी भ्रान्ति क्षणभर में वैसे ही दूर हो जाती है जैसे सूर्य का उदय होते ही समस्त अंधकार नष्ट हो जाता है। व्यक्ति कदाचित् दुःख को ऐसे नष्ट करना चाहे तो ऐसे दुःख को नष्ट नहीं कर सकता, कोई मूर्ख व्यक्ति अंधकार को लाठियों से भगाने की कोशिश करे तो वह अंधकार लाठियों से नहीं भाग सकता वैसे ही कोई व्यक्ति चाहे कि मेरा दुःख दूर हो जाये, दुःख भाग जाये तो ऐसे दुःख भागने वाला नहीं है। जैसे अंधकार को भगाने का एक ही उपाय है, एक ही उपाय था और एक ही उपाय रहेगा उस स्थान पर प्रकाश कर दो अंधकार अपने आप भाग जायेगा तुम्हें अंधकार से लड़ने की आवश्यकता नहीं।

मूर्ख व्यक्ति जिंदगी भर अंधकार से लड़ता रहता है किन्तु अंधकार को किंचित् भी कम नहीं कर पाता और जो अंधकार से लड़ता है वह आचार्य महोदय की दृष्टि में मूर्ख कहलाता है। ऐसे ही अपने अज्ञान से लड़ने वाला व्यक्ति ज्ञानी कभी नहीं बनता, अपने दुःखों से लड़ने वाला व्यक्ति कभी सुखी नहीं बन पाता, अपने विभाव से लड़ने वाला व्यक्ति कभी स्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाता सीधा सा उपाय है। अंधकार को भगाने के लिये प्रकाश कर दो, दुःखों को भगाने के लिये सुखों का प्रकाश कर दो।

महानुभाव ! एक बार एक सास अपनी नयी बहू को लेकर प्रीतिभोज में गई। शाम होने को थी। सास को कुछ काम था उसने बहू से कहा तुम घर जाओ में थोड़ी देर में आ जाऊँगी पर ध्यान रखना घर में अंधेरा न हो पाये। बहू घर पहुँची तब तक सूर्य अस्त होने जा रहा था और घर में अंधेरा बढ़ रहा था। बहू अपने हाथ में एक लकड़ी लेकर चारों तरफ मारने लगी, वो अंधेरे को लकड़ी से मारकर भगाना चाहती थी। लकड़ी के प्रहार से घर में रखे मिट्टी के बर्तन टूट-फूट गये परन्तु अंधेरा नहीं भागा, बढ़ता ही गया। तब तक सास आ गई। उसने बहू को लकड़ी चलाते हुए देखकर पूछा यह क्या कर रही हो? उसने कहा आपके आदेश का पालन कर रही हूँ, अंधेरा भगा रही हूँ। बहू की अज्ञानता पर सास को हँसी आ गई। उसने दीपक जलाया, कहा-देखा, अंधेरा

ऐसे भागता है, लकड़ी से नहीं। इसी प्रकार केवल क्रियाकाण्ड से अज्ञान का अंधेरा दूर नहीं होता परन्तु जिस क्षण आत्मा में सम्यग्ज्ञान का दीपक प्रज्ज्वलित होता है, उसी क्षण अज्ञान का अंध कार नष्ट हो जाता है। अपने अज्ञान के अंधकार को भगाने के लिए अपने अंदर में ज्ञान का प्रकाश कर लो। संसार के पर पदार्थों के प्रति विरक्ति हो जायेगी। जिसे धर्म में आनंद आने लगेगा उसे संसार के पदार्थ अच्छे नहीं लगेंगे। जब तक आपको संसार के पदार्थ, संसार की वस्तुयें, संसार के व्यक्ति भोग-उपभोग अच्छे लग रहे हैं समझो अभी धर्म में आनंद आ नहीं रहा। धर्म में आनंद आते ही आप उस ओर देखेंगे भी नहीं।

जिस व्यक्ति ने जीवन में एक बार भी क्षीर सागर का जलपान किया है ऐसा व्यक्ति कालोदधि का खारा पानी क्यों पीना चाहेगा। जब तक क्षीर सागर का जल नहीं पिया तब तो बार-बार वहीं जायेगा। जिसे एक बार वीतरागी मुद्रा को देखकर आनंद आ गया है वह रागी द्वेषी, हर-हरादि देवों में निष्ठा नहीं रखेगा।

यहाँ भी यही कह रहे हैं कि अभी तक सुषुप्त था (कल कारिका में देखा था) अपने स्वभाव से अभी तक सोया था किन्तु जैसे ही मैं अपने स्वभाव से जाग्रत हो गया वैसे ही मुझे आत्मा का संवेदन हुआ क्योंकि आत्मा संवेदन गम्य है, आत्मा मन के द्वारा चिंतवन करने के योग्य है अनुभव तो आत्मा आत्मा में करती है ध्यान रखें मन से भी आत्मा अनुभव में नहीं आती। इन इन्द्रियों द्वारा तो आत्मा का अनुमान लगाया जाता है। अनुमान से अनुभव नहीं होता। आप जानते होंगे अनुमान और अनुभव दोनों चीजें अलग-अलग हैं। तुमने अनुमान लगाया मिठाई बन रही है मीठी होना चाहिये किन्तु मीठा होना अनुमान आपका बिल्कुल पक्का है, सत्य है, भ्रम नहीं संदेह नहीं है किन्तु उस अनुमान से आपको अनुभव तो नहीं हुआ कि वह कैसी मीठी है। अनुभव एक अलग चीज है, अनुमान एक अलग चीज है ऐसे ही आत्मा के बारे में इन्द्रिय ज्ञान, शब्द ज्ञान के द्वारा अनुमान तो लगाया जा सकता है किन्तु अनुभव नहीं किया जा सकता, अनुभव तो स्वयं आत्मा-आत्मा में करती है।

यहाँ बता रहे हैं जब आत्मा जाग्रत हो जाती है तो जाग्रत आत्मा क्या करती है

क्षीयन्तेऽत्रैव रागादि-उसके रागादि भाव क्षीण होते चले जाते हैं। जाग्रत होने के उपरांत व्यक्ति को सावधान नहीं किया जाता वह स्वयं सावधान हो जाता है जब तक सो रहा था तब तक उसके सामान को कोई भी ले रहा है दुरुपयोग कर रहा है या लेकर भी चला जाये तब भी वह सो रहा है उसे कुछ मालूम नहीं, लेकिन जब जाग गया तो स्वयं इधर-उधर देखता है और सचेत हो जाता है। तो जागने के उपरांत राग आदि जो विकारी भाव हैं विभाव परिणाम हैं, भावकर्म हैं वे अपने आप क्षीण होने लगते हैं, यूँ कहें जागने के उपरांत चोर भागने लगते हैं। जब तक

व्यक्ति सो रहा है तब तक वहाँ चोरों का जमघट लगा हुआ है वे अपनी मनमानी कर रहे हैं जाग गया त्यों ही सब भाग खड़े होते हैं। जागा हुआ शेर बहुत खतरनाक हो सकता है जब शेर सो रहा है तब चूहे बराबर भी काम नहीं कर सकता, जागा हुआ चूहा कम से कम तुम्हारे कपड़े कुतरेगा, हाथ-पैर काट लेगा किन्तु सोया हुआ शेर क्या करेगा कुछ नहीं करेगा। तो यहाँ कह रहे हैं जागी हुई आत्मा ये मानकर चलो जागे हुये शेर की तरह से है और सोयी आत्मा तो सो ही रही है।

जागने पर क्या होता है ? जागने पर राग आदि क्षीण होने लगते हैं। अत्र एव-इसी आत्मा में (रागादि इसी आत्मा में नष्ट होने लगते हैं) फिर क्या होता है **तत्वतः मां प्रपश्यतः**-स्वभाव से/वास्तविक रूप से अपने ही वैभव को देखता है आत्मा को देखने का आशय है आत्मा अपने गुणों को, धर्म को, स्वभाव को देखता है मैं कौन हूँ क्या हूँ कैसे हूँ। जब भी व्यक्ति को आत्मबोध होता है, जब भी व्यक्ति को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, जब भी व्यक्ति को जीवन में धक्का लगता है तो वह स्वयं को देखता है अरे ! मैं अभी तक कहाँ लगा रहा मैंने पूरी जिंदगी यूँ ही बर्बाद कर दी। दूसरों को संतुष्ट करने के लिये, वस्तुओं का संग्रह करने के लिये मैंने स्वयं को ही ठगा है किसी और की गलती नहीं है। फिर वह स्वयं वैरागी हो जाता है।

कई बार वैरागी इतना कृतज्ञ होता है उसके प्रति जो उसका बुरा करता है। वह कहता है यदि तूने मेरे जीवन में ऐसा नहीं किया होता तो आज मुझे यह रास्ता प्राप्त नहीं हुआ होता। रावण का मौसेरा भाई वैश्रवण, जब उन दोनों का आपस में युद्ध हुआ और वैश्रवण को युद्ध में पराजय का मुख देखना पड़ा तब उसे संसार से बहुत भारी विरक्ति हुई। उस समय उसने अपने शत्रु दशानन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए यही कहा कि वह दशानन मेरा कल्याणकारी मित्र है कि जिसने मुझ दुर्बुद्धि को गृहवास रूपी महाबन्धन से मुक्त करा दिया। इस प्रकार विचार कर उसने दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली और समीचीन तप की आराधना कर परमधाम प्राप्त किया।

ऐसे ही इन्द्र के विषय में आता है-रावण का जब इन्द्र से युद्ध हुआ तब रावण ने इन्द्र को युद्ध में हराकर बंदी बना लिया किन्तु इन्द्र के पिता सहस्रार के आग्रह पर रावण ने उसे बंधन मुक्त कर दिया। एक बार इन्द्र अपने महल के भीतर विद्यमान जिनालय में बैठा था। वह निरन्तर पराजय का स्मरण करता हुआ शरीर को निरादर भाव से धारण कर रहा था उसने विचार किया जिसने शत्रुओं के सिर पर पैर रखकर जीवन बिताया वह मैं अब शत्रु द्वारा अनुमत लक्ष्मी का कैसे उपभोग करूँ? उसके मन में वैराग्य आया तब उसने यही कहा ''शत्रु के वेश को धारण करने वाला रावण मेरा महाबन्धु बनकर आया था जिसने कि इस असार सुख के स्वाद में लीन मुझको जागृत कर दिया।'' पश्चात् दैगम्बरी दीक्षा को अंगीकार कर निर्वाण पद को प्राप्त किया।

जिस पत्थर से ठोकर खायी जाती है मंजिल के निशान भी उसी पत्थर से मिलते हैं। जीवन में जो अनावश्यक चीजें थी उनका किसी अन्य प्रकार से प्रयोग किया इसे ज्ञानी की भाषा में कहें

तो दुरुपयोग किया था उनका सम्यक् उपयोग करके आत्मा के वैभव के सम्राट बन सकते हैं। यहाँ कह रहे हैं-जैसे ही व्यक्ति जाग्रत होता है तब रागादि भाव उसके क्षीण होने लगते हैं और स्वाभाविक रूप से अपनी आत्मा को देखने में वह समर्थ हो जाता है तथा जब उसे आत्मा का बोध होता है फिर सोचता है संसार में मेरा कौन शत्रु है कौन प्रिय है। सब ठीक है। संसार में अनंतानंत जीव भरे पड़े हैं, किसको मैं शत्रु मानूँ किसको प्रिय मानूँ आज इनके साथ रह रहा हूँ कल किसी अन्य के साथ रहूँगा इस प्रकार अनंतभव इस संसार में बीत गये। संसार में ऐसा कोई जीव नहीं लगता जो मेरा शत्रु नहीं बना, मेरा मित्र नहीं बना। आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी जी ने अष्ट पाहुड़ में लिखा है-'हे भव्य जीव तूने आज तक इतनी माताओं का दूध पिया है उन माताओं के दूध की एक-एक बूंद इकट्ठी कर दी जाये तो सागर के सागर भर जायेंगे। आज तूने इतने शरीर धारण किये हैं उन सभी का एक-एक रोम इकट्ठा कर दिया जाये तो सुमेरु पर्वत से पहाड़ लग जायें।

महानुभाव ! इतनी मातायें, भाई-बन्धु हमने इस अनंत संसार में प्राप्त किये हैं किन्तु वे मोक्ष नहीं जा पाये यदि वे संसार में भटक रहे हैं हमारी तरह से आज कहीं किसी पर्याय में तो सबके साथ हमारा नाता है-संबंध है। ऐसे देखें तो किसी के साथ हमारा कोई नाता नहीं कोई संबंध नहीं हमारी आत्मा स्वतंत्र है सामने वाले की आत्मा स्वतंत्र है। आत्मा-आत्मा का संबंध होता ही नहीं। आत्मा अलग द्रव्य है, दूसरी आत्मा अलग द्रव्य है इस आत्मा के साथ पुद्गल लगा है, शरीर मिल गया है। शरीर के संबंध होते हैं आत्मा का संबंध किसी में नहीं होता। किसी आत्मा का किसी आत्मा से कोई संबंध न था, न है, न रहेगा किन्तु जब आत्मा स्वभाव को प्राप्त कर लेती है तो इस आत्मा से स्वत: ही ऐसी दिव्यध्वनि नि:सृत होती है जिसे वर्गणाओं से ग्रहण करके दूसरी आत्मा भी अपने स्वभाव को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है।

यहाँ यही कह रहे हैं-जब आत्मा का बोध हो जाता है तो संसार में फिर कोई भी प्रिय दिखाई नहीं देता। कोई शत्रु दिखाई नहीं देता। जब तक बोध नहीं होता तब तक वह सभी में अपना शत्रुता व मित्रता का भाव रखता है। जब नींद खुल जाती है तब कहता है कौन किसका है, कौन किसके लिये क्या कर सकता है। ये शरीर के रिश्ते हैं। इस शरीर से ही मुझे अपना कल्याण करना है, इस शरीर रूपी गाड़ी से मुझे मोक्षपुरी पहुँचना है। रास्ते में आने वाले राग-द्वेष बाधक हैं तो मेरी गाड़ी इनसे बाधित नहीं होगी न रुकेगी वह तो निराबाध रूप से चलती रहेगी। मेरे पास समय नहीं है यदि मैंने अपनी गाड़ी रास्ते में मिलने वाले मित्रों के लिये रोक दी उनसे हिलने-मिलने लगा या शत्रुओं से लड़ने लगा तो अपनी मंजिल तक नहीं पहुँच पाऊँगा क्योंकि मेरे पास समय कम है मेरी शरीर रूपी गाड़ी में श्वांस रूपी पेट्रोल कब खत्म हो जाये कह नहीं सकते इसलिये पेट्रोल रहते जितनी दूरी तय कर सकूँ उतना ही श्रेयस्कर है। फिर आगे देखूँगा कि पेट्रोल पम्प कहाँ

मिलेगा, कहाँ नहीं मिलेगा। अगले मनुष्य भव में पुनः श्वांस प्राप्त करूँगा उसके बाद पुनः आगे बढ़ूँगा क्योंकि मुझे मोक्षपुरी जाना है।

महानुभाव ! संसार में तुम्हें कभी प्रशंसा कर कभी निंदा करके रोकने वाले होंगे सब प्रकार के लोग मिलेंगे किन्तु इन सबसे आपकी गाड़ी की गति रुकेगी, कम होगी यदि किसी का जवाब दोगे तो। इसलिये इस श्लोक में पहले ही कह दिया-भैया ! तुम देह और मैं देह मेरी आत्मा तुम्हें नहीं दिख रही, तुम्हारी आत्मा मुझे नहीं दिख रही अब मैं किससे बोलूँ चुपचाप शांति से बैठो आँख बंद, कान बंद, मुँह बंद और मन को भी बांध लो। हाथ पैर सब शांत अपनी सर्व इन्द्रियों को सकुच कर ऐसे बैठ गये जैसे कछुआ अपने हाथ-पांव सिकोड़ कर बैठ जाता है। ऐसे ही चुपचाप बैठ जाओ उसे ही कहते हैं संयमी। फिर आँख बंद कर ऐसी दौड़ लगाओ, मुनि महाराज आँख बंद कर बैठ जाते हैं ऐसी दौड़ लगाते हैं कि दौड़ने वाले सब हार जाते हैं। जब मुनिमहाराज चलते हैं तो उनकी गति धीमी हो जाती है बैठ के गति ज्यादा हो जाती है। क्यों ? बैठकर जो ध्यान में मन लग सकता है वह चलते-चलते ध्यान में मन नहीं लग सकता। कभी कदाचित् कुछ चिंतन आ गया, क्षणभर के लिये कोई अच्छा उपयोग लगा तो अलग बात है अन्यथा जब चिंतन में बैठे हैं, स्तुति पाठ कर रहे हैं उसमें डूबते जा रहे हैं तो स्पीड बहुत तेज हो जाती है। आप लोग दौड़कर भी बहुत दूर कहीं नहीं पहुँच पाते, जहाँ से दौड़ते हो दौड़कर वहीं आ जाते हो कोल्हू के बैल की तरह से। मुनिमहाराज सोचते हैं ऐसे तो बहुत दौड़ लिये कहीं नहीं पहुँचे अब आँख बंद करके बैठ जाओ तो जल्दी पहुँच जायेंगे।

तो महानुभाव ! इस संसार में अभी आपके शत्रु हैं विषय कषाय राग द्वेष और मित्र यदि है तो वैराग्य और ज्ञान हैं। विषयों से बचने के लिये विराग और कषायों का शमन करने के लिये ज्ञान। ज्ञान की बीन बजाओ तो कषाय रूपी सर्प नाच-नाच कर थक जायेंगे अपना सिर जमीन पर पटक कर ही रहेंगे वे कषायें आपका बाल बाँका न कर पायेंगी। ज्ञान की बीन नहीं है तो वे डसते ही रहेंगे आप उससे विषाक्त हो जायेंगे आपको अपना ख्याल ही नहीं है आप बेहोश पड़े हैं। ज्ञान की बीन बजाना जरूरी है।

महानुभाव इस गाथा में आचार्य महाराज कह रहे हैं कि यथार्थ रूप से ज्ञानात्मक मुझ आत्मा को देखने वाले पुरुष के यहाँ ही रागद्वेषादि भाव नष्ट हो जाते हैं। इस कारण मेरा न कोई शत्रु है न कोई प्रिय है।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः॥२६॥

अन्वयार्थ-मां-मेरे आत्मस्वरूप को **अपश्यन्**-नहीं देखता हुआ **अयं लोकः**-यह अज्ञ प्राणिवृन्द **न मे शत्रुः**-न मेरा शत्रु है **न च प्रियः**-और न मित्र है तथा **मां**-मेरे आत्म स्वरूप को

प्रपश्यन्-देखता हुआ **अयं लोकः**-यह प्रबुद्ध-प्राणिगण **न मे शत्रुः**-न मेरा शत्रु है **न च प्रियः**-और न मित्र है।

जो अपने वैभव को पास में रखकर बैठा हुआ है, उसके धन वैभव के प्रति किसी का उपयोग नहीं है सब अपने-अपने काम में लगे हुये हैं उसे किसी से मतलब नहीं, अन्य को उससे मतलब नहीं तो वह कहता है मेरा संसार में कौन शत्रु कौन मित्र। और जब मैं अपने वैभव को नहीं देख रहा हूँ आँख बंद कर बैठा हूँ तब मुझे क्या मालूम कौन मेरा शत्रु कौन मेरा मित्र क्योंकि आँख बंद कर मैंने ही अपने वैभव की उपेक्षा कर दी, उसका कौन क्या कर रहा है मुझे अपने वैभव का ही नहीं मालूम तो मैं शत्रु-मित्र की जो कल्पना कर रहा हूँ वह व्यर्थ है। मेरे आत्मा के गुणों को तो कोई छीन नहीं सकता, बाहर का जो वैभव पुद्गल है ये मेरा है नहीं, इसे कोई ले या दे। कोई दे देगा तो मेरा कुछ बनने वाला नहीं है छीन लिया तो कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। जब किसी ने दिया तो वो मेरा प्रिय नहीं हो गया, जब छीन लिया तो मेरा शत्रु भी नहीं और जब मैं अपने आप में डूब जाता हूँ आत्मा-आत्मा में लीन हो जाती है फिर बाह्य विकल्प आता ही नहीं है तो कौन शत्रु-कौन मित्र। मैं इन सबसे रहित हूँ वहाँ तो निर्विकल्प दशा है। शब्दातीत दशा है, देह में रहते हुये भी देहातीत दशा का अनुभव हो रहा है। तो कहाँ शत्रु-कहाँ मित्र वहाँ तो कुछ है ही नहीं।

यहाँ आचार्य महाराज इतनी अच्छी बात कह रहे हैं जब मैं न स्वयं को न द्रव्य कर्म न भाव कर्म न नोकर्म किसी को ही नहीं देख रहा अपनी शुद्धात्मा में लीन हूँ तो न अंतरंग के शत्रु न बाह्य के शत्रु, न अंतरंग के मित्र न बाह्य मित्र। यहाँ तो एक ही चीज दिखाई दे रही है।

जब तक कोई व्यक्ति अपनी थाली का भोजन कर ही नहीं रहा, तब तक कैसे कह सकता है कि भोजन अच्छा है या बुरा। दूसरे की थाली देखकर के, दूसरे के मुँह के स्वाद को देखकर के वाह ! वाह ! वह कर रहा है तो कैसे कह सकता है कि भोजन अच्छा है या खराब। और जब तुम अपनी थाली में भोजन करके आनंद में मग्न हो आँख बंद कर आनंद ले रहे हो तब तुम कैसे कह सकते हो सामने वाले का भोजन अच्छा नहीं है। तो ऐसे ही जब तुम अपनी आत्मा का अनुभव कर रहे हो तब भी नहीं कह सकते कि संसार में तुम्हारा कोई शत्रु है या मित्र है जब अपनी आत्मा का अनुभव नहीं कर रहे तब भी तुम नहीं कह सकते कि कौन तुम्हारा शत्रु है या मित्र है।

महानुभाव ! बात यह है कि एक समय में एक ही काम होता है आत्मा को देखेंगे तो हम संसार के अन्य पदार्थों को देख नहीं सकते, जान नहीं सकते जब जान और देख नहीं रहे तब कल्पना कैसे कर सकते हैं कि ये शत्रु है मित्र है अच्छा है बुरा है। जैसे आप सामने की ओर दृष्टि

किये हो तुम्हारे पीठ पीछे कौन बैठा है वह जो बैठा है वह अच्छा है या बुरा ये कैसे बताओगे ? नहीं बता पाओगे और जब पीछे देख रहे हो, पीछे देखकर उसी की चर्चा सुन रहे हो, तुमसे कोई बोल ही नहीं रहा वे अपने काम में मस्त हैं तब भी तुम कैसे कह सकते हो। वे तुमसे कोई व्यवहार कर ही नहीं रहे। पुद्गल का खेल है। पुद्गल को देखकर तुम कैसे कह सकते हो ये अच्छा है या बुरा। क्योंकि पुद्गल तो तुम्हारा कुछ बिगाड़ कर ही नहीं रहा तुम ही स्वयं का बिगाड़ कर रहे हो, तुम्हारी आत्मा का जो बिगाड़ करे तो तुम उसे शत्रु कहो तुम्हारी आत्मा का कोई हित करे तो तुम उसे मित्र कहो पर तुम्हारी आत्मा का बिगाड़ करने वाले भी तुम हो और सुधार करने वाले भी तुम हो। इसलिये सामने वाले को शत्रु कैसे कह सकते हो, सामने वाले को मित्र कैसे कह सकते हो।

इष्टोपदेश में कहा-आत्मा ही आत्मा का गुरु है आत्मा ही आत्मा का शिष्य है जब तक आत्मा अपना कल्याण करना नहीं चाहे तब तक कोई भी तुम्हारा कल्याण कर नहीं सकता और जबतक आत्मा अपना अकल्याण नहीं करना चाहे तो संसार की कोई भी शक्ति तुम्हें उठाकर नरक में नहीं भेज सकती न स्वर्ग मोक्ष पहुँचा सकती है। ये आत्मा स्वयं अपने सद् असद् पुरुषार्थ से नरक-स्वर्ग मोक्ष जाता है जहाँ भी जाता है आत्मा अपने भाव से ही जाता है संसार की अनंत शक्ति मिलकर न हमें निगोद ले जा सकते हैं न मोक्ष। जब वे कहीं ले जा नहीं सकते तो उन्हें शत्रु या प्रिय कैसे कह दूँ।

महानुभाव ! उपयोग जब बाहर लगा है तब अपनी निधि देख ही नहीं सकते। जब तुम देख नहीं रहे तब तुम्हें क्या पता कि कौन मेरा अच्छा कर रहा है कौन बुरा और जब तुम आत्मा में डूब गये तो फिर तुम्हें मालूम नहीं कि बाहर से कौन आ रहा है। इसीलिये उपयोग बाहर की ओर है तब भी शत्रु मित्र की पहचान नहीं होती और उपयोग अंदर की ओर है तब भी शत्रु-मित्र की पहचान नहीं होती और दूसरी बात ये है कि शत्रु मित्र की पहचान तो तब करें जब संसार में शत्रु-मित्र हों। शत्रु-मित्र संसार में है ही नहीं शत्रु और मित्र केवल हमारी धारणा में होते हैं।

शत्रुता का आशय है-''मैं इसे नहीं रहने दूँगा'' चाहे किसी का धन हो, किसी का ज्ञान हो, दूसरे के किसी भी गुण या विशेषता को नष्ट करने का भाव ही द्वेष है। व्यक्ति द्वेष में एक ही बात कहता है ये मेरे सामने न आये, इसे मैं छोड़ूँगा नहीं वह उसे चाहता ही नहीं किन्तु उस वैर को भी नहीं छोड़ता और न उस शत्रु को जीने देता। सामने वाले का नुकसान उसे खुशी देता है अथवा उसकी मृत्यु हो गयी या उसकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी ये सब सुनकर तत्काल में तो खुशी होती है, हो सकता है बाद में पश्चाताप भी हो जाये उसकी अन्य विशेषतायें देख-सोचकर मन में आ जाये कि भला व्यक्ति तो था। यही यहाँ कह रहे हैं संसार में कोई किसी का शत्रु नहीं है

संसार में किसी का कोई मित्र नहीं है ये सब तो धारणायें हैं किसी को तुम अच्छा मान लेते हो किसी को बुरा।

महानुभाव ! इस कारिका में आचार्य महाराज यही कह रहे हैं जिस किसी पुरुष के विषय में शत्रु या मित्र की कल्पना होती है उसके सम्बन्ध में यह विचार करें कि यह पुरुष (आत्मा) क्या मुझ ज्ञायक स्वभावमय आत्मा को ज्ञानदृष्टि से देख रहा है, तो वह शुद्ध ज्ञाता ही रहेगा मेरा शत्रु-मित्र कैसे हो सकता है ? और यदि मुझे नहीं देख रहा है तो मेरा शत्रु मित्र कैसे हो सकता है? जिसे देख रहा है उसका शुत्र मित्र बन सकता है तो बनता रहे, मेरा तो नहीं हो सकता।

कमलं विणा तडागं, चंदक्केहि विणा छज्जदि णहो ण।
तह णिग्गंथेण विणा, धम्मसहा ण सोहदि लोये॥१०४॥

अर्थ-जिस प्रकार संसार में कमल पुष्प के बिना सरोवर व चन्द्रमा और सूर्य के बिना आकाश शोभा को प्राप्त नहीं होता है उसी प्रकार निर्ग्रंथ दिगम्बर साधु के बिना धर्मसभा सुशोभित नहीं होती है।

-णिग्गंथ-थुदी
(निर्ग्रंथ स्तुति)
आचार्य श्री वसुनंदी मुनि

२०. बना भिखारी निपट अजान

त्यक्त्वैवं बहिरात्मान मन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत् परमात्मानं सर्वसंकल्प वर्जितम्॥२७॥

अन्वयार्थ-एवं-इस प्रकार **बहिरात्मानं**-बहिरात्मपने को **त्यक्त्वा**-छोड़कर **अंतरात्मव्यवस्थितः**-अंतरात्मा में स्थित होते हुए **सर्व संकल्पवर्जितं**-सर्व संकल्प-विकल्पों से रहित **परमात्मानं**-परमात्मा को **भावयेत्**-ध्याना चाहिए।

श्लोक नम्बर चार में दिया था कि समस्त प्राणियों में तीन प्रकार की आत्मा है बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा उसमें से अन्तरात्मा उपाय है परमात्मा को प्राप्त करने के लिये व बहिरात्मा का त्याग करना चाहिये यही बात इस 27वें श्लोक में कह रहे हैं-

बहिरात्मा के विषय में विस्तार से बताया कि जो बाहर की वस्तु को अपना माने उसी में लीन हो जाये, देह को ही आत्मा माने स्व-पर को स्त्री पुरुषादि सभी को जो अपना मानता है वह बहिरात्मा है। पुनः अन्तरात्मा के बारे में बताया। आचार्य महाराज कह रहे हैं जब उसका भ्रम दूर हो गया कि ये स्थाणु है पुरुष नहीं, यह देह है आत्मा नहीं, जब आत्मा का ज्ञान हो गया तब भ्रान्ति के दूर होते ही आचार्य महाराज कह रहें हैं कि-

इस प्रकार बहिरात्मपने को त्याग करके **अन्तरात्मव्यवस्थितः**-वह अन्तरात्मपने में स्थित हो जाये। अभी वह किसी कुयें में पड़ा था वहाँ से समतल पर आ गया। अब वह क्या करे **भावयेत् परमात्मानं**-अब उसे परमात्मपने की भावना भाना चाहिये। क्योंकि ऐसा नहीं कि मात्र गर्त से निकलकर आ गये अरे ये तो समतल स्थान है अभी तो पहाड़ की चोटी पर चढ़ना है। परमात्मपद को प्राप्त करना एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने से भी ज्यादा दुष्कर है। वह इतना सरल नहीं है अन्यथा कोई भी बन जाता परमात्मा। यहाँ यही कह रहे हैं सबसे पहले जो बहिरात्मपने के कूप में पड़ा हुआ है उसने उस गर्त को ही अपना स्थान मान लिया है, यही मैं हूँ यही मेरा शाश्वत स्थान है इसके आगे क्या हो सकता है इस बहिरात्मपने की बुद्धि को छोड़ो। अर्थात् किसी को शरीर नहीं छोड़ना है अपितु शरीर में जो आत्मा की बुद्धि हो गयी है यह शरीर ही, पर-पदार्थ ही मैं हूँ यह तो व्यवहारपना है मेरा पुत्र, मेरी पत्नी, मेरा मकान, मेरा दुकान यह सब व्यवहार से कहो क्योंकि इसके बिना लोक व्यवहार चलता नहीं आत्मा का कोई नाम होता नहीं नाम तो शरीर के रखे जाते हैं। बिना नाम रखे संसार में जीओगे कैसे, कर्म भूमि में ये सब आवश्यक है इसीलिये नाम रखे जाते हैं नाम रखने के उपरांत व्यवहार जगत में कह देते हैं यह वस्तु उनकी है। व्यवहार में बिना नाम संज्ञा के बात आगे नहीं बढ़ेगी। भोगभूमि में ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है। लड़ाई झगड़ा नहीं है, न घर का, न खेत का, न स्त्री पुत्र का। जन्म से युगल रूप पैदा होते हैं, मृत्यु के समय

युगलिया को ही पैदा करके जाते हैं। कोई रोग-शोक होता नहीं एक को छींक, एक को जम्हाई आयी और शरीर का परित्याग कर देते हैं। देव अवस्था में पहुँच गये। कोई पाप कर्म वहाँ आता नहीं क्योंकि इच्छा पापकर्म के उदय से पैदा होती है, वे भोगभूमिज हैं पुण्य का फल ही भोग रहे हैं।

तो यहाँ कह रहे हैं बहिरात्मपने का त्याग करके अन्तरात्म में ठहरना है। अर्थात् अपने घर से तो निकलकर आओ, स्टेशन प्लेटफॉर्म पर पहुँच गये गाड़ी देर से आयेगी तो आराम गृह में जाकर बैठ गये। अपना सामान गिन लो तीन पोटली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की और साथ में वैराग्य, भक्ति व सम्यक्त्व के आठ अंग, 13 प्रकार का चारित्र आदि सब देखभाल लो। उस आराम गृह में बैठे रहो ज्यों ही मोक्षपुरी जाने वाली गाड़ी आये तो जल्दी से उसमें बैठ जाओ फिर कहीं रुकने का नाम नहीं। यदि तुमने झाँका-झूँकी की, दरवाजा खोलकर बाहर निकले तो नीचे गिर सकते हो। यह (अन्तरात्मा) स्टेशन है और बहिरात्मा वह स्थान जिस घर में तुम पड़े हो। गाड़ी घर तो आयेगी नहीं स्टेशन तक तो पहुँचना ही पड़ेगा। वहाँ पहुँचकर इंतजार करो पुनः सीधे गाड़ी में बैठ जाओ यदि तुम इधर-उधर भटके और गिर गये तो इसमें ड्राइवर की कोई गलती नहीं अन्यथा मंजिल तो सीधी ही है। इसलिये यहाँ कह रहे हैं अन्तरात्मा में व्यवस्थित हो जाओ और परमात्मपने की भावना भाओ। और वह परमात्मपना कैसे प्राप्त होगा-

सर्वसंकल्प वर्जितम्-रास्ते के विकल्पों का त्याग करके अर्थात् रास्ते में कई स्थान मिलेंगे लोग कहेंगे यहाँ उतर जाओ, वहाँ उतर जाओ किन्तु नहीं मुझे तो अंतिम स्थान तक जाना है। अंतिम स्थान तक जाना है तो बीच में उतरने का विकल्प नहीं करना है। विकल्प यदि किया तो हो सकता है पुनः यहीं आना पड़े। क्योंकि बीच में रुकने वाली फ्लाइट वह पैसेंजर को उतार तो सकती है किन्तु वहाँ से बिठाल कर किसी को ले नहीं जाती। लौटते समय उनको बिठाकर ला तो सकती है अर्थात् तुम किसी स्वर्ग में उतर गये तो स्वर्ग से तुम्हें मोक्ष की यात्रा नहीं हो सकती पुनः लौटकर मनुष्यगति को प्राप्त कर वहाँ से बैठकर ही मोक्ष जा सकते हो यदि बीच में कही उतर जाओगे तो बार-बार लौटकर यहीं आना पड़ेगा।

इस प्रकार इस कारिका में शिक्षा देकर आचार्य कहते हैं कि हेय, उपाय व उपेय इन तीन तत्त्वों का वर्णन है बहिरात्मपना तो हेय है और परमात्मपना उपेय (प्राप्त करने योग्य) और इन दोनों का अर्थात् बहिरात्मपने को छोड़ने का व परमात्मपने को प्राप्त करने का उपाय अन्तरात्मा होना है।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥२८॥

अन्वयार्थ-तस्मिन्-उस परमात्मपद में **भावनया**-भावना करते रहने से **सःअहं**-वह अनन्त ज्ञान-स्वरूप परमात्मा मैं हूँ **इति**-इस प्रकार के **आत्त संस्कारः**-संस्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष **पुनः**-फिर-फिर उस परमात्मपद में आत्मस्वरूप की भावना करता हुआ **तत्रैव**-उसी परमात्मस्वरूप में **दृढ़संस्कारात्**-संस्कार की दृढ़ता के हो जाने से **हि**-निश्चय से **आत्मनि**-अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में **स्थितिं लभते**-स्थिरता को प्राप्त होता है।

अब घर से तो निकल आये थे, रास्ते में पुनः याद आया कि अरे अमुक सामान तो घर पर ही रह गया तो पुनः लौटकर चले गये अर्थात् अंतरात्मा तक पहुँच गये पुनः बहिरात्मा में आ गये। पुनः-पुनः लौटकर जो संस्कार आते हैं चौथे गुणस्थान से पुनः मिथ्यात्व में पहुँच गये 5वें, 6वें, 7वें-11वें तक पहुँच गये पुनः नीचे गिर गये। किन्तु जो 12वें में पहुँच गये तो अब लौटने का चक्कर नहीं है। मिथ्यात्व के संस्कारों के कारण पुनः-पुनः संस्कार जाग्रत होते हैं पुनः-पुनः घर की याद आती है। जो संस्कार मिथ्यात्व के थे, जो संस्कार संसार के कारण भूत थे वे संस्कार आत्मा को मोक्ष नहीं जाने देते बार-बार रोकते हैं, पुनः-पुनः जाग्रत होते हैं। तो वे संस्कार जो अंदर से जाग्रत हो रहे हैं उन्हें निर्मम होकर के (कठोर), निर्मोही, निरागी बनकर तोड़ना होता है और जो व्यक्ति थोड़ा सा कहीं ढीला पड़ गया, जिनको छोड़कर के आया है उनकी आँखों में आँसू देखे तो परिवार के, मित्र के प्रति मोह जाग्रत हो आता है और उनकी मोह की बातें जल्दी समझ आती हैं। गुरु महाराज रोज-रोज भी धर्म का उपदेश संसार की असारता समझायें फिर भी समझ नहीं आती। यहाँ यही कह रहे हैं कि अनादि के कुसंस्कार अपनी ओर खींचते हैं वे कर्म सोचते हैं जिस पर मैंने अनादि से राज्य किया वो आज हम पर राज करने के लिये वैराग्य धारण करना चाहता है। व्यक्ति कर्मों के उदय से डर जाता है।

महानुभाव ! जब वे मिथ्यात्व के संस्कार दृढ़ होते हैं तो आत्मा की स्थिति प्राप्त नहीं होती किन्तु जब व्यक्ति बहिरात्मपने के संस्कारों का त्याग करके अन्तरात्मा में स्थित होकर परमात्मपने की भावना भाये, जब एक बार बहिरात्मपने को छोड़ दिया अन्तरात्मा में स्थित हुये तो उस समय दृढ़ संकल्प करना कि चाहे कुछ भी हो जाये मुझे अब लौटना नहीं अर्थात् स्टेशन पर पहुँच गये और गाड़ी छूट गयी तो लौटकर आना नहीं अपितु जिद पर अडिग होना है चाहे किसी दूसरी गाड़ी से जाऊँगा पर जाऊँगा जरूर। एक बार घर से मन बना लिया तो अब लौटना नहीं इसलिये वहाँ तक पहुँचने के लिये कोई न कोई साधन दूसरा देखोगे। जो व्यक्ति ऐसा संकल्प कर लेता है कि आना ही है तो उसे लौटकर नहीं जाना पड़ता। यहाँ यही कह रहे हैं-

परमात्मपने को प्राप्त करना ही मेरी अंतिम दशा है, मेरा राज्य वहाँ पर है मुझे इस अन्तरात्मा की ट्रेन से (रत्नत्रय की ट्रेन से) वहाँ तक (सिद्धालय तक) पहुँचना है। उन संस्कारों को बार-बार जाग्रत करें। अभी तक मैं गड्ढे में क्यों पड़ा हूँ, मैं तो तीन लोक का नाथ हूँ, राजा हूँ।

''बना भिखारी निपट अजान''

अपने आपको भूलकर भिखारी बन गया मैं। क्यों ऐसा बना हूँ मैं। वह ''सोऽहं''-सोऽहं के संस्कार कि मैं वह हूँ, वह मैं हूँ। कौन ? जो परमात्मा है। यह संस्कार अपनी आत्मा में डालें कि भूतकाल में परमात्मा मुझ जैसा था और भविष्य में मैं परमात्मा जैसा हो जाऊँगा। ऐसे संस्कारों को भावना के द्वारा दृढ़ किया जाता है भावनाओं से चित्त में दृढ़ता आती है शक्ति आती है।

एक कमजोर मूंज की रस्सी से बाल्टी को खींचो तो रस्सी टूट जायेगी वह वजन न झेल पायेगी, उस रस्सी को गीली कर दिया तो शक्ति आ गयी और यदि इसमें घी या तेल डाल दिया तो और शक्ति आ गयी तो जैसे पानी/घी/तेल डालने से संस्कार दृढ़ हो जाते हैं ऐसे ही अपने मन में भावनाओं के माध्यम से मजबूती आती है। जिसको जो कार्य करना होता है वह उसके लिये विचार करता है और अपना मन पक्का करता है।

महानुभाव ! ऐसे ही जिसे अपनी आत्मा को परमात्मा बनाना है वह व्यक्ति बार-बार परमात्मा के चित्र को देखे, परमात्मा की मूर्ति को बार-बार देखे, उनके गुणों का बार-बार चिंतवन करे। परमात्मा बनने की भावना को और प्रबल करे जो तुम नहीं हो उसका बार-बार चिंतवन करे। अनित्य भावना ये सब नष्ट हो जायेगा, अशरण भावना मेरी कोई शरण नहीं है आदि-आदि का चिंतवन करता जायेगा तो संसार से विरक्त होकर फिर परमात्मा की भावना बनेगी, उन्हीं भावनाओं से परमात्मा बनने में समर्थ हो पाता है। कई बार लोग पूछते हैं यह संसारी प्राणी परमात्मा बनने की शक्ति लाता कहाँ से है हमसे ही पूछ लेते हैं-आपमें इतना साहस कहाँ से आया कि मैं दिगम्बर मुनि बन जाऊँ। जीवनभर दिगम्बर रहना, जीवन भर पैदल चलना, जीवन भर एक बार आहार करना। ऐसा संकल्प कहाँ से आया क्या आपको कभी डर नहीं लगा ? कभी एक बार मन में विचार नहीं आया कि ऐसा कैसे होगा ? एक बार तो डर लगा होगा ?

हाँ डर लगा था किन्तु निरन्तर भावना भाने से अरे तू तो परमात्मा है क्यों डर रहा है जब ये भावना भाते रहे तू परमात्मा है, इस डर के कारण ही तू इस अनंत संसार में परिभ्रमण कर रहा है तू इस डर को छोड़कर के परमात्मा बन जा। इस डर ने ही तुझे परमात्मा से बहिरात्मा बनाकर रखा है। बहिरात्मपने की खोल अर्थात् जैसे कोई शेर गधे की खाल पहन ले तो गधा नहीं हो जाता। ऐसे ही तू बहिरात्मा का खोल छोड़ और शेर की तरह दहाड़। अपनी गलत धारणाओं को छोड़कर जो परमात्मा दहाड़ रहा है तुम भी दहाड़ कर उसी में जाकर मिल जाओ। जब अंदर से यह शक्ति जाग्रत होती है कि अरे जब तुझे नरक में घानी में पेल दिया तब तुझे कुछ नहीं हुआ अब तेरा क्या बिगड़ेगा, कुछ नहीं। ये चिंतवन करते-करते शक्ति अंदर से आती है। जिस व्यक्ति ने जीवन में एकासन तो ठीक दिन में 2-3 बार का बंधा भोजन भी नहीं लिया जब मन में आया तभी मुंह

में डालते रहे अब उससे कहो एकासन कर ले तो वह सहसा साहस नहीं कर पायेगा किन्तु धीमे-धीमे संकल्प कर ले तो क्रमशः उस स्थान तक पहुँच सकता है। अभ्यास बहुत बड़ी चीज है संस्कार डालते जायें तो बहुत शक्ति आती है।

यहाँ यही कह रहे हैं कि जब वे संस्कार दृढ़ होते चले जाते हैं फिर उसकी स्थिति आत्मा में होती चली जाती है, और ज्यों-ज्यों अन्तरात्मा अपनी आत्मा में लीन हो जाता है जघन्य से उत्तम तक पहुँच जाता है फिर वह अंतिम पद परमात्मपद को प्राप्त कर ही लेता है।

मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः॥२९॥

अन्वयार्थ-मूढ़ात्मा-अज्ञानी बहिरात्मा **यत्र**-जिन शरीर पुत्रमित्रादि बाह्य पदार्थों में **विश्वस्तः**-'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' ऐसा विश्वास करता है **ततः**-उन शरीर-स्त्री-पुत्रादि बाह्य पदार्थों से **अन्यत्**-और कोई **भयास्पदं न**-भय का स्थान नहीं है और **यतः**-जिस परमात्म स्वरूप के अनुभव से **भीतः**-डरा रहता है **ततः अन्यत्**-उसके सिवाय दूसरा **आत्मनः**-आत्मा के लिये **अभयस्थानं न**-निर्भयता का स्थान नहीं है।

एक व्यक्ति बड़ा अच्छा विद्वान, किसी महात्मा के पास तत्त्वचर्चा करने के लिये गया। दोनों चर्चा कर रहे थे तभी अचानक भूकम्प आया वह विद्वान चर्चा करते-करते तुरंत बाहर निकल गया। लगभग 10-15 सैकेण्ड के भूकम्प में वह बाहर चला गया। भूकम्प जब थम गया तो वह पुनः अंदर आया। महात्मा जी ने कहा-अरे ! तुम तो आत्मा के बारे में चर्चा कर रहे थे क्या थी आपकी जिज्ञासा ? वह बोला थोड़ा ठहरो तो सही अभी तो मैं संभल भी नहीं पाया अभी-अभी भूकम्प आया था। महात्मा ने कहा-हाँ आया तो था। वह बोला यदि यह महल गिर जाता तो इसलिये मैं बचने के लिये बाहर चला गया। वे बोले भाग तो मैं भी गया था किन्तु जब मैं तुमसे चर्चा कर रहा था तब मैं बाहर में था, मैंने भी आँख बंद की तो मैं भी अंदर में भाग गया। जो मेरा अभय स्थान है मैं वहाँ चला गया। मेरा अभय स्थान आत्मा के पास है, आत्मा की शरण आत्मा है, मैं वहीं चला गया। तुम किसी अनात्मा के पास पहुँच गये, बहिरात्मा बाहर की ओर भागता है अन्तरात्मा अंदर की ओर भागता है इसलिये अपनी परीक्षा कर लेना जब कष्ट आये और आप बाहर की ओर भागो तो समझो बहिरात्मा और तुम वहीं पर आँख बंद कर बैठ जाओ नवकार मंत्र का जाप कर रहे हो तो तुम धर्मात्मा हो, सम्यग्दृष्टि हो अंदर की ओर भाग रहे हो। बाहर से रक्षक बुला रहे हो तो कोई आने वाला नहीं। अंतरात्मा से शक्ति आयेगी, तुम्हारे पुण्य से सब हो जायेगा बिना बुलाये ही सब आ जायेंगे। इसलिये जो बाहर की ओर दौड़े वह बहिरात्मा। अंदर की ओर दौड़ता है वह अन्तरात्मा इसलिये हमें अंदर की ओर दौड़ना है।

मूढ़ात्मा व्यक्ति जिन स्त्री पुरुष आदि में यह विश्वास किये हुये है कि ये मेरे सहायक हैं इनके माध्यम से मैं अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ हो सकूँगा। वह जो आत्मा का अभय स्थान है उसे प्राप्त नहीं कर पाता क्योंकि एक साथ दो जगह विश्वास नहीं होता। यदि देहादि-पुत्रादि के प्रति विश्वास है कि इनसे रक्षा होगी तो आत्मा उस अभय स्थान को कैसे प्राप्त करेगा। क्योंकि ये ही संसार के दु:खों के, त्रास के स्थान हैं। तथा जिस केवल परम शुद्ध आत्म स्वरूप के संवेदन से दूर हो रहा है, भय खा रहा है, हित का विश्वास नहीं करता कि यही आत्म संवेदन अभय का स्थान है अर्थात् संसार के दु:खों का अभाव हो जाए ऐसे पूर्ण अभय का स्थान है इस कारण आत्म भावना में कष्ट व भय की शंका न करके ज्ञान भावना में दृढ़ यत्न करना चाहिये।

२१. जो मैं हूँ वह है भगवान्

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मनः॥३०॥

अन्वयार्थ-सर्वेन्द्रियाणि-सम्पूर्ण पाँचों इन्द्रियों को **संयम्य**-अपने विषयों में यथेष्ट प्रवृत्ति करने से रोककर **स्तिमितेन**-स्थिर हुए **अन्तरात्मना**-अन्तःकरण के द्वारा **क्षणंपश्यतः**-क्षणमात्र के लिए अनुभव करने वाले जीव के **यत्**-जो चिदानन्दस्वरूप **भाति**-प्रतिभासित होता है **तत्**-वही **परमात्मनः**-परमात्मा का **तत्त्वं**-स्वरूप है।

सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयमित करके (संकोच करके) कछुऐ की तरह संकुचित प्रवृत्ति बिल्कुल शांति से बैठना। जब तक बाहर में प्रवृत्ति रहती है इन्द्रियों के वश हुआ है वहाँ उसे शांति नहीं है। हमारी कोई भी इन्द्रिय यदि खट-पट मचा रही है हमें परेशान कर रही है तो समझो अभी शांति नहीं है जब शांति हो जायेगी तब शांति से बैठ जायेंगे। व्यक्ति दौड़कर के शांति को प्राप्त करना चाहता है। व्यक्ति दौड़ते-दौड़ते सुई के बारीक छेद में धागा डालना चाहता है। जिस तरह दौड़ते-दौड़ते सुई में धागा डालना कठिन है ऐसे ही संसार में दौड़ते हुये कषायों में प्रवृत्ति रहते हुये हम शांति को प्राप्त करना चाहते हैं। किंतु शांति ऐसे तो मिलेगी नहीं। यहाँ शांति का उपाय बता रहे हैं-सम्पूर्ण इन्द्रियों को उनके विषयों से रोककर के अन्तरात्मा के द्वारा स्थित कर दिया जाता है। कोई भी योगी पुरुष साधु पुरुष चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक अन्तरात्मा होते हैं, चौथे वाले का तो अभी नियंत्रित करने का प्रश्न ही नहीं है उसके अभी संयम ही नहीं है, पाँचवें वाले के पास अुणव्रत हैं, 6वें वाले के पास व्यवहार में संयम है 7वें से लेकर निश्चय में प्रवेश कर रहा है। 8वें में पैर रखा और 11वें में पहुँच गया या 12वें में पहुँच गया। जो 12वें में पहुँच गया है वह स्थिर हो गया वह मोहनीय कर्म के क्षय होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय के क्षय होने से केवलज्ञान को प्राप्त होता है 12वें गुणस्थान में पहले इन्द्रियों को संयमित किया पुनः 'स्तिमित' अर्थात् स्थित हो गया।

जिस क्षण वह इन्द्रियों को रोकता है यह होता है संयम के माध्यम से, महाव्रतों का पालन करना चारित्र कहलाता है। इनके साथ पाँच समिति का पालन करना, तीन गुप्ति का पालन करना संयम कहलाता है। अणुव्रतों का सावधानी पूर्वक पालन करने पर देशसंयमी हो सकते हैं। यदि समितियों का पालन नहीं कर रहे तो अणुव्रत तो है पर देश संयम नहीं है। संयम अर्थात् सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना। अभी पाँच अणुव्रतों का पालन किया अब जो संयम के दो भेद हैं प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम। महाव्रतों के साथ तो प्राणी संयम हो जाता है क्योंकि सर्वप्रथम जीव रक्षा का संकल्प ले लिया। इन्द्रिय संयम पंचेन्द्रियों के दमन से होता है। तब इन्द्रिय संयम के उपरांत योगी

अपनी आत्मा में स्थित हो सकता है यदि स्थित नहीं हो रहा तो षट् आवश्यक पालन करता है, सात विशेष गुण अलग से हैं। इन्द्रिय संयम के साथ आत्मा में स्थिर हो जाता है तो पुनः आगे बढ़ता चला जायेगा छटवाँ-सातवाँ झूला झूलता रहेगा। उसके उपरांत यदि चौथा काल है उत्तम संहनन है तो वह क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके श्रेणी चढ़ना प्रारंभ कर देगा। उपशम श्रेणी यदि चढ़ेगा तो नियम से गिरेगा, फिर वह क्षपक श्रेणी चढ़ेगा तो गिरने का सवाल नहीं क्योंकि वह मोहनीय कर्म की प्रकृति को उपशम में तो दबाकर चलता है क्षपक में नष्ट कर देता है।

जिस आत्मा ने मोह को वीर गति दे दी वह मोह पुनः लौटकर आने वाला नहीं है। इसके साथ-साथ ज्ञानावरण दर्शनावरण व अंतराय कर्म का क्षय कर जिस शांति का अनुभव करता है वह तत्त्व ही परमात्म तत्त्व है। यहाँ यही कह रहे हैं कि सभी इन्द्रियों को नियंत्रित करके अन्तरात्मा के द्वारा स्थिर होकर के जिस क्षण में देखता हुआ (आत्मा से) शोभायमान होता है वह तत्त्व ही परमात्मा है। वह अनुभव किया जाने वाला तत्त्व ही परमात्मा है।

इस श्लोक में आत्मा की प्राप्ति का उपाय बताया है कि हे आत्मार्थियों ! इन इन्द्रियों को उनके अपने विषयों में जाने से रोक और स्थिर चित्त होकर अपने में परम विश्राम कर। इस स्थिति में अधिक समय भी न रह सकेगा तो भी क्षणभर में भी अपने को शुद्ध ज्ञानानंद स्वरूप अनुभव कर लेगा। बस यही अनुभूति स्वरूप, परमात्मा का स्वरूप है।

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥३१॥

अन्वयार्थ-यः-जो **परात्मा**-परमात्मा है **स एव**-वह ही **अहं**-मैं हूँ तथा **यः**-जो स्वानुभवगम्य **अहं**-मैं हूँ **सः**-वही **परमः**-परमात्मा है **ततः**-इसलिए जब कि परमात्मा और आत्मा में अभेद है **अहं एव**-मैं ही **मया**-मेरे द्वारा **उपास्यः**-उपासना किये जाने के योग्य हूँ **कश्चित् अन्यः न**-दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं, **इति स्थितिः**-इस प्रकार की आराध्य-आराधक-भाव की व्यवस्था है।

जो मैं हूँ वह परमात्मा है जो परमात्मा है वह मैं हूँ। पहले परमात्मा भी मुझ जैसा था, आज मैं शक्ति की अपेक्षा अंतरंग से परमात्मा जैसा हूँ। अभी उसका व्यक्तिकरण नहीं हुआ अर्थात् प्रकट रूप नहीं हुआ। भविष्य में मैं परमात्मा जैसा हो जाऊँगा। मैं परमात्मा का भूतकाल हूँ और परमात्मा मेरा भविष्य है। किन्तु वर्तमानकाल में जो परमात्मा है वह वर्तमान मेरा कब आयेगा ? जिस दिन मेरा वर्तमान और परमात्मा का वर्तमान दोनों मिल जायेंगे तब मैं परमात्मा हो जाऊँगा।

यदि परमात्मा का भूत मैं हूँ तो इससे क्या फर्क पड़ता है यदि मेरी भविष्य की पर्याय परमात्म रूप होगी इससे भी क्या फर्क पड़ता है कोई फर्क नहीं पड़ता किन्तु उसकी जो वर्तमान की पर्याय है वह मेरी वर्तमान की पर्याय हो जाये तब मैं परमात्मा हो गया। यहाँ यह कह रहे हैं-जो उत्कृष्ट आत्मा है वह ही मैं हूँ और जो मैं हूँ वह ही परमात्मा है।

इसलिये मैं ही अपने द्वारा उपासना करने के योग्य हूँ अन्य किसी और की इस प्रकार स्थिति नहीं है अर्थात् मैं किसी दूसरे परमात्मा की उपासना कैसे कर सकता हूँ। उपासना से आशय यहाँ पूजार्चना से नहीं है उपासना से आशय यहाँ लीन होने से है। मैं दूसरे की आत्मा में लीन कैसे हो सकता हूँ मेरी आत्मा मेरी आत्मा में लीन हो सकती है। मेरा उपयोग तो दूसरे की ओर जा सकता है व्यवहार में उसकी पूजा भक्ति कर सकता हूँ।

जैसे एक आम का स्वाद दूसरे आम में नहीं पहुँच सकता ऐसे ही यहाँ बता रहे हैं अरे! कदाचित् भी दूसरी आत्मा में मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं पहुँच सकता। मेरी आत्मा किसी दूसरी आत्मा का अनुभव नहीं कर सकती इसलिये मैं ही अपनी आत्मा द्वारा उपास्य हूँ। मुझे ही अपनी आत्मा में लीन होने का प्रयास करना है। जब मैं दूसरे की आत्मा में लीन हो ही नहीं सकता तो ज्ञानी ऐसे विफल प्रयास नहीं करते। ज्ञानी पुरुष वे होते हैं जो सफल प्रयास करते हैं। जिसका फल ही प्राप्त न हो तो ज्ञानी पुरुष कैसे कहलायेंगे। मेरी शांति का अनुभव, मेरी पूज्यता का अनुभव मैं ही कर सकता हूँ दूसरे मेरी पूजा कर रहे हैं तो क्या वास्तव में जो पूजा कर रहे हैं वे सही कर रहे हैं? जरूरी नहीं है। एक अभव्य मिथ्यादृष्टि मुनिराज की पूजा एक भव्य व्यक्ति कर रहा है पूजा करके वह भव्य मोक्ष को भी प्राप्त कर रहा है। सही मायने में देखा जाये तो क्या वे पूज्यता के योग्य हैं, नहीं। क्योंकि वे स्वयं अपने द्वारा ही पूज्य नहीं हैं उनके पास सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र नहीं हैं किन्तु फिर भी पूजा कर रहा है। तो बाह्य व्यक्ति पूजा कर रहा है पूज्य मान रहा है वह नहीं जान सकता है कि पूज्यता है या नहीं ये तो मैं ही जान सकता हूँ कि मैं पूज्यता के योग्य हूँ या नहीं।

तो 'महोपास्यो'-मैं अपने द्वारा ही उपास्य हूँ। जब मैं स्वयं द्वारा उपास्य हो जाऊँगा, मेरे पास रत्नत्रय है, वैराग्य-तप-भक्ति आदि है किन्तु जब मैं अपनी आत्मा में अनुभव करूँगा तब वास्तव में मुझे लगेगा कि मैं परमात्मा बन गया। दूसरों के द्वारा प्रशंसा करने से व्यक्ति भगवान् नहीं बनता है।

कोई तुम्हें बुरा कहता है तो बुरा क्यों मानते हो, यदि तुम बुरे हो तो सही कहता है और यदि तुम बुरे नहीं हो तो उसके बुरे कहने से क्या फर्क पड़ता है। कोई व्यक्ति शुद्ध घी को डालडा कह दे तो क्या वह डालडा हो जायेगा। डालडा को शुद्ध घी कह दें तो क्या वह शुद्ध घी बन जायेगा? जो जैसा है वैसा ही रहेगा। तो यहाँ यही भाव ग्रहण करना है कि जो तुम्हारी उपासना कर रहा है तो क्या तुम पूज्य बन गये? तुम्हारी पूज्यता दूसरों की पूजा से नहीं है तुम्हारी पूज्यता तुम्हारे उन पूज्य गुणों से है। किसी भगवान् की मूर्ति मंदिर में विराजमान है और वहाँ पूजा नहीं हो रही तो क्या वे भगवान् अपूज्य हो गये ? नहीं, और कोई व्यक्ति किसी एक्टर की मूर्ति मंदिर

में विराजमान कर पूजा कर रहा है तो क्या वह पूज्य हो गयी? नहीं। पूज्यता आती है स्वयं के गुणों से। स्वयं की आत्मा में गुण प्रकट हो गये हैं तो पूज्यता आती है अन्यथा नहीं। यही बात यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि मैं स्वयं ही उपासना के योग्य हूँ उपासना से आशय अपने गुणों को प्राप्त करना। जब मैंने अपनी उपासना कर ली तो मैं तो परमात्मा बन ही गया चाहे कोई मेरी पूजा करे या न करे। यदि मैंने अपने गुणों को प्राप्त नहीं किया तो मैं पूज्य नहीं बना चाहे कोई कितनी ही पूजा करता रहे।

महानुभाव ! तात्पर्य यही है कल्याणमय भावना के समय परमार्थतः अपना स्वरूप ही आराधक होता है और अपना स्वरूप ही आराध्य होता है। कारण कि परमात्मा का जो स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है, मेरे द्वारा मैं ही आराध्य हूँ मुझसे भिन्न अन्य आराध्य नहीं है। अपने से भिन्न अन्य स्थान में आराधना करने की दृष्टि होने पर चूंकि उपयोग अपने स्त्रोत को छोड़कर बाह्य की ओर चला है अतः यथार्थ सहजज्ञानस्वरूप का अनुभव नहीं हो पाता। अतः यही निर्णय है कि आत्मस्वरूप की ज्ञानमात्र में आराधना करने पर ही आत्मा की प्राप्ति होती है।

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्द निर्वृतम्॥३२॥

अन्वयार्थ-अहं-मैं **मयि स्थितम्**-अपने ही में स्थित ज्ञान स्वरूप **परमानन्दनिर्वृतम्**-परम आनन्द से परिपूर्ण **मां**-अपनी आत्मा को **विषयेभ्यः**-पंचन्द्रियों के विषयों से **प्रच्याव्य**-छुड़ाकर **मया एव**-अपने ही द्वारा **प्रपन्नोऽस्मि**-आत्मस्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ।

यदि मैं इसमें से एक भी कड़ी को छोड़ दूँ तो परमानंद की प्राप्ति न होगी। यहाँ पहली चीज कही-स्वयं को विषयों से छुड़ाना, दूसरा दिया-स्वयं को स्वयं के द्वारा स्वयं में लीन करना, तीसरी कही-आत्म बोध को प्राप्त करना। विषयों को छुड़ाकर के आत्मज्ञान को प्राप्त किया अथवा आत्मज्ञान को प्राप्त करके विषयों से छूटा पुनः आत्मा को आत्मा में स्थित करना।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी की कहने की पद्धति ये है वे कथन विधिपूर्वक भी करते हैं और निषेध पूर्वक भी करते हैं। निषेध पूर्वक कथन की बात करें तो उन्होंने पहले कहा कि सर्वप्रथम विषयों से स्वयं को छुड़ाओ, पहले जो पर पदार्थों का स्वाद आ रहा है उसे छोड़ो। छोड़े बिना आनंद नहीं आयेगा। जैसे कोई व्यक्ति नीम की गिलोय खा रहा है तो उसे मिश्री का स्वाद कैसे आयेगा ? तो पहले नीम का त्याग करो।

एक बार एक चींटी दूसरी चींटी से बहुत दिनों बाद मिली, उसने कहा-अरे सखी तुम तो बड़ी तंदरुस्त हृष्ट-पुष्ट दिखाई दे रही हो। बोली तुझसे किसने मना किया तू भी ऐसी हो जा, बोली कैसे हो जाऊँ ? मैंने जहाँ जन्म लिया है वहाँ तो नमक ही नमक है नमक खाते-खाते मेरे सब

अंग-उपांग गल गये। वह बोली ठीक है तो मेरे साथ चल जहाँ मैं रहती हूँ वहाँ शक्कर की फैक्ट्री है। वह चींटी अपने नमक के पहाड़ को छोड़कर चल दी और पहुँच गयी शक्कर की फैक्ट्री में। वहाँ पहुँचते ही शक्कर वाली चींटी ने कहा देख यहाँ मिश्री ही मिश्री है अब इसका स्वाद ले नमक वाली चींटी ने मिश्री चखी और कहने लगी तुमने मेरे साथ धोखा किया ? अरे यहाँ भी तो वही नमक है तुम तो कहती थी मिश्री है। वहाँ मिश्री पर रहने वाली चींटी कहने लगी री सखी ! तुझे ऐसा क्यों लग रहा है? मुझे लगता है या तो नमक का स्वाद तुझे संस्कारवशात् आ रहा है, तू नमक खाते-खाते आदी हो गयी है या फिर कुछ गड़बड़ है। क्या गड़बड़ है? पहले तू ये बता तेरे मुँह में कुछ रखा तो नहीं है वह बोली रखा क्या है कुछ भी नहीं है रास्ते के लिये नाश्ते रूप में एक डली नमक की रख लायी थी। वह बोली अच्छा अब एक काम कर उस नमक की डली को बाहर निकाल कर रख दे फिर तू मिश्री का स्वाद दे। वह बोली मैं नहीं रखूँगी। पुनः कहा-मुझ पर विश्वास रख एक बार बाहर निकाल तो सही। उसने बात मान डली मुँह से निकाली और मिश्री का स्वाद लिया। तब जाकर उसने मिश्री के स्वाद को प्राप्त किया।

यह तो एक दृष्टांत है किन्तु संसारी प्राणी भी इन विषय भोगों का स्वाद ले रहा है तो नमक की डली खा रहा है। जब वह धर्म के क्षेत्र में भी आ रहा है तो एक न एक विषय को साथ में ले आता है। तब फिर वह आत्मा की खोज करना चाहता है। आत्मा की खोज करने ए.सी. रूम में बैठने की सोचेगा, इस पत्थर पर कौन बैठे यह तो चुभेगा स्पर्शन इन्द्रिय का विषय लेकर आयेगा, या फिर ठंडी है तो कहेगा हीटर आदि हो तो ठीक रहेगा स्पर्शन इन्द्रिय का विषय लेकर आत्मा की खोज करना चाहता है। पाँचों इन्द्रियों में से किसी एक की या पाँचों की जब तक खट-पट मचती रहेगी तब तक आत्मा में प्रवेश नहीं हो पायेगा। आचार्य महोदय कह रहे हैं पहले उन सबको छोड़ो ये सब तो नमक की डली की तरह से हैं। यह संसारी प्राणी जब तक विषयों की गंधों को नहीं छोड़ता तब तक उसे आत्मा की गंध नहीं आती।

आचार्य महाराज ने कहा 'प्रच्याव्य' विषयों से पहले स्वयं को हटाओ पुनः 'बोधात्मानं' आत्मा का बोध प्राप्त करो क्योंकि बिना हटाये आत्मबोध प्राप्त नहीं होगा। जब आत्मबोध होगा फिर वह आत्मलीन होगा तब स्थिति अर्थात् परमानंद स्थिति की प्राप्ति होती है। यह कथन हुआ निषेधपरक कि पहले छोड़ो। दूसरा कथन कहा विधि परक।

कहा कि तुम तो आत्मा के ज्ञान के संबंध में लग जाओ। जहाँ आत्मा की चर्चा हो रही हो वहाँ जाकर बैठ जाओ। वहाँ जाकर बैठोगे तो घर-गृहस्थी की बातें छूट जायेंगी और संसार के, पंचेन्द्रिय के विषय तुम्हें दिखेंगे ही नहीं छूट जायेंगे। धीमे-धीमे सद्संगति की वे वर्गणायें कार्य करेंगी, वे शब्द कार्य करेंगे उनसे व्यक्ति पर असर पड़ता है।

खुजराहो में बहुत सारे अंग्रेज आते हैं तो वहाँ रिक्शा चलाने वाले व्यक्ति भी 20-25 शब्द अंग्रेजी के सीख ही जाते हैं। जो जिस संगति में रहता है उसे वैसा अक्षर आ ही जाता है।

आचार्य महोदय ने दो प्रकार से बात कहीं या तो तुम आत्मा का अनुभव करने वाले व्यक्तियों की संगति में बैठो। भंवरा यदि पुष्प के ईर्द-गिर्द मंडराता रहेगा तो खुशबू आती रहेगी न बैठे पुष्प पर तो भी कोई बात नहीं इसके विपरीत यदि विष्टागृह में चला जाये तो पुष्पों की गंध कहाँ से आयेगी इसलिये दो उपाय हैं यदि पुष्प पर नहीं जा रहा तो उसके ईर्द-गिर्द ही पहुँच जाये तब भी ठीक है। विषयों को छोड़ दे तब तो ठीक है ही। नहीं तो एक फूल कहीं से लेकर उसही की गंध लेने की चेष्टा कर अर्थात् घर में रहकर भी भरत जी की तरह वैरागी होकर कुछ आत्मा का चिंतन कर। सत्य बात यह है कि ईमानदारी के साथ आँख बंद करके बैठेगा तो तेरी आत्मा स्वयं कहेगी कि तू कहाँ बंधन में पड़ा हुआ है। छोड़ ये द्वन्दफन्द और आगे बढ़ जा। आज ही बंधन तोड़ देगा तो आज से ही रास्ता प्रारंभ हो जायेगा।

आचार्य महाराज ने कहा-व्यक्ति को इतना साहस तो करना पड़ेगा कि चींटी की तरह रास्ते का तोसा नमक तो छोड़ना पड़ेगा। आचार्यवर कई बार गृहस्थों से कहते हैं यदि तुम्हें विश्वास नहीं है तो एक बार यहाँ आकर पूजा-पाठ करके देख तो सही, जब तुझे आनंद आ जाये तब त्याग कर देना।

महानुभाव ! विषयों का त्याग कर मैं आत्मा के बोध को प्राप्त होकर के फिर आत्मा की स्थिति करता हूँ तब मैं परम आनंद का रसास्वादन करने वाला होऊँगा। विषयों को छोड़े बिना कभी आनंद नहीं आता जो आनंद जिस स्थिति में आ सकता है उसी में आयेगा अन्य में नहीं। कुंवारी कन्या कितने ही गीत गाये राग के, उससे विषय सेवन का आनंद नहीं आ पायेगा। भक्ति किये बिना मात्र देखने से भोजन का आनंद नहीं आ सकता ऐसे ही आत्मा का आनंद मात्र चर्चा सुनने से या जिसमें चर्चा लिखी है ऐसी पुस्तक को काँख में दबाने से नहीं आता। उसके लिये वही स्थिति बनानी पड़ती है जिस स्थिति में वह आनंद अंदर से उत्पन्न होता है।

महानुभाव ! तात्पर्य यही है आत्मस्वरूप की उपलब्धि से उत्पन्न सहज परम आनंद से तृप्त होकर ज्ञानी संकल्प कर रहा है कि मैं तो अब अपने को विषय-विष से हटाकर अपने ही द्वारा अपने ही स्वरूप में स्थित परम आनंद से रचे गये ज्ञानात्मक इस एक मात्र परमशरणभूत ऐसे ही आत्मा को प्राप्त होता हूँ, जैसा कि अभी प्राप्त हुआ हूँ।

२२. ज्ञानी काटे कर्म को

यो न वेत्ति परं देहा देवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः॥३३॥

अन्वयार्थ-एवं-उक्त प्रकार से **यः**-जो **अव्ययं**-अविनाशी **आत्मानं**-आत्मा को **देहात्**-शरीर से **परं न वेत्ति**-भिन्न नहीं जानता है **सः**-वह **परमं तपः तप्त्वापि**-घोर तपश्चरण करके भी **निर्वाणं**-मोक्ष को **न लभते**-प्राप्त नहीं करता है।

जो शरीर से भिन्न अपनी आत्मा को नहीं जानता है, मिथ्यात्व की दशा में कितना भी तप कर ले उस तप के माध्यम से निर्वाण पद की प्राप्ति नहीं होती। जो जानता है उसे मान सकता है, जो जानता ही नहीं, उसे क्या कहोगे। जिसकी जितनी बुद्धि होती है वह उतना ही जानता है-रहीमदास जी ने ठीक कहा-

जैसी जाकी बुद्धि है, तैसी कहै बनाय।
ताको बुरो न मानियो लेन कहाँ सूँ जाय॥

यहाँ पर भी आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी कह रहे हैं-जो इस आत्मा को देह से भिन्न रूप नहीं जानता है, उसे कुछ बताने से क्या लाभ ? भैंस के आगे बीन बजाते रहो, वह जानती नहीं संगीत बज रहा है या क्या ? बीन की ध्वनि तो भुजंग को रुचिकर लगती है, वही नाचता है भैंस नहीं नाचती। कोई व्यक्ति कन्नड़ भाषी के सामने बंगोली भाषा में उपदेश दे तो उसे कुछ समझ नहीं आयेगा। उपदेश के बाद व्यक्ति कहे आपको हमारी बात मान लेनी चाहिये, तो सामने वाला यही कहेगा कि पहले समझ तो आये कि क्या कहा तभी तो हम मानेंगे। ऐसे ही जो आत्मा के बारे में जानता ही नहीं तो उसे कितनी भी बात समझाओ वह बेकार है।

एक दुकान पर एक ग्राहक गया उस दुकान पर वह वस्तु है ही नहीं, बाकी सब वस्तु उसने खरीद ली जो चाहता था वह नहीं मिली। एक दूसरा व्यक्ति सीधा उसी दुकान पर गया जहाँ वह वस्तु उसे मिल जायेगी। क्योंकि सब्जीमण्डी में हीरा रत्न नहीं मिल सकता, बात ये है जो व्यक्ति जानता ही नहीं कि कौन सी चीज कहाँ है उस व्यक्ति के बारे में क्या कहें ''लभते स न निर्वाणं'' वह निर्वाण को प्राप्त नहीं करता है। कैसे प्राप्त करेगा ? क्योंकि निर्वाण प्राप्त करने का जो कारण है वह नियामक कारण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों के रहते हुये जो सम्यक् तप और ध्यान है इससे ही कर्मों का क्षय होता है, इसके बिना नहीं होता।

इन तीनों के न रहते हुये चाहे कोई कितना ही ध्यान करे वह धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान नहीं बन सकता वह तो आर्त्त-रौद्र ध्यान हो जायेगा। कितना ही तप करे वह सम्यक्तप नहीं कुतप हो

जायेगा। वह आत्मा के स्वभाव से ही वैरागी हो गया जब रत्नत्रय है ही नहीं, देहादि को पर जानता ही नहीं तो जिससे वैरागी नहीं होना चाहिये वहाँ वैरागी हो गया। उल्टा हो गया जहाँ विरक्ति होनी चाहिये वहाँ अनुरक्ति है, जिसमें अनुरक्ति चाहिये वहाँ विरक्ति हो गयी।

संसारी प्राणी अनादिकाल से पुरुषार्थ करता है। योगत्रय का पुरुषार्थ अहर्निश चल रहा है सुख को प्राप्त करने के लिये। किन्तु जब आत्मा के हित को ही नहीं जानता जो आत्मा को ही नहीं जानता तो उस आत्मा का भला कैसे करेगा। जैसे एक व्यक्ति को इतना पता है कि एक राजा पुरस्कार देता है या किमिच्छिक दान देता है पर उसे ये ही नहीं मालूम वो राजा किस देश में रहता है नाम क्या है, मजे की बात तो ये है कि उसे क्या चीज चाहिये वह उस वस्तु को भी नहीं जानता तो किमिच्छिक पुरस्कार कैसे प्राप्त कर पायेगा। ऐसे ही हम संसारी प्राणी हैं हम इच्छानुसार चाहते हैं मोक्ष मिल जाये किन्तु मजे की बात तो ये है कि जो मोक्ष बिना इच्छा के मिलता है उसे हमने अनादिकाल से इच्छा के द्वारा प्राप्त करना चाहा है। इच्छा करने से तो उसकी दूरी बढ़ जाती है। जब भी मिलता है बिना इच्छा के मिलता है। व्यक्ति कहता है हमें चाहिये, भईया क्या चाहिये, जो चाहिये वह तो तुम्हें बिना मांगे मिलेगा। मुझे वो ही चाहिये जिसका स्वरूप ही नहीं मालूम। जिसे स्वरूप मालूम है जो जानते हैं, समझते हैं उन्हें भी वो वस्तु माँगने से नहीं मिलती फिर जिन्हें स्वरूप नहीं मालूम वे उस वस्तु का नाम लेकर अन्य वस्तु माँग रहे हैं तो वह वस्तु कैसे मिलेगी। उसकी तो शर्त ही ये है कि बिना माँगे मिलेगी।

यहाँ यही बात कह रहे हैं जो नहीं जानता किसे ? इस अव्यय स्वरूप आत्मा को नहीं जानता वह शरीर को जानता है। अनादिकाल से व्यय धर्मा शरीर से परिचय है। परिचय भी क्या है? क्षण भर के लिये परिचय किया फिर नष्ट हो गया, अनंत शरीरों को प्राप्त किया। जो क्षण धर्मा है, क्षयशीला है उससे क्या परिचय प्राप्त करना, वह तो नष्ट होने वाला है और हर क्षण नष्ट हो रहा है। आकाश के बादल की तरह स्थायी नहीं है हवा के साथ बादल के रूप भी बदलते जा रहे हैं। ऐसे ही शरीरादि भी क्षण-क्षण बदल रहा है। एक पर्याय जितने समय के लिये प्राप्त की पल्यपर्यंत, सागर पर्यंत या कोटिपूर्व पर्यंत वह तो नष्ट हो जायेगी, अब तुमने जाना किसे ? जो आत्मा अनादिकाल से तुम हो उसे तुमने माना नहीं, जब तुमने उसे जाना ही नहीं तो जो आत्मा का स्वभाव, गुण धर्म-लक्षण है उसे कैसे प्राप्त करोगे?

जब तुमने ये ही नहीं जाना कि मनुष्य क्या है तब तुम किसी विद्वान् को कैसे जानोगे। आत्मा की शुद्ध दशा का नाम है ''निर्वाण'' जब तुमने आत्मा को ही नहीं जाना तो उसकी शुद्ध दशा तक कैसे पहुँच पाओगे। यहाँ यही कह रहे हैं जो अव्यय रूप इस आत्मा को नहीं जानता वह अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं करता।

यहाँ तक कि वह तप भी करता रहे, अनंतभव तक तप करता रहे तब भी प्राप्त नहीं कर सकता। यदि कदाचित् दिगम्बर मुनि बनकरके (अभव्यजीव) तप भी करता रहे तब भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। उसी रास्ते से करोड़ों बार निकल गये किंतु उस वस्तु को ही नहीं जानते। जैसे चावल में कुछ हीरे के दाने पड़े थे, हम चावल बीनते चले जा रहे हैं हम जानते ही नहीं हीरा है क्या, उसे उठाकर के हाथ से फेंकते चले जा रहे हैं,जब जानते ही नहीं हीरे को तो चावलों को हजारों बार शोधने से भी क्या प्रयोजन, हम उसे ग्रहण कैसे कर पायेंगे। फिर जैसे लवण समुद्र में एक बिन्दु क्षीरसागर की गिर गयी, उस क्षीर सागर की एक बिन्दु को कैसे ग्रहण करोगे ऐसे ही आत्मा इस लवण समुद्र रूपी शरीर में क्षीर सागर के बिन्दु की तरह मिल गयी है उस आत्मा का स्वभाव उस क्षीर सागर की बिंदु की तरह से है ऐसा सूक्ष्म है। वह बिन्दु फिर भी पौद्गलिक है इन्द्रिय से ग्राह्य है किन्तु आत्मा तो अतीन्द्रिय है, उसे कैसे ग्रहण करोगे ? जब उसे जानोगे ही नहीं। और तुम तो अनादि से लवण समुद्र का ही आनंद ले रहे हो, जैसे उस बिन्दु के सुख को प्राप्त नहीं किया जा सकता ऐसे ही बिना जाने उस आत्मा के शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण॥२३८॥ प्र. सा.

अज्ञानी व्यक्ति करोड़ों, सहस्त्रों भवों तक तप करने से जो कर्म क्षय नहीं कर पाता है ज्ञानी पुरुष उतने कर्म का क्षय चित्त का एक बार निरोध करने से उच्छ्वास मात्र में कर लेता है।

कोटि जन्म तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिन मांहि त्रयगुप्तितें सहज टरें ते॥

करोड़ों जन्म तपस्या करने से जो कर्म निर्जीण होते हैं वे ज्ञानी के क्षण भर में झर जाते हैं। तो जो आत्मा ऐसे अभेदानुभवपद्धति से जिसमें कि सहज आनंद झरता है, देह से भिन्न अविनाशी सहज अनन्तज्ञानादि चतुष्टयमय अपने आत्मा को नहीं जानता है वह घोर तपश्चरण का श्रम करके भी अनंतज्ञानादि चतुष्टय सम्पन्न पूर्ण विकासमय निर्वाण को नहीं प्राप्त होता है।

शंका 'त्रिगुप्ति' से क्या आशय है?

ऐसे मुनिमहाराज जो सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की एकता से सहित हैं। वे मुनिराज जिन्हें मात्र आत्मा का ज्ञान नहीं क्योंकि ज्ञान अकेला होता ही नहीं। आत्मा का ज्ञान तो सम्यग्दर्शन व चारित्र के साथ ही होता है। तो ऐसे ज्ञानी मुनिमहाराज। यहाँ त्रयगुप्ति मुनि नहीं कहा मात्र त्रय गुप्ति कह दिया। 'त्रयगुप्ति' शब्द विद्वान् के नहीं होता, पण्डित के नहीं होता।

'त्रिगुप्ति' शब्द को विद्वान् लोग बुद्धिपूर्वक भूल जाते हैं उसकी व्याख्या नहीं कर पाते वे कहते हैं-देखो ! क्या लिखा है ''ज्ञानी के छिन मांहि'' हम तो क्षण मात्र में अपने पापों का क्षय

कर लेंगे और तुम लोग कुछ नहीं जानते बैठे रह जाओगे, सड़ते रहोगे संसार में। तुम कितने ही व्रत-उपवास करते रहो कुछ नहीं कर पाओगे। हम तो ज्ञानी पुरुष हैं हमें पूरा समयसार याद है। भईया ! हम कहते हैं ऐसे करोड़ों समयसार ग्रंथ भी कंठस्थ कर लो तब भी, बिना आत्मा को जाने कल्याण होने वाला नहीं है। आत्मा जानने में आता है आत्म ज्ञान से, उसे पुद्गल ज्ञान से नहीं जाना जा सकता। करोड़ों कैमरों के माध्यम से एक्स-रे मशीन का काम नहीं हो सकता, करोड़ो एक्स-रे मशीन से कैमरे का काम नहीं होता, दोनों के विषय अलग-अलग हैं।

ऐसे ही यहाँ 'ज्ञानी' शब्द जो कह रहे हैं वो मुनि महाराज के लिये कह रहे हैं वहाँ उन्होंने मुनि शब्द न लेकर के, ऐसा भी नहीं सामान्य मुनि की बात कर रहे हों ज्ञानी शब्द से हम कह रहे हैं निश्चय ज्ञानी, जो व्यवहार की भूमिका से ऊपर पहुँच गया है छटवें गुणस्थान वाले की नहीं श्रेणी चढ़ने वाले की बात है। जो उच्छ्वास मात्र में केवली हो सकते हैं उसकी बात कर रहे हैं। इसलिये शब्द दे दिया त्रिगुप्ति निश्चय-व्यवहार दोनों लगा लेना चाहिये, वह समर्थ हैं अन्तर्मुहूर्त में सभी कर्मों को क्षय करने में। कुछ व्यक्ति गलती कर जाते हैं वे त्रिगुप्ति शब्द को भूल जाते हैं, कैसे ? बुद्धिपूर्वक भूल जाते हैं। एक भूल होती है अबुद्धि पूर्वक, हो सकती है सबसे हो सकती है, एक होती है बुद्धिपूर्वक जानकर हमें पढ़ना ही नहीं है, उसे सुनना ही नहीं है और 'ज्ञानी के छिन मांहि' शब्द पर जोर देकर दुनिया को पागल बना रहे हैं। अज्ञानियों से पूछो-पढ़-पढ़ कर क्या ज्ञानी बन जायेंगे। नीतिकार तो कहते हैं। पढ़-पढ़कर तो मूर्ख पैदा होते हैं। उन्होंने लिखा है-

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
सुचिंतितं चौषध मातुराणां, न नाममात्रेण करोत्य रोगम्॥४२॥ सुभा. रत्ना.

मात्र शास्त्रों को पढ़ने से तो मूर्ख पैदा होते हैं किन्तु जो क्रियावान है वही विद्वान् है। औषधि मात्र का अच्छी तरह से चिंतन करने से उन औषधियों का नाम लेने भर से क्या रोगी रोग मुक्त होता है। डॉ. आदि भी मात्र औषधि की जानकारी से निरोगी हो जाते हैं क्या? नहीं जब तक उनका सेवन नहीं करेंगे तब तक रोग मुक्त न होंगे। आचार्य महाराज यही कह रहे हैं-जानना अर्थात् आत्मज्ञान उस पर विश्वास करो।

२३. खेल पुद्गल का

आत्मदेहान्तरज्ञान जनिताह्लाद निर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते॥३४॥

अन्वयार्थ-आत्मदेहान्तरज्ञान जनिताह्लादनिर्वृतः-आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द से जो आनन्दित है वह **तपसा**-तप के द्वारा-द्वादश प्रकार के तप द्वारा उदय में लाये हुए **घोरं दुष्कृतं**-भयानक दुष्कर्मों के फल को **भुञ्जानः अपि**-भोगता हुआ भी **न खिद्यते**-खेद को प्राप्त नहीं होता है।

आत्मा व शरीर के भेद विज्ञान से उत्पन्न ज्ञान कि आत्मा एक चैतन्य द्रव्य है, देह पुद्गल द्रव्य है। पर मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा देह को ही आत्मा मानकर बैठ जाता है वह आत्मा को जानता ही नहीं इसलिये वह मिथ्यादृष्टि जीव शरीरादि परपदार्थों को अपना मानता हुआ उसके ह्रास व वृद्धि से अपना ह्रास और वृद्धि मानता है इसलिये वह पुद्गल के फल को प्राप्त करता है। वह आत्मा के स्वभाव गुण लक्षण आदि को नहीं जानता है। चेतना में अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य इत्यादि जो गुण हैं उन्हें वह जानता ही नहीं, तो मांग कैसे सकता है।

जैसे जो व्यक्ति नहीं जानता है कि गन्ने में मीठा रस होता है तो उसे कैसे प्राप्त कर पायेगा वह तो मिर्ची खाने वाला है, मिर्ची खाकर मिठास ढूंढता है। जो व्यक्ति जानता ही नहीं कि दीपक के जलने से प्रकाश होता है, वह तो अंधकार में ही बैठा रहेगा। जो व्यक्ति जानता ही नहीं कि अमुक औषधि लेने से रोग ठीक हो जाता है, वह रोग मानता ही नहीं तो वह औषधि का सेवन क्यों करेगा? जो व्यक्ति जानता ही नहीं कि प्रभु भक्ति करने से पापों का नाश होता है वह प्रभु भक्ति क्यों करेगा? जो व्यक्ति जानता ही नहीं कि ये रास्ता कहाँ जाता है, जो लक्ष्य तक जाने का रास्ता ही नहीं जानता वह कैसे क्या कर पायेगा, ऐसे ही जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि आत्मा क्या है ? आत्मा शब्द मात्र सुना है तो वह किसी भी चीज में आत्मा मान लेता है। मानना उसका अंतरंग आत्मा से होता है और जानना शब्दों में होता है।

शब्दों में जानना सार्थक नहीं होता जब तक उसे आत्मा से मान नहीं लो, कार्यकारी वही होता है आत्मा से जिसे मान रहे हो, शब्दों में भले ही वो पढ़ ले कि आत्मा है, वह ज्ञान-दर्शन स्वभावी है, दूसरों को सुना दे, कई पुस्तकें भी लिख दे, उपदेश भी दे किन्तु वह मानता नहीं है कि आत्मा नाम की कोई चीज भी है। वह शरीर को आत्मा मान बैठा है उसही की वृद्धि ह्रास को आत्मा का वृद्धि ह्रास मान बैठा है और शरीर के ही पोषण करने में संलग्न रहता है। शरीर बस पुष्ट होता जाये वह कभी नष्ट न हो तो ऐसा व्यक्ति उसी तरह से है जो मकान को स्वयं का देह मानकर बैठ गया है। मकान का श्रृंगार कर रहा है किन्तु स्वयं भूखा बैठा है, ऐसे ही जो व्यक्ति शरीर को

आत्मा मानकर बैठ गया है वह यथार्थ रूप में आत्मा को नहीं जान पाता है, उसके लिये कह रहे हैं कि ऐसा व्यक्ति आत्मा के सुख को प्राप्त नहीं करता, आत्मा में विद्यमान अनंत ज्ञान को वह नहीं भोग सकता, प्राप्त नहीं कर पाता। आत्मा में अनंतदर्शन है उस अनंतदर्शन को प्राप्त नहीं कर पाता, आत्मा में अनंत शक्ति है उस अनंत शक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता।

किन्तु दूसरी ओर जो अन्तरात्मा है जिसने आत्मा-अनात्मा में अंतर डाल दिया है। अपनी आत्मा के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं वे सब अनात्मा हैं, चाहे वे दूसरे की आत्मा हो या पुद्गल आदि द्रव्य हों। ये सब आत्मा से पृथक हैं-''पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनसे न्यारी है जीव चाल'' ये कभी आत्मा के स्वरूप हो नहीं सकते। ये बाह्य दिखाई देने वाला इन्द्रिय ज्ञान से गोचर होने वाला पुद्गल, पुद्गल है वह कभी आत्मारूप नहीं हो सकता और आत्मा कभी पुद्गल रूप नहीं हो सकता। इनमें रंजायमान होना मिथ्यादृष्टि का ही कार्य हो सकता है अन्तरात्मा तो कहता है-

ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनसे नाहीं हमारो मेल।

ये पुद्गल के खेल हैं चाहे पुद्गल बढ़ रहा है या घट रहा है इनसे हमारी आत्मा का कोई मेल नहीं है। अंतर्ज्ञानी वह भेद विज्ञानी बहिरात्मा की दशा को छोड़कर के उस भेद को जानकर के उस भेद ज्ञान से उत्पन्न हुआ जो परम सुख है जो परम आह्लाद है, उससे भरा हुआ व्यक्ति घोर तपस्या करते हुये भी, उपसर्ग आदि आने पर भी खेद को प्राप्त नहीं होता।

जब मुनि महाराज तपस्या में संलग्न हैं उस समय कोई उपसर्ग भी आ जाये चाहे उपसर्ग पार्श्वनाथ स्वामी पर आया हो या महावीर स्वामी पर या अन्य गुरुदत्त आदि, अभिनंदनादि मुनियों पर, गजकुमार, सुकौशल, सुकुमाल, पाँचों पाण्डव आदि-आदि मुनियों पर उपसर्ग आते हुये भी वे मुनि उस समय खेद को प्राप्त नहीं हुये। वे उपसर्ग को छोड़कर भागे नहीं क्योंकि वे जान रहे थे कि इस उपसर्ग से शरीर ही नष्ट होता है आत्मा नष्ट नहीं होती और ये उपसर्ग मेरे कर्म के उदय से आया है उपसर्ग के माध्यम से वह कर्म निर्जीण हो जायेगा मैं उस कर्म के कर्ज से मुक्त हो जाऊँगा।

महानुभाव ! अथवा यूँ कहें कि एक कर्जदार था वह कर्ज चुकाना चाहता था पर उसका मालिक कहता था कि बाद में ले लेंगे। एक दिन कर्जदार के पास वह मालिक पहुँचा और कहने लगा आज तू मुझे एक लाख रु. के बदले में 1000 रु. दे दे मैं तेरा पूरा रुपया माँफ कर दूँगा क्योंकि आज मैं बहुत मुसीबत में फंस गया। उसने कहा ठीक है और उसने 1000 रु. देकर के लिखवा लिया कि मेरा कर्ज मुक्त हो गया। तो जैसी खुशी उस व्यक्ति को होती है, 1000 रु. देने से 1 लाख का कर्ज माफ हो गया ऐसे ही योगी की जब तपस्या करते हुये निर्जरा हो रही है,

अविपाक निर्जरा होती है, उदीरणा होती है समय के पहले कर्मों को लाया कुछ को भोगा, कुछ को नहीं भोगा उनको नष्ट कर दिया तो योगी भी उसी प्रकार के आनंद को प्राप्त होते हैं।

अथवा एक व्यक्ति जिसके पास मिट्टी थी, मुल्तानी मिट्टी को गधों पर लादकर लाता और बाजार में जाकर बेच देता था। संयोग की बात उस व्यक्ति को एक दिन खदान में मुल्तानी मिट्टी के साथ सोना मिल गया वह जानता था कि ये सोना है, एक दूसरा कुम्हार जो स्वर्ण के बारे में नहीं जानता था उसे वहीं छोड़ आया, मुल्तानी मिट्टी भर कर ले आया। लेकिन जो जानता था ये सोना है मुल्तानी मिट्टी नहीं है, उसने गधों की पीठ पर सारा सोना भर लिया, तो ये बतायें उस कुम्हार को उस खदान में मुल्तानी मिट्टी छोड़ने का दु:ख होगा क्या? नहीं होगा क्योंकि उसने मिट्टी छोड़कर स्वर्ण प्राप्त किया है ऐसे ही योगी उन कर्मों के नष्ट होने पर उपसर्ग आदि आने पर खेद को प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि उन्हें देह और आत्मा के भेद विज्ञान से, अन्तर्ज्ञान से जो सुख है उस सुख के आगे उस कर्म का फल तो कुछ भी नहीं है, और वे समता भाव धारण करते हैं। यहाँ आचार्य महोदय ने लिखा है-

आत्म देह के अन्तर्ज्ञान से उत्पन्न आत्मा के आनंद से जो भरा है ऐसा योगी घोर तपस्या कर रहा है, ग्रीष्मकाल में पहाड़ की चोटी पर चढ़कर, शीतकाल में नदी के किनारे, वर्षाकाल में वृक्षमूल कर रहा है वह नाना प्रकार से शरीर को कष्ट दे रहा है। वह कष्ट क्यों दे रहा है? क्योंकि जितना शरीर को कष्ट देगा, शरीर को जो कष्ट मिल रहा है कर्म के उदय से, वे कर्म निर्जीण होते चले जायेंगे और मैं नया कर्म बाँधूंगा नहीं, पुराना कर्म जब काय क्लेश करूँगा तो खिरेगा ही खिरेगा। पुराना कर्ज निपट जायेगा, नया कर्ज वह ले नहीं रहा, इससे वह कर्म से मुक्त हो जायेगा। कर्ज से मुक्त अर्थात् कर्मों से मुक्त अर्थात् सिद्ध बनने की प्रक्रिया।

आगे कह रहे हैं-'तपसा दुष्कृतं घोरं' वह घोर तपस्या करते हुये भी, उनके फल को भोगता हुआ भी खंड को प्राप्त नहीं होता। पहले के व्यक्ति जीवन में भले ही एक बार शिखर जी की यात्रा करते, चाहे यात्रा 10 घंटे में हो या 12 घंटे में कितना ही समय लग जाये पर पूरे आनंद के साथ यात्रा करते, किन्तु अब सुविधा चाहता है, सीधे गाड़ी में पहुँच जायें, हर टोंक पर भी उतरना न पड़े बैठे-बैठे दर्शन हो जायें, अब तो मंदिर भी ऐसे बनाने की योजना चल रही है कि व्यक्ति रोड़ से ही खड़े-खड़े भगवान् के दर्शन कर ले, गाड़ी से उतरना ही न पड़े। सामर्थ्य तो है किन्तु चाहता नहीं। क्षेत्रों पर ए.सी. कमरा चाहता है, यहाँ यह नहीं है वहाँ वह नहीं है निंदा व वहाँ की कमियाँ निकालने लगता है, भईया ! ऐसा करने से पाप का बंध होगा पुण्य का नहीं।

किन्तु जब आनंद के साथ पहाड़ चढ़ता चला जाता है भगवान् की जयकार लगाता जा रहा है तब उसे न पत्थर चुभने का कष्ट हो रहा है, न धूप का कष्ट हो रहा है, न भूख प्यास की वेदना

हो रही, बस भगवान् की भक्ति में आनंद आ रहा है। इस प्रकार सोचते हुये असीम पुण्य लाभ को प्राप्त करता है। तो योगी खेद को प्राप्त क्यों करे ? खेद को प्राप्त तो वह करे जब उसकी आत्मा की हानि हो रही हो किन्तु उसे तो उस कष्ट को भोगते हुये आनंद आ रहा है। जैसे वह देश की आजादी में भाग लेने वाला सैनिक शत्रु पक्ष द्वारा पकड़े जाने पर, उसके द्वारा पीड़ित किये जाने पर भी चाहे कितने ही कोड़े बरसाये जायें वह एक ही बात कहता है स्वतंत्रता मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है। इंकलाव जिंदाबाद का नारा लगाता रहता है। चाहे कुछ भी हो जाये हम तुम्हारी हुकूमत स्वीकार नहीं करेंगे मैं स्वतंत्रता लेकर ही रहूँगा। वह सैनिक कोड़े सहन करता है तो देश की आजादी के लिये और जब आत्मा अपनी आजादी के लिये, स्वतंत्र होने के लिये कर्मों के कोड़े सहन करती है तो उस योगी को और तेज आता है, कहता है मैं पराधीन हो गया था तभी तो कर्मों के कोड़े सहन कर रहा हूँ मैं स्वाधीन होकर रहूँगा, इन कर्मों को चूर-चूर करके रहूँगा तो अंदर से और शक्ति जाग्रत होती है। फिर वे कोड़े मारने वाले कर्म भी नतमस्तक हो जाते हैं और यही आत्मा सिद्धात्मा बन जाता है।

महानुभाव ! आत्मा और देह में दृढ़तम भेद विज्ञान होने के प्रताप से देहादिक समस्त पदार्थों का विकल्प छूटकर एक ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा में उपयोग स्थिर होता है, इससे जो उत्कृष्ट आनंद उत्पन्न होता है उसके प्रसाद से तपश्चरण में झड़ने के लिये पूर्वबद्ध दुष्कृत संक्रान्त व उदीरित होकर बहुत से और जल्दी उपभोग में आ जाते हैं, उन्हें भोगता हुआ रंच मात्र भी खंड को प्राप्त नहीं होता है, बल्कि आनंद रस में तृप्त रहता है।

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः॥३५॥

अन्वयार्थ-यन्मनोजलम्-जिसका मन रूपी जल **राग-द्वेषादिकल्लोलैः**-राग-द्वेष-काम क्रोध-मान-माया-लोभादि तरंगों से **अलोलं**-चंचल नहीं होता **सः**-वही पुरुष **आत्मनः तत्त्वम्**-आत्मा के यथार्थ स्वरूप को **पश्यति**-देखता है-अनुभव करता है **तत्-तत्त्वम्**-उस आत्मतत्त्व को **इतरो जन**-दूसरा राग-द्वेषादि कल्लोलों से आकुलितचित्त मनुष्य **न पश्यति**-नहीं देख सकता है।

यहाँ बता रहे हैं-राग और द्वेष। राग क्या है ? राग एक ऐसी मजबूत रस्सी है जिससे मन को बांधा जाता है और राग के बंधन में बंधा हुआ मन वह आत्मा का हित करने में कदापि समर्थ नहीं होता, वह आत्म हित नहीं कर सकता और यह रस्सी ऐसी है ज्यों-ज्यों राग की रस्सी पर राग के जल का सिंचन होता है त्यों-त्यों रस्सी कसती चली जाती है जब बंधन कसेंगे तो बंधे व्यक्ति को कष्ट और ज्यादा होगा। जिससे जितना ज्यादा राग करेगा उसके बंधन में उतना ही कसता चला जायेगा। ये राग संसार के बंधन का मुख्य कारण है और द्वेष, द्वेष तो उसकी परछाई है। परछाई नष्ट हो जाती है कई बार, किन्तु वह आदमी नष्ट नहीं होता। ऐसा कैसे हो गया?

ऐसा ऐसे हो गया कि जब अंधकार होता है तो परछाई नष्ट हो जाती है, वह व्यक्ति या वस्तु नष्ट नहीं होती किन्तु जब व्यक्ति या वस्तु नष्ट हो गयी तो परछाई तो अपने आप चली जायेगी। द्वेष तो पहले चला जाता है किन्तु राग तो 10वें गुणस्थान के अंत में जाता है। सूक्ष्म लोभ 10वें गुणस्थान के अंत में जाता है, वह भी दब जाता है 11वें गुणस्थान में जाने वाला दबाता है किन्तु 12वें वाला उसे नष्ट करके जाता है, तो राग ज्यादा खतरनाक है। इसलिये राग को आग की उपमा दी। कौन सा राग ? पंचेन्द्रिय विषयों का राग।

''यह राग आग दहे सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निजपद बेइये॥
कहाँ रच्यो पर-पद में न तेरो पद यहै क्यों दुख सहै।
अब 'दौल' होउ सुखी स्वपद रचि, दाव मत चूको यहै॥

दौलत राम जी कह रहे हैं-दाव मत चूको, यह राग की आग जला रही है, विषयों के प्रति, इन्द्रियभोगों के प्रति, कषायों के प्रति तुम्हारा राग है, यह राग ही तुम्हें जलाने वाला है। आत्मा को दहकाने वाला है, इसके रहते आत्मा सुख शांति को प्राप्त नहीं कर सकता। जो विराग से सहित हैं वे ही सुख शांति को प्राप्त करने में समर्थ हैं। विरागी व्यक्ति ही कर्मों के बंधन को तोड़ने में समर्थ होता है रागी नहीं।

आचार्य भगवन् कुन्द-कुन्द स्वामी जी ने लिखा है-

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग-संपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्जह॥१५०॥ स. सा.

रागी जीव कर्मों को बांधता चला जाता है, विरागी जीव कर्मों से मुक्त हो जाता है, इसलिये हे भव्य जीव! अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हो तो राग मत करो। कर्म में कर्मों के फलों में राग मत करो। विरक्त होकर आत्मा का ध्यान करो। विरक्त हुआ आत्मा वीतराग दशा को प्राप्त हो जायेगा, उसका राग बीत जायेगा। राग को बार-बार देखने से, राग से राग करने से राग पुष्ट होता चला जाता है, और राग से विरक्त होने पर राग क्षीण होता चला जाता है। राग कमजोर पड़ जाता है, राग की रस्सियाँ अपने आप टूट जाती हैं सड़ जाती हैं, गल जाती हैं, राग जल जाता है, वीतराग दशा की प्राप्ति हो जाती है और जब राग जाता है तो द्वेष तो परछाई की तरह से है, जब राग का बिम्ब ही नहीं होगा तो द्वेष का प्रतिबिम्ब कहाँ से आयेगा। द्वेष धूल की तरह है झटकारने से साफ हो जाती है किन्तु जिस कपड़े पर चिकनाई लग गयी है उसे कितना ही झटकारते रहो वह जाती नहीं उस चिकनाई में तो द्वेष की धूल और जल्दी पकड़ जाती है।

महानुभाव ! यहाँ कह रहे हैं राग और द्वेष के द्वारा जिसका मन चंचल नहीं है। राग द्वेष की हवा से मन रूपी जल में तरंगे उठने लगती हैं। मन में भरा हुआ विचार रूपी जल राग-द्वेष से ऊपर

नीचे होता रहता है किन्तु जिसने इन तरंगों को अचल कर दिया है अर्थात् उसने अपने विचारों को स्थिर कर दिया, आत्मा को आत्मा में लीन कर दिया। कैसे ? उस जल को जमा दिया, अब चाहे कितनी ही हवा चलती रहे तरंगे उठेंगी क्या? नहीं। तो जिसने आत्मा को आत्मा में जमा दिया उसका मन स्थिर हो गया, वह देखता हुआ भी देख नहीं रहा, सुनता हुआ भी सुन नहीं रहा, बोलता हुआ भी बोल नहीं रहा, जैसा आचार्य महाराज ने इष्टोपदेश में कहा-

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति॥४१॥

आत्म स्वरूप में स्थिर रहने वाला योगी, बोलते हुये भी नहीं बोलता है, चलते हुये भी नहीं चलता है और देखते हुये भी मानो वह नहीं देखता है।

महानुभाव ! ऐसा वह मन रूपी जल आत्मा का दिग्दर्शन कराने में समर्थ होता है। वह मन रूपी जल दर्पण की तरह से उस आत्मा का दर्शन कराने वाला होता है। मन भी आत्मा में लीन करने में निमित्त है।

मा मुज्झह मा रज्जह, मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइचित्तं, विचित्त झाणप्पसिद्धीए॥४८॥ बृ. द्र. सं.

मोह मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो, आत्मा को आत्मा में थिर करो। अथवा

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं॥५६॥ बृ. द्र. सं.

कोई चेष्टा मत करो, कुछ सोचो मत, बोलो मत तीनों योग जब स्थिर हो जाते हैं तब परम योग की प्राप्ति होती है। यहाँ भी कह रहे हैं-राग द्वेषादि की लहरों द्वारा जिसका मन चंचल नहीं हो रहा है, मन अचल, लीन, स्थिर हो गया है और मन की एकाग्रता ही ध्यान कहलाता है।

उत्तम संहनन वाले का एक अग्रभाग में चिंता का निरोध करना ध्यान कहलाता है। क्योंकि मन राग द्वेष के कारण ही अस्थिर होता है, जब मन ही स्थिर हो गया तो विचार कहाँ रहेंगे-आये और चले गये। ''सूने घर का पाहुना, ज्यों आवे त्यों जाय'' उन विचारों को तुम रोकोगे तो रुकेंगे, न रोकोगे तो चले ही जायेंगे।

हवा चल रही है इसलिये आकाश में बादल उड़ते चले जा रहे हैं यदि रोकने वाला कोई पहाड़, वृक्ष है जिन्हें देखकर बादल आकृष्ट हो रहे हैं राग द्वेष आदि जब नष्ट होते हैं तो उनसे उठने वाली तरंगें भी नष्ट हो जाती हैं और मन का जल स्थिर हो जाता है, वह आत्मा को आत्मा में देखने में समर्थ हो जाता है। अन्य प्राणी इस प्रकार आत्मा को देखने में समर्थ नहीं हो पाते

क्योंकि उसके मन रूपी विचार जल में राग-द्वेष रूपी तरंगें उठ रही हैं, इसलिये उबलते जल में या उठती जल तरंगों में कोई अपना चेहरा नहीं देख पायेगा। थाली भले ही जल में है किंतु स्थिर है तो कोई भी अपना चेहरा देख सकता है। पानी कहीं भी हो झील-तालाब-समुद्र कहीं भी हो यदि शांत है तो अपना चेहरा उसमें देखा जा सकता है, पानी यदि चंचल है तो चेहरा नहीं देखा जा सकता।

महानुभाव ! यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं-इतर जन के लिये आत्मा के स्वभाव को, आत्मतत्त्व को देखना जानना असंभव है। किंतु जिस योगी ने रागद्वेष के निमित्त से उत्पन्न होने वाली मन रूपी जल की तरंगों को शांत कर दिया, उनका निवारण कर दिया है ऐसा योगी ही आत्मतत्त्व को पाने में समर्थ होता है।

२४. अविक्षिप्त मन

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः॥३६॥

अन्वयार्थ-अविक्षिप्तं-रागादिपरिणति से रहित तथा शरीर और आत्मा को एक मानने रूप मिथ्या अभिप्राय से रहित जो स्वरूप में स्थिर है **मनः**-वही मन है **आत्मनः तत्त्वं**-आत्मा का वास्तविक रूप है और **विक्षिप्तं**-रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा आत्मा के भेदज्ञान से शून्यमन है वह **आत्मनः भ्रान्तिः**-आत्मा का विभ्रम है-आत्मा का निज रूप नहीं है **ततः**-इसलिये **तत् अविक्षिप्तं**-उस राग द्वेषादि से रहित मन को **धारयेत्**-धारण करना चाहिए और **विक्षिप्तं**-राग-द्वेषादि से क्षुब्ध हुए मन को **न आश्रयेत्**-आश्रय नहीं देना चाहिए।

विक्षिप्ति किसे कहते हैं। आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी जी ने लिखा है-चारित्रमोहनीय कर्म के उदय को विक्षिप्ति कहते हैं-

''मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो'' मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का जो परिणाम है वह समत्व भाव है। मोह कहते हैं दर्शन मिथ्यात्व को और क्षोभ कहते हैं चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले राग-द्वेषादि विकारी भाव। उसके माध्यम से ही मन में विक्षिप्ति आती है। इच्छा भी चारित्रमोहनीय कर्म की एक पर्याय है। मन में जो भी विकल्प आ रहे हैं वे सभी चारित्रमोहनीय की वजह से आ रहे हैं। आप कहेंगें महाराज श्री! तो क्या विकल्प दर्शनमोहनीय की वजह से नहीं आते ? दर्शनमोहनीय में विकल्प का काम ही नहीं है दर्शन मोहनीय तो धारणा है वह सम्यक् है या मिथ्या। विकल्पों का कार्य तो चारित्र मोहनीय का है। अब यदि सम्यग्ज्ञान है तो सम्यक् विकल्प है, मिथ्याज्ञान है तो मिथ्या विकल्प है। विकल्प दोनों को आते हैं। सत्तागत प्रकृति अपना असर दिखाती है। यहाँ क्षोभ की विक्षिप्ति की बात कह रहे हैं।

विक्षिप्ति कैसे होती है तो साइक्लोजी पढ़ने वाले विद्यार्थी जानते हैं कि व्यक्ति के मन में विक्षिप्ति तब आती है जब उसकी इच्छायें ज्यादा हो जायें और उतना वह काम कर न पाये तब विक्षिप्ति आने लगती है। कई बार विद्यार्थी ज्यादा पढ़ता है तो मन में विक्षिप्ति आने लगती है, तो विक्षिप्ति ज्ञान की कमी से नहीं आती, क्षयोपशम की कमी से नहीं आती, विक्षिप्ति आती है जब किसी को उसकी सामर्थ्य से ज्यादा काम दे दिया जाये। परिणामों में विक्षिप्ति व क्षोभ तब तक है जब तक चारित्र मोहनीय कर्म का उदय (पहले से 10वें गुणस्थान तक) रहता है। 12वें में मोह के पूर्ण नष्ट हो जाने पर पुनः क्षोभ परिणाम नहीं आते। फिर तो अन्तर्मुहूर्त में ही शुक्ल ध्यान के बल से शेष तीन घातिया कर्मों को नष्ट कर केवली बन जाते हैं। केवली अवस्था में भी तृतीय व चतुर्थ शुक्लध्यान (उपचार से) के बल से चार अघातिया कर्म भी नष्ट हो जाते हैं फिर वे सिद्ध बन जाते हैं।

यहाँ देख रहे थे **अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं** जिसका मन क्षोभ से रहित है, जितना चारित्रमोहनीय कर्म का तीव्र उदय रहेगा मन उतना ही दु:खी रहेगा, मन चंचल रहेगा, और जितना कम उदय होगा मन उतना ज्यादा शांत रहेगा सुख का अनुभव होगा। **विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः** विक्षिप्ति के माध्यम से आत्मा में भ्रान्ति पैदा होती है आत्मा चंचल हो जाता है। ये मेरा है इसे ग्रहण करूँ, इसे छोड़ूँ, क्या करूँ यह चंचलता बनी रहती है। विक्षिप्ति ही इसी बात की है तो वह आत्मतत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता। **धारयेत्तद्विक्षिप्तं** इसलिये भव्य प्राणियों को जो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं उन्हें अविक्षिप्त अवस्था को धारण करना चाहिये **विक्षिप्तं न आश्रयेत् ततः**-इसलिये विक्षिप्त अवस्था का आश्रय कभी नहीं लेना चाहिये। इस प्रकार यहाँ आचार्य महोदय बता रहे हैं कि-रागादि भाव से परिणत चंचल मन ही विक्षिप्त मन कहलाता है ऐसे मन के प्रति लोगों को आत्मा की भ्रान्ति पैदा हो गयी है अथवा यूँ कहें कि मन का विक्षिप्त होना आत्मा का निजरूप नहीं है वह आत्मविभ्रम है उसमें आत्मा का कल्याण नहीं है इसलिये मन को रागादिक परिणत न करके रागादि रहित उपयोग को धारण करना चाहिये।

महानुभाव ! मन चाहे थके, अस्वस्थ हो ये सब चारित्र मोहनीय के माध्यम से है आप कहेंगे-

मन क्या है ? ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम, वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम ये भाव मन है और द्रव्य मन नाम कर्म का उदय जिससे द्रव्य मन की रचना हुयी।

इन क्षयोपशम से ज्ञान की वृद्धि व ह्रास तो होता है ज्ञान विकल्प नहीं देता। दर्शन तो कभी विकल्प देता ही नहीं है चाहे वह दर्शन मिथ्यारूप हो या सम्यक् रूप हो। अब आपको एक नयी बात बता रहे हैं आपने अभी तक सुना कि ज्ञान सविकल्प होता है आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्ती देव की गाथा भी है।

दर्शन वह है जो विशेषता से रहित, विकल्पों से रहित, वह सामान्य महासत्ता को ग्रहण करता है तो दर्शन को तो हमेशा निर्विकल्प ही माना, यहाँ कौन सा दर्शन माना ? दर्शनावरणी वाले दर्शन को। और ये जो सम्यक् दर्शन वाला दर्शन है इसमें भी श्रद्धान रूप है विकल्प रूप नहीं है।

किन्तु ज्ञान को माना है विशेषताओं से सहित, विकल्प सहित माना है। किन्तु हम दूसरी बात आपको बताना चाहते हैं सही बात तो यह है कि अकेला ज्ञान विकल्पों को पैदा नहीं करता। ज्ञान तो जल है। जल में तरंगें उठती हैं किन्तु सूखे तालाब में तरंगें नहीं उठती। जल है वह ज्ञान, जब उसमें तरंगें उठती हैं तो लोग कहते हैं कि तरंगें जल से उठती हैं हम ये कहना चाहते हैं कि तरंगें अकेले जल से नहीं उठती, तरंगें हवा से उठती हैं। जल में उठती हैं ये सही बात है किन्तु उठती हवा से हैं। हवा नहीं चले तो वही तालाब का जल स्थिर भी हो सकता है।

जैसे हवा कारण है उसी तरह चारित्र मोहनीय भी हवा है और ज्ञान जल है, ज्ञान चाहे सम्यक् हो या मिथ्या जल चाहे निर्मल है या समल उसमें मान लो लहर आयेगी, और जो आकृति है जिसमें जल भरा हुआ है वो मान लिया दर्शन, तो दर्शन तो सूखा तालाब है वहाँ लहर उठने का प्रश्न ही नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन है तो साथ में सम्यग्ज्ञान होगा ही होगा, मिथ्यादर्शन है तो मिथ्याज्ञान होगा ही होगा। जब तालाब खुद गया है तो पानी बहकर उसमें आयेगा ही आयेगा। अकेला दर्शन मोहनीय रहता ही नहीं है मिथ्यात्व के साथ मिथ्याज्ञान, सम्यक् के साथ सम्यग्ज्ञान रहेगा। किन्तु जो दर्शनावरणी वाला दर्शन है, सामान्य सत्तावलोकन वाला दर्शन अकेला तो वह भी नहीं रहता किन्तु उसमें जो अनन्तर ज्ञान होता है अवग्रह ईहा आवाय धारणा आदि, वह दर्शन तो निर्विकल्प ही होता है।

यहाँ पर क्या है कि तालाब कभी सूखा होता नहीं। हमने दर्शन को सूखा तालाब मान लिया है, सूखा तालाब होता नहीं, यदि मिथ्यात्व है तो तालाब में गंदा पानी भरा हुआ है, सम्यक्त्व है तालाब पक्का बना हुआ है तो पानी स्वच्छ भरा हुआ है, अब जितना ज्यादा पानी भरा है उतनी बड़ी-बड़ी लहर उसमें उठ सकती हैं जितना कम पानी उतनी कम तरंगें। अब चारित्रमोहनीय की जितना हवा चल रही उसमें वैसी लहर उठती रहेगी। लोग कहते हैं ज्ञान विकल्प है, नहीं ज्ञान में तो लीन हुआ जाता है। आ. कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा-

''**अज्झयणमेव झाणं**-अध्ययन ही ध्यान है-

णाणम्मि चित्तेकग्गभावो झाणं।

ज्ञान में चित्त का एकाग्र भाव होना वह भी ध्यान है'' और **णाण मेव झाणं** ''ज्ञान ही ध्यान है'' ऐसी सूक्तियाँ दी हैं।

जो ध्यान है वह एकाग्र करता है। जल भी एकाग्र हो सकता है, ठहर सकता है। यदि हवा नहीं चल रही हो तो। दीपक की ज्योति भी स्थिर हो सकती है ऐसे ही जल स्थिर हो सकता है। जल के हिलने में या दीपक की ज्योति के हिलने में कारण हवा है ऐसे ही ज्ञान में विकल्प पैदा होता है किन्तु वह विकल्प पैदा करने वाला है चारित्र मोहनीय। मुख्य कारण वही है, उसे निमित्त मान सकते हैं। हाँ यदि उपादान रूप से कारण मानें तो जल (ज्ञान) है क्योंकि विकल्प उसमें पैदा हो रहे हैं।

जैसे लोक व्यवहार में पूछा जाये ये किसका बेटा है ? तो उत्तर में नाम पिता का लिया जाता है माँ का नहीं। माँ का नाम तो मायके में लिया जाता है। ऐसे ही निमित्त का कथन किया जाता है। विकल्पों को पैदा करने वाला कौन ? चारित्र मोहनीय क्योंकि वह निमित्त है और यदि ज्ञान की चर्चा करेंगे, ज्ञान अर्थात् मायका (ननिहाल) वहाँ पूछें विकल्प पैदा करने वाला कौन ? तो ज्ञान है। कथन कभी निमित्ताधीन होता है तो कभी उपादानाधीन होता है।

यहाँ यही बात जानी कि चारित्र मोहनीय कर्म की वजह से चित्त विक्षिप्त होता है और जब चित्त में विक्षेप आता है क्षोभ उत्पन्न होता है फिर मन तत्त्व को जानने में असमर्थ हो जाता है। इसलिये यहाँ कह रहे हैं भव्य प्राणियों को अविक्षिप्त अवस्था को धारण करना चाहिये। विक्षिप्तता का आश्रय नहीं लेना चाहिये।

अविद्याभ्यास संस्कारैरवशंक्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञान संस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥३७॥

अन्वयार्थ-अविद्याभ्याससंस्कारैः-शरीरादि को शुचि, स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या अज्ञान है उसके पुनः पुनः प्रवृत्ति रूप अभ्यास से उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा **मनः**-मन **अवशं**-स्वाधीन न रहकर **क्षिप्यते**-विक्षिप्त हो जाता है-रागी द्वेषी बन जाता है और **तदेव**-वही मन **ज्ञान-संस्कारैः**-आत्म-देह के भेद विज्ञानरूप संस्कारों द्वारा **स्वतः**-स्वयं ही **तत्त्वे**-आत्म स्वरूप में **अवतिष्ठते**-स्थिर हो जाता है।

जिस तालाब में पानी भरा था, एकाएक हवा चलकर शांत हो गयी। किन्तु फिर भी अभी लहर उठ रही है, क्यों ? वह जो लहर उठी थी लहर ने पानी को धक्का दिया लहर उठती चली गयी उसे शांत होने में थोड़ा समय लगता है। किसी बालक ने किसी सरोवर में एक पत्थर डाला, तो पत्थर डालते ही उसमें गोला सा बनता है और वे बढ़ते चले जाते हैं। पत्थर डाला था तो एक सैकेण्ड लगी, गोला बनते-बनते किनारे तक पहुँच जाते हैं उसमें समय ज्यादा (1-2 मिनट) भी लग सकता है। तो हवा जब चली तब लहर उठ रहीं थी तब तो बात समझ में आ रही थी हवा शांत है तब भी समुद्र में लहरें आ रही हैं क्यों ? पूर्व संस्कार से।

जैसे कुम्भकार ने दण्डा लेकर के चाक को घुमाया, दण्डा निकालकर अलग कर दिया, अब चाक क्यों घूम रहा है ? पूर्व संस्कार से।

यह जीव भी पूर्व संस्कार से संसार में परिभ्रमण कर रहा है, ऊर्ध्वगति जाने का इसका स्वभाव है। जब यह कर्मों को नष्ट करता है तो ऊपर की ओर जाता है, क्यों जाता है? चार उदाहरण दिये पहला तो स्वभाव से जैसे अग्नि की निर्वात स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, दूसरा दिया तुम्बी का लेप हटता है तो लेप हटते ही वह ऊपर की ओर आती है ऐसे ही कर्मों का लेप आत्मा से हटता है तो आत्मा भी ऊपर की ओर जाती है। तीसरा दिया पूर्व संस्कार वशात् पूर्व संस्कार से जैसे कुम्हार का चाक घूमता है हमारी आत्मा भी पूर्व संस्कार से बार-बार संसार में घूमती जाती है, चौथा दिया जैसे एरण्ड का बीज जब टूटता है तो ऊपर की ओर जाता है ऐसा नहीं कि उचट कर नीचे की ओर गिरे, वह ऊपर की ओर उचटता है, ऐसे आत्मा भी ऊर्ध्वगति की ओर जाती है।

यहाँ पर यही कह रहे हैं कि संस्कार भी रहता है, पहले तो चारित्र मोहनीय कर्म का संस्कार काम करता है वह कभी अपना कार्य करना बंद नहीं करता ऐसा समय कभी नहीं आता कि चारित्र मोहनीय अपना कार्य नहीं कर रहा हो, वह काम करता है। चाहे वह जल निर्मल है या समल।

यदि कदाचित् वह मंद पड़ जाये तो फिर वह ज्ञान में पड़े संस्कार अपना काम करते रहते हैं उससे छोटे-छोटे विकल्प आते रहते हैं। चारित्र मोहनीय के मंद हो जाने का आशय है मुनिमहाराज तत्त्वचिंतन में बैठे हैं और ध्यान में बैठे-बैठे अचानक कर्म का उदय आया तो विकल्प आया। विकल्प जो स्मृति में आया है वह ही इच्छा बन गया उससे पुनः विकल्प पैदा हो गया। तो यहाँ कह रहे हैं।

अविद्याभ्यास संस्कारै-अज्ञान के अभ्यास के संस्कारों द्वारा, **अवशमनः**-जो मन अवश है (उस मन को पुनः संयम से वश किया जाता है) ज्ञानी पुरुष संयम के माध्यम से मन को वश करता है, अज्ञानी पुरुष अज्ञान के संस्कारों के कारण मन को वश नहीं कर पाता उसका मन अवश होता है और अवश मन विक्षिप्त होता है। मन यदि अनुशासित है तो अनुशासन से बैठेगा, उपद्रवी है तो अशांति से रहेगा। **क्षिप्यते मनः**-अवश मन विक्षिप्ती से युक्त होता है। वह विक्षिप्ती पैदा करता ही रहेगा। विक्षिप्ती कैसे हुयी ? मन अवश कैसे हुआ ? अविद्या के संस्कारों से। कोई व्यक्ति पाप क्रिया करता है उस पाप क्रिया का अभ्यास करता रहे तो पाप क्रिया के संस्कार पड़ जाते हैं फिर उसे स्वप्न भी आयेगा तो पाप क्रिया का आयेगा। इसके विपरीत विद्या के, अच्छे संस्कार भी पड़ जाते हैं उन संस्कारों के प्रभाव से उसका मन शांति को भी प्राप्त करता है किन्तु मन चंचल तो उन संस्कारों से भी होता है।

तो अविद्या के संस्कारों के द्वारा ये मन अवश हो जाता है और अवश मन ही विक्षिप्त होता है। वश में किया मन उतना विक्षिप्त नहीं होता। अविक्षिप्त व्यक्ति का मन जितना जागा रहेगा उतना ठीक है, विक्षिप्त व्यक्ति का मन जितना सोया रहेगा उतना ठीक रहेगा इसलिये कहते हैं विक्षिप्त का मन कहीं जाग नहीं जाये, यदि विक्षिप्त का मन जाग गया तो उपद्रव ही उपद्रव पैदा करेगा। अब आगे कह रहे हैं-

वह ही ज्ञान संस्कारों के द्वारा अपने आप तत्त्व में ठहर जाता है।

मन फिर अपने आप ठहर जाता है उसे ज्यादा आवश्यकता नहीं। जैसे छोटा बालक है उसे एक टब में थोड़ा पानी मिल जाये तो जितना उसका हाथ पहुँच जाये वहाँ तक पानी उछालने का प्रयास करेगा अब पानी थोड़ा और ज्यादा मिल गया, पुनः पूरे सिर तक पानी हो गया अब पानी कहाँ से उछालेगा। जितना कम पानी होगा उतना ज्यादा उछालेगा, ज्यादा होगा तो उछाल ही न पायेगा।

ऐसे ही ज्ञान के संस्कार परिपूरित हो जायेंगे तो फिर मन विक्षिप्त नहीं हो पायेगा क्योंकि मन चारों तरफ से सधा हुआ है। जैसे ट्रेन पटरी पर जा रही है वह उसके बाहर जा नहीं सकती बंधी हुयी है। ऐसे ही जिसका मन सधा रहता है वह इधर-उधर नहीं जा सकता, बस एक स्पीड से चलता रहता है। मन जब ज्ञान के संस्कारों से मर्यादा में आ जाता है तब उसका मन विक्षिप्त नहीं होता।

महानुभाव ! आचार्य महाराज यही कह रहे हैं यह मन, शरीर आदिक पवित्र है, स्थायी है, हितकारी है, अपना है ऐसी असत्य मान्यता बनाने और जारी रखने से जो अविद्या का संस्कार बन जाता है उससे मन विक्षिप्त हो जाता है, वश रहित हो जाता है, इन्द्रियाधीन हो जाता है। वही मन यथार्थज्ञान के संस्कार से आत्मस्वरूप में लग जाता है इस कारण परमात्मतत्त्व पाने के लिये 'निज को निज, पर को पर जान सम्यग्ज्ञान बनाये रहना चाहिये।

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः॥३८॥

अन्वयार्थ-यस्य चेतसः-जिसके चित्त का **विक्षेपः**-रागादि रूप परिणमन होता है **तस्य**-उसी के **अपमानादयः**-अपमानादिक होते हैं **यस्यचेतसः**-जिसके चित्त का **क्षेपः न**-राग-द्वेषादि रूप परिणमन नहीं होता **तस्य**-उसके **अपमानादयः न**-अपमान-तिरस्कारादि नहीं होते हैं।

जिसके चित्त में विक्षेप है उसका ही अपमान आदि होता है। कैसे होता है ? जब चित्त में विक्षेप होता है तो सामने वाले व्यक्ति के द्वारा की गयी प्रवृत्ति उसे या तो इष्ट रूप से लगती है या अनिष्ट रूप से। या तो लगता है सामने वाला मेरा सम्मान कर रहा है या मेरा अपमान कर रहा है। यदि स्वयं में कोई विकल्प नहीं है तो सामने वाले का सम्मान/अपमान कुछ दिखाई नहीं देता।

जब अपने शरीर में कहीं घाव है तो थोड़ी सी हवा भी चलती है तो चुभती है चाहे हवा ठंडी हो या गर्म। धूल आती है तो चुभती है, मरहम भी लगाया जाता है तो चुभता है। क्यों? क्योंकि अपने अंदर घाव है इसलिये। घाव नहीं हो तो हवा धूल मरहम कुछ चुभता नहीं है। यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं यह तो बात शरीर की हुयी की बाह्य वातावरण शरीर को प्रभावित करता है ऐसे ही अन्तरंग (आत्मा में) विक्षेप हुआ है, मन क्षुभित हुआ है, मन में आर्त्त ध्यान चला है कोई व्यक्ति आकर समझाये देख भाई मान जा ये सब बातें छोड़, तो वह कह देता है मुझे किसी की नहीं सुनना, किसी के भी समझाने पर वह समझ नहीं रहा, क्यों नहीं समझ रहा क्योंकि उसके मन में विक्षोभ है। इसलिये चाहे वह ए.सी. में बैठा हो या कूलर में कहीं भी बैठा है पर उसे अंदर में बहुत दुःख हो रहा है। ये बाह्य पदार्थ उसे सुख शांति नहीं दे पा रहे। क्यों ? क्योंकि उसको अंतरंग दुःख हुआ है। जब मन दुःखा हुआ होता है तब उसे सब चीज बुरी-बुरी दिखती है। किसी

के इष्ट का वियोग हो गया हो, अब कोई अच्छा भोजन भी कराये, तो वह क्या भोजन कर पायेगा, उसकी आँखों से तो टप-टप आँसू ही बहते रहेंगे।

दु:खी मन हो तो सब बुरा ही लगेगा। जब मन थोड़ा ठीक हो जायेगा तो धीमे-धीमे सब अच्छा लगने लगेगा। तो यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जिसके चित्त में विक्षोभ पैदा हुआ है तब उसे अपमान आदि लगते हैं। जब मन शांत बैठा है तब कौन किसका अपमान कर सकता है। मैं-मैं हूँ तुम-तुम हो। तुम मेरा कुछ नहीं कर सकते, मैं तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता। मेरी आत्मा का पूर्ण रूप से कर्ता धरता मैं हूँ चाहे मैं उसे नरक में ले जाऊँ या निगोद में चाहे मोक्ष ले जाऊँ ले जाने वाला मैं हूँ कोई क्या कर सकता है। मेरी आत्मा का मैं ही सम्मान न करूँ तो तुम क्या सम्मान करोगे, तुम्हारे सम्मान से मेरा क्या होने वाला है। अपनी आत्मा को, अपने गुणों को प्रकट करने से मैं ही सम्माननीय बना सकता हूँ यदि मैं ही अपनी आत्मा का सम्मान नहीं कर रहा मैं ही अपने गुणों का निरादर कर रहा हूँ तो तुम मेरा निरादर क्या करोगे। मेरा बनना-बिगड़ना मेरे माध्यम से है। भगवान् पार्श्वनाथ ने अपनी आत्मा का सम्मान किया तो कमठ ने उपसर्ग कर अपमान भी कर दिया तो उनका क्या बिगड़ गया।

कितने मुनिराज हुये जिन पर उपसर्ग हुआ उनका क्या बिगड़ा वे तो केवली बन गये। अपनों का अपमान, दूसरों का सम्मान तब तक बुरा लगता है जब तक हमारे चित्त में विक्षोभ होता है, मन अशांत होता है। महानुभाव ! हमें इन सब विक्षोभ, क्षुब्धता से ऊपर उठना है इस मान-अपमान की भाषा से रहित होना है तभी हम आत्मा के स्वभाव को जान पायेंगे आत्मा के वैभव को प्राप्त कर पायेंगे।

महानुभाव ! आचार्य महाराज यही समझा रहे हैं जिसका चित्त रागादिभाव से कलुषित होता है उसके ही अपमान, अवमानना, घमण्ड करना, ईर्ष्या करना आदिक खेद उत्पन्न होते हैं। जिसके चित्त में रागादि भाव नहीं है उसके अपमानादिक खेद भी नहीं होते हैं। इस कारण खेद रहित होने के लिये राग-द्वेष और मोह अज्ञान से निवृत्त होना चाहिये।

२५. जो इच्छा का त्यागी

यदा मोहात् प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्॥३९॥

अन्वयार्थ-यदा-जिस समय **तपस्विनः**-किसी तपस्वी अन्तरात्मा के **मोहात्**-मोहनीय कर्म के उदय से **रागद्वेषौ**-राग और द्वेष **प्रजायेते**-उत्पन्न हो जावें **तदा एव**-उसी समय वह तपस्वी **स्वस्थं आत्मानं**-अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की **भावयेत्**-भावना करे। इससे वे राग-द्वेषादिक **क्षणात्**-क्षणभर में **शाम्यतः**-शान्त हो जाते हैं।

जब तपस्वी के मन में किसी वस्तु के प्रति राग पैदा हो जाये। चारित्रमोहनीय के उदय से ऐसा हो सकता है। उस कर्म को नष्ट करने के लिये ही तो तपस्या कर रहा है। कर्म है तो उदय में भी आयेगा, उदय में आयेगा तो फल भी दिखायेगा।

जब तपस्वी के मन में किसी के प्रति राग की, द्वेष की भावना पैदा हो जाये तो तपस्वी क्या करे ? तो बता रहे हैं उसी समय उसे अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में स्थिर करने की भावना भानी चाहिये। जिससे क्षण भर में ही वे रागद्वेष शान्त हो जाते हैं जैसे किसी नगर के बाहर कोई उपद्रवी शत्रु आ गये वे उपद्रव कर रहे हैं, राजा ने पहले से कोई तैयारी नहीं की कि उस सेना से युद्ध भी करना है, अब सोचता है युद्ध करने से मेरी सेना रणखेत हो जायेगी, तो मैं क्या करूँगा। तो राजा ने अपने तीनों परकोटे बंद कर दिये, अब सेना परकोटा तोड़ नहीं सकती। अंदर महल का दरवाजा भी बंद कर दिया, राजा शांति से बैठ गया प्रजा से कह दिया सब सुरक्षित बैठे रहो। जो बाहर का राजा आया है वह कितनी ही तलवार चलाते रहे चाहे लाठी-बंदूक चलाते रहे यहाँ तक कि तोप से भी हमारे कोट की दीवारें टूटने वाली नहीं हैं। ये तलवारें चलायेंगे तो हो सकता है आपस में ही लड़-मर के भाग जायेंगे। हमारे महल में किसी वस्तु की कमी नहीं है महीनों तक बंद रखें तब भी कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। अब शांति से राजा बैठा है।

ऐसे ही योगी अपने तीनों परकोटे मन-वचन-काय खींचकर आत्मा को आत्मा में लीन कर दे, ये रागद्वेषादि कर्म क्या करेंगे। चारित्र मोहनीय की सेना तो कुछ नहीं कर सकती बाहर से भले ही लाठी पीटती रहे, तलवार चलाती रहे ये परकोटा तो तोप के गोले से भी टूटने वाला नहीं है साधु जब तीनों गुप्तियों का पालन करते हुये आत्मा को आत्मा में लीन कर देगा तो ये राग-द्वेष कुछ भी न कर सकेंगे। अन्तर्मुहूर्त में कर्म अपना फल देकर चले जायेंगे।

इसलिए आत्मा को अपने में स्थिर करने की भावना भानी चाहिये।

महानुभाव ! चारित्र मोहनीय कर्म के उदय होने पर रागद्वेष के विकार आत्मा में उत्पन्न होते हैं। जब ऐसे राग-द्वेष उत्पन्न हों जो बुद्धि में आवें उस समय भी ज्ञानी तपस्वी के अन्तर में ज्ञान

प्रीति का बल तो रहता ही है सो उस ज्ञानी को चाहिये कि अपने में स्थित आत्मा की भावना करे। इस उपाय से रागद्वेष क्षण मात्र में शान्त हो जाते हैं।

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति॥४०॥

अन्वयार्थ-यत्र काये-जिस शरीर में **मुनेः**-मुनि का-अन्तरात्मा का **प्रेम**-प्रेम स्नेह है **ततः**-उससे **बुद्ध्या**-भेद विज्ञान के आधार पर **देहिनम्**-आत्मा को **प्रच्याव्य**-पृथक करके **तदुत्तमेकाये**-उस उत्तम चिदानन्दमय काय में आत्मस्वरूप में **योजयेत्**-लगावें। ऐसा करने से **प्रेम नश्यति**-बाह्य शरीर और इन्द्रियविषयों में होने वाला प्रेम नष्ट हो जाता है।

शरीर, शरीर की बुद्धि, शरीर का ह्रास, शरीर के परिणमन के प्रति जो मुनि का प्रेम है तो इसका आशय ये है उस समय उस मुनि का आत्मा के प्रति प्रेम नहीं है, आत्मगुणों के प्रति प्रेम नहीं है किन्तु यदि बुद्धि के द्वारा/भेद विज्ञान के द्वारा उस ज्ञान रूपी शरीर में प्रेम करता है, उससे अपने आप को जोड़ता है तो शरीर के प्रति जो प्रेम है वह नष्ट हो जाता है।

शरीर या शरीर में विद्यमान पाँच इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियों को इष्ट लगने वाले विषय उन सब में प्रेम करता है। शरीर से प्रेम करेगा तो शरीर में विद्यमान इन्द्रियों से प्रेम करेगा, इन्द्रियों से प्रेम करेगा तो जो इन्द्रियाँ नये-नये पदार्थों को भोगती हैं जो पदार्थ भोगने में अच्छे लगते हैं उन-उन पदार्थों से प्रेम करेगा, अच्छे नहीं लगते उनसे द्वेष करेगा किन्तु जब वह मुनि, तपस्वी भेद विज्ञान करके ज्ञान के माध्यम से देख लेगा ये मैं नहीं हूँ, इन्द्रिय रूप मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्यमय आत्मा हूँ। तो फिर मुनि का प्रेम इन बाह्य पदार्थों से नहीं होगा फिर अन्तरात्मा से हो जायेगा जब अन्तरात्मा से हो जायेगा तो बाह्य पदार्थ से प्रेम नष्ट हो जायेगा। एक क्षण में दो जगह प्रेम नहीं होता। जब बाह्य पदार्थ में है तब अन्तर में नहीं है, जब अंतर में है तो बाह्य में नहीं है। अब आप देख लो क्या करना है-आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी तो कहते हैं।

जं रुच्चइ तं कुज्जा-तुम्हें जैसा रुचे वैसा कर लो, तुम्हारे पास श्वांस रूपी इतना ही जल है चाहो तो उसे शरीर के सिंचन में लगा दो और चाहो तो आत्मा के सिंचन में लगा दो। किन्तु जब आत्मा का सिंचन करोगे तो शरीर का बगीचा सूखेगा और शरीर के बगीचे का सिंचन करोगे तो आत्मा का बगीचा सूख जायेगा।

यज्जीवस्योपकाराय तद् देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तद् जीवस्यापकारकम्॥१९॥ इष्टोपदेश

अब एक साथ दोनों नहीं चल सकते, दिशा दोनों की विपरीत है।

दो मुख राही चले न पंथा,
दो मुख सुई सिले न कंथा।
दोऊ काम नहीं होय सयाने,
विषय भोग अरु मोक्ष हु जाने॥

हे सयाने बुद्धिमान ! दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते तुम ज्यादा बुद्धिमानी न दिखाओ, यदि ऐसी बुद्धिमानी होती तो तीर्थंकरादि क्यों घर छोड़कर जाते। ''विषय भोग अरु मोक्ष हु जाने'' क्यों विषयों को छोड़ते।

संसार में सुख सर्वदा नही काहू को दीखे।
कोई तन दुःखी कोई मन दुःखी कोई धन दुःखी दीखे॥

संसार में सभी दुःखी हैं अंतिम पंक्ति में कह दिया।

भईया लाल वही है सुखिया जो इच्छा का त्यागी

विषय भोगों को, संसार शरीर को त्याग कर परम दिगम्बर मुनि बनकर के परम अनुरागी हो गये, वे ही सुखिया हैं बाकी तो सब दुखिया ही दुखिया हैं।

महानुभाव ! आचार्य भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी जी यही कह रहे हैं जब अपने या पर के शरीर में व इन्द्रियों के विषयों में किसी मुनि को, अन्तरात्मा को प्रेम उत्पन्न होने लगे तब उसका कर्त्तव्य है कि उस असार अशुचि शरीर से, इन्द्रिय विषयों से अपने को हटाकर उससे उत्तम कार्य में अर्थात् आत्मस्वरूप में स्वयं को लगा दें इससे वह प्रेमरूपी विभाव, संकट नष्ट हो जायेगा।

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः॥४१॥

अन्वयार्थ-आत्मविभ्रमजं-शरीरादिक में आत्मबुद्धि रूप विभ्रम से उत्पन्न होने वाला **दुःखं**-दुःख-कष्ट **आत्मज्ञानात्**-शरीरादि से भिन्न रूप आत्मस्वरूप के अनुभव करने से **प्रशाम्यति**-शांत हो जाता है अतएव जो पुरुष **तत्र**-भेद विज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति करने में **अयताः**-प्रयत्न नहीं करते वे **परमं**-उत्कृष्ट एवं दुर्द्धर **तपं**-तप को **कृत्वापि**-करके भी **न निर्वान्ति**-निर्वाण को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं।

जो कार्य जिस कारण से उत्पन्न होता है, उस कारण के नष्ट होने पर वह कार्य भी नष्ट हो जाता है। जैसे अग्नि जलने से धुआँ उत्पन्न होता है और अग्नि के बुझ जाने से धुआँ भी शान्त हो जायेगा। पहले खेती ईख की होती थी तो कोल्हू के चलने से गुड़ आदि का निर्माण होता था। खेती बंद होने से कोल्हू बंद हो गया और गुड़ बनना भी बंद हो गया। कारण के समाप्त होने पर

कार्य भी नहीं रहता है। 'आत्मविभ्रमजं' आत्मा के विभ्रम से जन्म लेने वाला दु:ख। आत्मा का विभ्रम मान लो पेड़ और दु:ख हो गया उसका फल जब पेड़ ही नष्ट हो गया तो दु:ख रूपी फल कैसे प्राप्त होगा।

आत्मा का विभ्रम कैसा ? पहले श्लोक में देख चुके हैं शरीरादि को आत्मा रूप मान लेना, जैसे कोई व्यक्ति स्थाणु में पुरुष मान लेता है भ्रम होने पर डरता रहा और भ्रम दूर होने पर डर भाग गया। तो कारण के नष्ट होने पर कार्य स्वत: ही नष्ट जानो। अग्नि में जब तक घी पड़ता जायेगा अग्नि जलती जायेगी और जिस ईंधन से अग्नि जल रही है वह ईंधन नहीं है तो अग्नि अपने आप ही बुझ जायेगी। तो ऐसे ही आत्मा का विभ्रम पालकर हम अनादि से बैठे थे उस आत्मभ्रम का जब तक पोषण करते रहेंगे तब तक दु:ख उत्पन्न होता रहेगा। आत्मा का भ्रम ही निकल गया, 'आत्मज्ञानात्'-आत्मज्ञान होने से वह आत्म भय शांति को प्राप्त हो गया। मात्र भ्रम ही नहीं दु:ख भी शांति को प्राप्त हो गया। क्योंकि आत्मा का ज्ञान एक प्रकाशपुंज है दीपक के जलने से जैसे अंधकार भाग जाता है वैसे ही आत्मा का ज्ञान होने से आत्मा के भ्रम से उत्पन्न हुआ दु:ख भी भाग जाता है।

कारण के होने पर कार्य होता है आकाश में बादल छाये हैं बादल के छाये होने पर बारिश होती है और बादल ही उड़ गये हवा से, तो बारिश कहाँ से होगी। ऐसे ही व्यक्ति दु:खों से बचना चाहता है तो दु:खों से ऐसे नहीं बच सकता, बचे तो कैसे बचे ? दु:ख का मुख्य कारण है पाप। पाप से बच जायेगा तो दु:ख से बच जायेगा। यदि ऐसे ही बचने का प्रयास करेगा तो नहीं बच पायेगा। किन्तु दु:ख का कारण पाप है उस पाप को न करेगा तो पाप का बंध नहीं होगा, बंध नहीं होगा तो पाप उदय में नहीं आयेगा, उदय में नहीं आयेगा तो दु:ख नहीं मिलेगा। ऐसे ही कारण को नष्ट करने की चेष्टा करो।

देखो-कोई व्यक्ति कुत्ते पर यदि लाठी का प्रहार करता है तो कुत्ता लाठी को मुंह में पकड़ता है यदि कोई व्यक्ति उसी लाठी से शेर पर प्रहार करता है तो शेर लाठी को नहीं लाठी मारने वाले व्यक्ति पर प्रहार करता है। तो ज्ञानी व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है शैर जैसी वह देखता है दु:ख कहाँ से आ रहा है वह दु:ख जहाँ से आ रहा है उस पाप पर प्रहार करता है। अज्ञानी व्यक्ति श्वान जैसी प्रवृत्ति करता है। बहिरात्मा-अन्तरात्मा की प्रवृत्ति में अन्तर रहता है।

यहाँ यही कह रहे हैं कि आत्मा के विभ्रम से दु:ख उत्पन्न हुआ, उस दु:ख के उत्पन्न होने से व्यक्ति अपने स्वरूप को भी जान नहीं पा रहा है किन्तु आत्मज्ञान होने से वह अपने स्वरूप को जान लेता है, उसका भ्रम दूर हो गया। उस भ्रम के दूर हो जाने से विभ्रम से उत्पन्न हो जाने वाला दु:ख भी अपने आप दूर हो जायेगा।

यह संसारी प्राणी पर वस्तु में आत्मा की स्थापना कर लेता है। एक कहानी आपने बचपन में सुनी होगी-एक राजा था, उसने एक तोता पाल रखा था, वह उस तोते को बहुत प्यार करता था। वह उस तोते को सोने के पिंजरे में रखता था, वह राजा कहता था कि मेरी आत्मा उस तोते में बसती है। यदि कोई तोते को छूता तो राजा परेशान हो जाता। एक दिन किसी ने उस तोते को प्राप्त कर लिया और राजा के सामने ले आया कि देखो मैं तुम्हारा तोता ले आया। आप कहते हो मेरे प्राण तोते में हैं तो लो मैं तोते को मारता हूँ किन्तु तोते को मारने से आप थोड़े ही मर जाओगे। आप अलग हैं तोता अलग आप स्वयं को समझो। ज्यों ही तोते को मारा तो राजा के हृदय की धड़कन भी रुक गयी, राजा भी मर गया।

महानुभाव ! कहने का आशय यह है कि यह जो कहावत है कि किसी के प्राण किसी में अटके हैं इसका आशय यह है वह उसमें उतना ज्यादा आसक्त था। जिस वस्तु से जितना मोह होता है उस वस्तु का वियोग होने पर संभव है प्राण भी चले जायें। जिसके बिना जो जी न पाये वही उसके प्राण हैं। प्राण की परिभाषा यही है-जिसके संयोग होने पर व्यक्ति जीता है, वियोग होने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है वह प्राण कहलाते हैं। हमारे 10 प्राण हैं-5 इन्द्रिय, 3 बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। आयु प्राण के माध्यम से 9 प्राण और टिके हैं। आयु नष्ट हो जाये तो 9 प्राण भी कूच कर जाते हैं। किन्तु आयु प्राण भी उस 11वें प्राण परिग्रह में आसक्त है। मिथ्यादृष्टि का प्राण तो 11वां उसी आधार से है। यदि उसका धनादि नष्ट हो जाता है, जिसमें मोह किया हुआ है। उससे उसके दस प्राण भी वियोग को प्राप्त हो जाते हैं।

जिस व्यक्ति को भ्रम पैदा हो गया है, जिसके प्राण दूसरे में अटके हुये हैं, उस अटके होने से, उसके दु:खी होने से वह भी दु:खी होने लगता है। वह सुखी होता है तो यह भी सुखी होने लगता है। कहता है मेरा सुख-दु:ख तो तुझ पर निर्भर है।

महानुभाव ! जब अपनी आत्मा पर निर्भर हो जाओगे तो अपनी आत्मा का सुख दु:ख भी आत्मा के अनुभव में आयेगा। तो यह आत्म विभ्रम है जब यह भ्रम नष्ट हो गया तो इससे उत्पन्न होने वाला दु:ख भी नष्ट हो गया। आगे कहा-

जब तक आत्मा का भ्रम है तब तक वह आत्मा दु:ख को प्राप्त कर रहा है और तब तक उसके पास निर्वाण नहीं आता अर्थात् वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। वह परम तप को करता हुआ भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि उसने आत्मा को नहीं जाना। जो कर्म आत्मा से लगे हैं जो मुझे दु:ख दे रहे हैं जिनकी वजह से मैं चारों गति में भ्रमण कर रहा हूँ, संसार में पंच परावर्तन कर रहा हूँ, 84 लाख योनियों में भ्रमण कर रहा हूँ, वह जानता ही नहीं है मैं क्यों कर रहा हूँ? कर्मों को नष्ट करने की कोशिश कैसे कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता।

महानुभाव ! तात्पर्य यही है कि शरीरादि ही मैं हूँ इस भ्रम बुद्धि से ही महान् क्लेश उत्पन्न होता है, यह क्लेश शरीर से भिन्न आत्मबुद्धि संवेदन से नष्ट होता है। आत्मज्ञान का उपाय किये बिना दुर्धर तप के अनुष्ठान से भी नष्ट नहीं होता है। उस आत्मस्वरूप की दृष्टि प्राप्ति का यत्न न करने वाले, दुर्धर तप को करके भी मोक्ष नहीं पा सकते हैं। अतः समस्त यत्नपूर्वक ज्ञानात्मक आत्मस्वरूप में संवेदन करना चाहिये।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्॥४२॥

अन्वयार्थ-देहे उत्पन्नात्ममतिः-शरीर में जिसको आत्मत्व बुद्धि उत्पन्न हो गई है ऐसा बहिरात्मा तप करके **शुभं शरीरं च**-सुन्दर शरीर और **दिव्यान् विषयान्**-उत्तमोत्तम अथवा स्वर्ग के विषय भोगों को **अभिवाञ्छति**-चाहता है और **तत्त्वज्ञानी**-ज्ञानी अन्तरात्मा **ततः**-शरीर और तत्सम्बन्धी विषयों से **च्युतिम्**-छूटना चाहता है।

शुभ शरीर की प्राप्ति, दिव्य शरीर की प्राप्ति या दिव्य-दिव्य विषयों की वांछा जो ज्ञानी है वह तो नहीं करता किन्तु जो अज्ञानी है वह दिव्य शरीर की, दिव्य विषयों की वांछा करता है। क्यों करता है?

जिसकी बुद्धि ऐसी हो गयी है कि शरीर ही आत्मा है ऐसा वह व्यक्ति तत्त्वज्ञानी होते हुये भी अपने स्वभाव से च्युत हो जाता है।

कब ? जब वह तत्त्वज्ञानी शरीर को ही आत्मा मान लेता है तब वह तत्त्वज्ञानी अपने स्वभाव से च्युत हो जाता है। जब वह अपनी आत्मा में लीन रहेगा तब तो कोई प्रश्न ही नहीं किन्तु जब आत्मा को छोड़ के शरीर को ही आत्मा समझने लगता है फिर वह आत्मा की साधना कैसे करेगा आत्मा को आत्मा में लीन कैसे करेगा ? उसका उपयोग तो शरीर पर आ जायेगा। यहाँ कह रहे हैं-

जिसको देह में आत्मा की बुद्धि उत्पन्न हो गयी है ऐसा व्यक्ति शुभ शरीर की कामना करता है, कहता है अरे ! यह औदारिक शरीर है जिसमें अनेक रोग भरे पड़े हैं, जो नित प्रति क्षीण होने वाला है, यह शरीर जिसमें अनेक कष्ट होते हैं। देवों का शरीर अच्छा है बस आहार के लिये कण्ठ से अमृत झर जाता है, निहार नहीं होता, बुढ़ापा नहीं आता, कोई रोग होता नहीं है, नींद भी नहीं आती, देवों की अनेक देवियाँ होती हैं, दिव्य विषयों की प्राप्ति होती है। मैं भी जब देव अवस्था में पहुँच जाऊँगा तो ऐसे मनोहर भोगों का सेवन करूँगा तो ऐसी कामना वही करेगा जिसकी देह में आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गयी। वह देह के सुख को सच्चा सुख मानता है। आत्म सुख से दूर रहता हुआ ऐसा तत्त्वज्ञानी, आत्मा की साधना से च्युत हो जायेगा वह फिर आत्म स्वभाव को प्राप्त करने वाले मार्ग पर नहीं चलेगा।

जब तक व्यक्ति जौहरी के यहाँ काम कर रहा था, तब तक भले ही जौहरी के यहाँ एक नंबर के हीरे तो नहीं थे थोड़े से समल थे फिर भी रत्न तो थे। अब किसी व्यक्ति ने उसे बहका दिया अरे तू यहाँ काम क्यों कर रहा है मेरे यहाँ चल मेरा कितना बड़ा कारखाना है, उसे लोभ दे दिया मेरे यहाँ सच्चे रत्न हैं। ऐसा बहकाकर वह उसे ले गया। पहुँचा तो देखा फैक्ट्री तो बहुत बड़ी थी, बहुत सारा ढेर भी लगा था, रत्न भी चमक रहे थे किन्तु वास्तव में थे काँच के टुकड़े।

जिस व्यक्ति की काँच में रत्नबुद्धि उत्पन्न हो गयी है ऐसा व्यक्ति रत्नों के स्थान को छोड़कर के काँच में आसक्त हो जाता है। जिस व्यक्ति को सीप में चांदी का भ्रम उत्पन्न हो गया है ऐसा व्यक्ति अपने हाथ के तांबे व पीतल को छोड़कर के चाँदी के लोभ से दौड़ता है तो पूर्व को छोड़कर सीप पकड़कर ही रह जाता है। किन्तु कोई बुद्धिमान व्यक्ति उसे समझाता है यह चाँदी नहीं सीप है ऐसे ही जो साधु ये सोचकर कि देवों के पास ऐसा वैभव होता है उसकी वांछा करने लग जाये। शास्त्रों में आता है कोई मुनिराज साधना कर रहे थे एक कोई विद्याधर पूजा करने के लिये आया। उसे देखकर के मन में निदान कर लिया कि ऐसी विभूति मेरे पास भी हो, ऐसा कई जगह आता है। तो इस प्रकार का निदान करना यानि अपनी आत्मा के स्वभाव से च्युत हो गये। वैसे तो वे उच्च पद को प्राप्त करते किन्तु निदान के माध्यम से नीचे उतर कर आ गये।

यहाँ इस श्लोक का यही अर्थ है कि शुभ शरीर, दिव्य भोगों की जो वांछा करता है, देह में आत्मबुद्धि जिसकी हो गयी है, ऐसा वह भले ही तत्त्वज्ञानी क्यों न हो किन्तु वह भी उस तत्त्व से च्युत हो जाता है, आत्म स्वरूप से च्युत हो जाता है।

२६. आत्म तत्त्व ही सार

परत्राहंमतिः स्वस्मात्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहं मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः॥४३॥

अन्वयार्थ-परत्राहम्मतिः-शरीरादिक पर पदार्थों में जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है ऐसा बहिरात्मा **स्वस्मात्**-अपने आत्म स्वरूप से **च्युतः**-भ्रष्ट हुआ **असंशयम्**-निःसन्देह **बध्नाति**-अपने को कर्म बन्धन से बद्ध करता है और **स्वस्मिन्न-हम्मतिः**-अपने आत्मा के स्वरूप में ही आत्म बुद्धि रखने वाला **बुधः**-अन्तरात्मा **परस्मात्**-शरीरादिक पर के सम्बन्ध से **च्युत्वा**-च्युत होकर **मुच्यते**-कर्म बन्धन से छूट जाता है।

जिसकी बुद्धि पर में आत्मस्वरूप हो गयी है वह कर्मों से बंध जाता है। उसे कौन रोक सकता है पर में गिर गया तो वह तो बंधेगा ही। जब तक बूरा अलग प्लेट में रखा है तब तक वह स्वतंत्र है उसके प्रत्येक कण अलग-अलग हैं और जब बूरे ने देखा मैं बूरे रूप नहीं हूँ घी रूप हूँ वह हवा के झोके से अर्थात् विभ्रम बुद्धि से गिरा और घी के साथ एक मेक हो गया। तो वह उसमें बंध गया ऐसे ही आत्मा जब अपनी आत्मा में लीन नहीं रहती है उससे च्युत हो जाती है, पुद्गल में गिर जाती है दूसरे को अपना मान लेती है तो उसके साथ बंध जाती है, कर्मों को बांधती है।

मैं ही आत्म स्वरूप हूँ, वह कर्मों को अपना मानता ही नहीं ऐसा आत्मा कर्मों के बंधन से छूट जाता है उसे कोई भी कर्म मिलकर भी बाँध नहीं सकते। अब जो व्यक्ति अपनी वस्तु को छोड़कर के पर वस्तु को पकड़ करके बैठ जाये और कहे मेरी है। सब समझा रहे हैं अरे छोड़ ये तेरी नहीं है अन्यथा दण्ड मिलेगा। वह नहीं माना किन्तु जब उसे दण्ड मिला तब उसे लगा, हाँ यह वस्तु मेरी नहीं है मैंने तो गलती की थी। जो व्यक्ति अपनी गलती स्वीकार कर पर वस्तु को छोड़ देता है वही कर्मों से च्युत हो पाता है। आचार्य भगवन् यही कह रहे हैं जो पर वस्तु को अपना मान लेता है वह कर्मों का बंध करता ही करता है। कर्मों की सेना उसे कारागार में डाल देती है उसे कष्ट ही कष्ट मिलता है। पर वस्तु से भ्रम हटाकर आत्मा में आत्मबुद्धि करके ज्ञानी पुरुष कर्मों से छूट जाता है। अज्ञानी पुरुष तो सदैव पर वस्तु पर ही दृष्टि रखता है वह कभी अपनी वस्तु प्राप्त करने की कोशिश नहीं करता है।

जैसे वर्तमान में व्यक्ति सोचता है कि बेईमानी से काम चले तो ठीक है, ईमानदारी से पेट भर सकता है किन्तु फिर भी बेईमानी करता है। ईमानदार तो यही कहता है मेरे भाग्य का मुझे मिलेगा ही मिलेगा उसे कोई छीन नहीं सकता ऐसे ही आत्मज्ञानी कहता है मेरी आत्मा में जो है वही मुझे प्राप्त करना है मुझे पर का चाहिये ही नहीं क्योंकि पर मेरा कभी हो नहीं सकता। आत्मज्ञानी जानता है मैं बेईमानी से कोई संग्रह कर नहीं सकता उसे प्राप्त कर भोग नहीं सकता

और ईमानदारी का है तो कहीं जा नहीं सकता। ये अज्ञानी और ज्ञानी व्यक्ति की प्रवृत्ति में अंतर होता है।

तो यहाँ आचार्य महाराज यही कह रहे हैं कि जिसकी शरीरादिक पर द्रव्य में ''यह मैं हूँ'' ऐसी आत्मबुद्धि होती है वह पर में ही उन्मुख होगा, पर में उन्मुख होने से आत्मस्वरूप की दृष्टि से च्युत हो जायेगा इसमें कोई संदेह नहीं है, किन्तु जैसे ही ज्ञान स्वरूप में ''यह मैं हूँ'' ऐसी दृढ़ अन्तरात्मतत्त्व बुद्धि जगती है वह स्व में ही उन्मुख होगा, पर से च्युत होगा और अन्त में सकलकर्म के बन्धन से मुक्त हो जायेगा। अतः आत्मस्वरूप में ही आत्मा की प्रतीति करो।

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्द वर्जितम्॥४४॥

अन्वयार्थ-मूढः-अज्ञानी बहिरात्मा **इदं दृश्यमानं**-इस दिखाई देने वाले शरीर को **त्रिलिंगं अवबुध्यते**-स्त्री-पुरुष-नपुंसक के भेद से यह आत्मतत्त्व त्रिलिंग रूप है ऐसा मानता है; किन्तु **अवबुद्धः**-आत्मज्ञानी अन्तरात्मा **इदं**-यह आत्मतत्त्व है-त्रिलिंग रूप आत्मतत्त्व नहीं है वह **निष्पन्नं**-अनादि संसिद्ध है तथा **शब्द वर्जितम्**-नामादिक विकल्पों से रहित है **इति**-ऐसा समझता है।

जो मूढ़ व्यक्ति है वह देखने के योग्य उस शरीरादि को आत्मा मानता है, वह मानता है यह पुरुषात्मा है, स्त्री आत्मा या नपुंसकात्मा है। सत्यता ये है कि आत्मा न पुरुष रूप होती है, न स्त्री रूप होती है न नपुंसक रूप होती है। स्त्री-पुरुष-नपुंसक ये शरीर के भेद हैं आत्मा में कहीं कोई भेद नहीं है सबकी आत्मा एक जैसी है। मूढ़ व्यक्ति मानता है एक इन्द्रिय आत्मा, दो इन्द्रियात्मा, तीन इन्द्रियात्मा, चार इन्द्रियात्मा, पाँच इन्द्रियात्मा, ये आत्मा के नहीं शरीर के भेद हैं।

मुख्यतः आत्मा में कोई भेद नहीं है किन्तु गतियों की अपेक्षा जो भेद है वह शरीर के गतभेद हैं। मूढ़ व्यक्ति यदि कहे ये ज्ञानी आत्मा या अज्ञानी आत्मा तो ये भी कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा भेद है मूलतः आत्मा में भेद नहीं हैं। अज्ञानी व्यक्ति जो भी मानता है वह शरीर के धर्मों से युक्त आत्मा को मानता है, जैसे शरीर के धर्म हैं वैसे ही आत्मा के धर्म हैं क्योंकि उस मूढ़ की दृष्टि से आत्मा नाम का अलग से कोई द्रव्य नहीं है। क्योंकि वह बहिरात्मा इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य पदार्थों को ही ग्रहण कर पाता है जो पदार्थ इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किये जा सकते उन्हें ग्रहण करने में वह असमर्थ होता है। अतीन्द्रिय चीज कुछ संसार में है वह इस बात पर विश्वास नहीं करता। अतीन्द्रिय पदार्थों पर विश्वास तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा ही कर सकता है। मूढ़ात्मा अमूर्त वस्तुओं को स्वीकार नहीं कर पाता। सम्यग्दृष्टि मानता है कि सर्वज्ञ देव ने जो कहा है वह यथार्थ ही कहा है ''नान्यथामुनि भाषणं'' केवली भगवान् के वचन, मुनिराज के वचन से

आशय प्रत्यक्षज्ञानी के वचन अन्यथा नहीं होते, इसलिये जो कहा है वह यथार्थ कहा है उसे सम्यग्दृष्टि तो स्वीकार कर लेता है पर मिथ्यादृष्टि स्वीकार नहीं करता।

जिसे शब्दों के द्वारा नहीं कहा जा सकता है ऐसी आत्मा जब श्रद्धान में निष्पन्न होती है अथवा उस आत्मा का ज्ञान उसे होता है उस समय नि:संदेह वह आत्मा को जानने में समर्थ होता है। जब तक वह आत्मा को शब्दों के माध्यम से जानने की चेष्टा करेगा, तब तक आत्मा को नहीं जान पायेगा। जब तक वह स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण उन पंचेन्द्रियों के द्वारा आत्मा को जानना चाहेगा तो नहीं जान पायेगा। इन पंचेन्द्रियों के द्वारा पुद्गलों का ही अनुभव होता है। सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में मूलत: इतना ही भेद है। उनके श्रद्धान में यही भेद है मिथ्यादृष्टि के पास आत्मा का ज्ञान इसलिये नहीं है कि वह इन्द्रिय के आगे नहीं पहुँच पाता, सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रिय के अलावा अन्य किसी से आत्मा का ज्ञान होता है, वह जानता है। मन भी इन्द्रिय की तरह साधन है आत्मा का ज्ञान तो आत्मा के द्वारा ही होता है। मिथ्यादृष्टि आत्मा को ही नहीं जान पाया तो आत्मा का ज्ञान कैसे होगा। इन्द्रियों के माध्यम से सीमित वस्तुओं का ज्ञान, सीमित काल के लिये होता है, सीमित दशाओं का ज्ञान होता है, सीमित पर्यायों का ज्ञान होता है, सीमित गुणों का ज्ञान होता है किन्तु आत्मा के द्वारा जो ज्ञान होता है वह नि:सीम होता है, अनंत होता है, निर्मल होता है, समस्त गुण पर्यायों का एक साथ होता है। इस बात को मिथ्यादृष्टि स्वीकार करता ही नहीं कि सर्वज्ञ नाम की कोई चीज भी होती है। यह सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि में मूलत: भेद है।

इस प्रकार आचार्य महाराज यहाँ कह रहे हैं कि इस संसारी प्राणी को दृश्यमान पदार्थ ही विदित हैं, इससे भिन्न मैं कुछ हूँ इसकी प्रतीति नहीं है अत: अपने अति निकटस्थ देह में यह मैं हूँ ऐसी बुद्धि करता है किन्तु यथार्थज्ञान प्रकाश में जगा हुआ ज्ञानी आत्मा अपने अनादिसिद्ध शब्दागोचर आत्मत्व को लक्ष्य में लेकर ''यह मैं हूँ'' ऐसा मानता है।

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रम संस्कारात् भ्रान्तिं भूयोऽपि गच्छति॥४५॥

अन्वयार्थ-अन्तरात्मा **आत्मन: तत्त्वं**-अपने आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप को **जानन् अपि**-जानता हुआ भी **विविक्तं भावयन् अपि**-और शरीरादिक अन्य पर पदार्थों से भिन्न अनुभव करता हुआ भी **पूर्वविभ्रमसंस्कारात्**-पहली बहिरात्मावस्था में होने वाले भ्रान्ति के संस्कारवश **भूयोऽपि**- पुनरपि **भ्रांतिं गच्छति**-भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है।

व्यक्ति जब अनादि से मिथ्यादृष्टि बनकर रहा है पुन: सम्यग्दृष्टि हो भी जाये तो वे संस्कार पुन: बार-बार निकलकर आते हैं कोई कैसेट जिसमें पहले से कुछ भरा हुआ था पुन: उसी के

ऊपर कोई गीत-भजन भर दिया तो जब सुना जाता है तब कदाचित् गेप भी पड़ता है तो पहले से भरे शब्द कर्णगोचर हो जाते हैं क्योंकि उस कैसेट को पहले क्लीयर नहीं किया था। तो पूर्व के संस्कार सहजता में नष्ट नहीं होते। कई बार जो व्यक्ति दुष्टों की संगति में रहा हो, फिर कहीं सत्संगति में पहुँच जाये तो कभी दुष्ट व्यक्ति मिल जायेगा तो पुनः वे संस्कार भी जाग्रत हो जायेंगे।

महानुभाव ! जो व्यक्ति जिन संस्कारों से चिरकाल तक रमा हुआ है उस व्यक्ति को जब कुछ क्षण के लिए दूसरे माहौल में ले जाते हैं तो वह उस माहौल में ज्यादा देर टिक नहीं पाता, या तो वह वहाँ से खड़ा होकर वहीं चला जाता है जहाँ के संस्कार हैं या मजबूरी में बैठना पड़े तो उन संस्कारों के बीच में ही रहता है। आचार्य महोदय कह रहे हैं-

यदि व्यक्ति कहीं पुरुषार्थ के माध्यम से आत्मा के स्वरूप को जान भी ले कि एकत्व विभक्त आत्मा ऐसी है वह साधु योगी बन गया रत्नत्रय से सहित भी हो गया, वैराग्य से भी युक्त है तपस्या कर रहा है फिर भी कदाचित् किसी ने कुछ कह दिया तो वह सोचता है तू क्या समझता है अपने आपको, मैं ऐसा वैसा व्यक्ति नहीं हूँ। वो तो मैंने दीक्षा ले ली यदि तलवार होती तो दो टुकड़े कर देता अभी। मैं तुझे क्षमा कर देता हूँ तू जा। क्षमा भी कर रहा है और तलवार की धमकी भी दे रहा है तो यह सब कौन बोल रहा है, यह वो नहीं बोल रहा उसके पूर्व के संस्कार बोल रहे हैं। वर्तमान में दूसरे कार्य में रत होते हुये भी पूर्व के संस्कार जाग्रत हो सकते हैं।

यहाँ आचार्य पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं कि पूर्व के संस्कारों से भी बचकर रहना है। जहाँ बैठकर पूर्व के संस्कार जाग्रत होते हैं वहाँ नहीं बैठना है, जहाँ बैठकर के नये-नये संस्कारों का बीजारोपण होता है वहाँ बैठना है। आचार्यों ने मुनिराज के लिये कहा है हे मुने ! तू साधर्मी बन्धुओं की संगति में रह। जिस क्षेत्र में यदि वीतरागी भगवान् नहीं है, उनको मानने वाले व्यक्ति नहीं हैं, यदि तेरी शुद्ध आहारचर्या नहीं हो सकती है, यदि धर्म को सुनने वाले नहीं हैं, आत्मकल्याण के इच्छुक नहीं हैं तो ऐसे क्षेत्र में मत जा। ऐसे क्षेत्र में रहना चाहिये जहाँ तेरे धर्म का पालन हो, जहाँ धर्म की संवृद्धि हो, वैराग्य की वृद्धि हो। यदि जहाँ भोगों की प्रचुर सामग्री है और तू उस बीच में रहेगा तो तेरा मन डवाडोल व चंचल होगा। निमित्त को देखकर परिणाम वैसे ही होते हैं। प्राकृतिक स्थान पर अपनी प्रकृति अपने स्वभाव का भान होता है। ये नदी पर्वत वृक्षादि तो परवश होकर यहाँ सहन कर रहे हैं किन्तु मैं तो स्ववश होकर यहाँ धर्म ध्यान करूँगा तो असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा करूँगा, ये सभी तो संक्लेशता से सहन तो कर रहे हैं किन्तु संक्लेशता से कर्म का बंध कर रहे हैं। बहते हुये झरने को देखकर के मन के विकल्प बह जाते हैं यदि व्यक्ति के मन में तनाव हो तो बाहर जाकर (घूमने) बहता हुआ पानी देखने से वह तनाव भी कम हो जाता है या हवा चल रही हो तो वे विकल्प शांत हो जायेंगे, या संगीत ध्वनि चल रही हो जिससे उसका

शरीर थिरकने लगे तो उसका विकल्प, तनाव दूर हो जाता है। किन्तु जो बंद कमरे में बैठकर घुट रहा है आँख, कान, मुँह सब बंद किये हुये अपने सिर को घुटनों के बीच में किये हुये बैठा है तो वही तनाव, वही कमरा, वही-वही बातें जहाँ हुयीं उन्हें देख-देख कर इष्टानिष्ट का विचार कर-कर तनाव बढ़ता है व विकल्प जाग्रत हो जाते हैं।

महानुभाव ! बात यह है कि पूर्व के संस्कार सहजता में जाते नहीं हैं, हमारी आत्मा में जो संसार के संस्कार पड़े हैं ये जब तक तप की अग्नि में न तपाये जायें, ज्ञान की धारा में खूब धोये न जायें फिर शुद्ध अग्नि में अग्निमय (ध्यान अग्नि में) हो जाये तब ये शुद्ध होता है। अन्यथा यहाँ तो बार-बार उन्हीं संस्कारों से समन्विष्ट हो जाता है वे संस्कार पुनः जाग्रत होते हैं पुनः वह व्यक्ति वैसा ही हो जाता है जैसे संस्कार होते हैं। वह ऊपर से नीचे गिर जाता है पुनः ऊपर चढ़ने के लिये बहुत परिश्रम करना पड़ता है। नीचे तो बस पैर फिसला और धड़ाम से गिर जाते हैं। मन फिसलने से संस्कार अतीत के आ सकते हैं ऐसा नहीं होता कि मन फिसले तो संस्कार अच्छे आयें। हाँ अच्छे संस्कार भी कई बार ऐसे जाग्रत होते हैं जिसने दीर्घकाल तक साधना की हो, पुनः मिथ्यात्व में चला गया हो उसके अच्छे संस्कार जाग्रत हो सकते हैं। भगवान् महावीर स्वामी का जीव जब मारीचि की पर्याय में था, उसके बाद वह च्युत हुआ और 363 मिथ्यामतों की स्थापना की। जब सिंह की पर्याय में मुनि ने संबोधन दिया तो वे संस्कार वहाँ के यहाँ जाग्रत हो गये। अरे! मैं हिंसा कर रहा हूँ जब संस्कार जाग्रत हुये तो पुनः वह साधना की ओर आगे बढ़ गया।

किन्हीं-किन्हीं को जाति स्मरण हो जाता है जाति स्मरण से अपने पूर्व के भव को जान लेता है, पूर्व में मैं साधक था, दीक्षा ली थी, तो ऐसे संस्कारों से भी आगे बढ़ जाता है। कई बार पूर्व संस्कारों के कारण जैसे किसी मुनि की समाधि बिगड़ गयी देव दुर्गति हो गयी, वह अपने स्थान पर आता है, देखता है अरे मेरे पिच्छी कमण्डल मैंने पूर्व में तपस्या की थी उन्हें देखकर के पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। इस तरह पूर्व को देखकर के संस्कार जाग्रत हो सकते हैं। पूर्व के किये हुये कार्यों का, प्रसंगों का जाग्रत हो जाना जातिस्मरण कहलाता है।

महानुभाव ! जब यह आत्मा आत्मतत्त्व को जान चुका फिर क्यों राग-द्वेष करता है और कभी-कभी तो ज्ञान से च्युत होकर मोह को, भ्रम को प्राप्त हो जाता है, ऐसा क्यों होता है ? इसका समाधान इस श्लोक में है-कि शारीरिक पर द्रव्यों से भिन्न आत्मस्वरूप को जानता हुआ भी, जो पुनः रागद्वेष को या भ्रम को प्राप्त होता है, उसका कारण बहिरात्मावस्था में शरीरादिक में जो आत्मतत्त्व का भ्रम किया था उससे चल रहा यह संस्कार कारण है। अतः आत्मार्थी पुरुष को चाहिये कि आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर भी इस आत्म स्वरूप की भावना का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये।

२७. राग-द्वेष दूर करने का उपाय

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥४६॥

अन्वयार्थ-अन्तरात्मा तब अपनी विचार परिणति को इस रूप करे कि **इदं दृश्यं**-यह जो दृष्टिगोचर होने वाला पदार्थ समूह है वह सबका सब **अचेतनं**-चेतना रहित-जड़ है और जो **चेतनं**-चैतन्यरूप आत्मसमूह है वह **अदृश्यं**-इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं पड़ता **ततः**-इसलिए **क्व रुष्यामि**-मैं किस पर तो क्रोध करूँ और **क्व तुष्यामि**-किस पर सन्तोष व्यक्त करूँ? **अतः अहं मध्यस्थः-भवामि**-ऐसी हालत में मैं तो अब राग द्वेष के परित्यागरूप मध्यस्थ भाव को धारण करता हूँ।

जो दृश्यमान पदार्थ हैं वे अचेतन हैं। शरीरादि से पृथक अन्य पौद्गलिक पदार्थ जिनका भोग-उपभोग किया जाता है, वे पदार्थ चाहे मकान हैं, वस्त्र-आभूषण वाहन आदि जो कुछ भी हैं ये सभी पदार्थ अचेतन रूप हैं। किन्तु जो चेतना है वह अदृश्यमान है। दो बात हो गयीं जो पदार्थ देखने में आ रहे हैं वे तो अचेतन हैं वह मैं नहीं हूँ और मेरी जाति रूप नहीं है। और जो देखने में नहीं आ रहे वह मैं हूँ और मेरी जाति रूप है। किन्तु मैं और मेरी जाति रूप देखने में नहीं आ रहे उसका परिचय नहीं हो पा रहा है।

तो यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं **क्व रुष्यामि**-मैं किसे देखकर के तो रुष्ट होऊँ **क्व तुष्यामि**-और किसे देखकर के संतुष्ट होऊँ। पुद्गल तो मेरी जाति से अलग है। देखो-रूठना और संतुष्ट होना अपनों से होता है। अपना हो तब तो ठीक है जैसे गृहस्थी में पिता जी बेटे पर नाराज होते हैं उसे डॉटते हैं यदि वही बेटा उनके मनोनुकूल कार्य कर देता है तो पिताजी उससे संतुष्ट होते हैं पुरस्कार भी देते हैं। किन्तु आचार्य महोदय कह रहे हैं कि संतुष्टि और असंतुष्टि, राजी-नाराजी किसके प्रति दिखायें, खुशी-नाखुशी किसके प्रति दिखायें ये तो पर-जाति वाले हैं। पर-जाति वाला अच्छा हो या बुरा उससे तो हमें कुछ लेना देना नहीं है। यदि पड़ौसी का बेटा बुरा काम कर रहा है तब भी तुम्हें गुस्सा नहीं आ रहा, अच्छा काम कर रहा है तो आप उसे पुरस्कार देने नहीं आ रहे क्योंकि आपने जान लिया है वह पड़ौसी का बेटा है तुम्हारा नहीं। यहाँ यह कहना चाहते हैं कि हम आत्मा हैं और हमारी जाति आत्म द्रव्य है, किन्तु वह आत्म द्रव्य देखने में नहीं आ रहा जब देखने में आये तब उससे रुष्ट हो जाओ, उससे संतुष्ट हो जाओ, जब वो देखने में ही नहीं आ रहा तो उसका क्या करें ? अपनी चीज जब देखने में आती है तभी व्यक्ति उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करता है उसका संरक्षण व संवर्धन कर सकता है किन्तु अपनी चीज तो देखने में आ ही नहीं रही।

बाहर के पर पदार्थों का अवलोकन करने से, संरक्षण व संवर्धन करने से उनके प्रति आसक्त होने से, उनसे तुष्ट या संतुष्ट होने से क्या लाभ हो रहा है यह तो अलग चेष्टा हुयी, किन्तु जो अन्तरात्मा होता है वह पर पदार्थों को पर जानकर के उनके प्रति तटस्थ हो जाता है मध्यस्थ हो जाता है।

यहाँ इतना ही कह रहे हैं मैं चेतन हूँ जो कि अदृश्य हूँ, परपदार्थ जो देखने में आ रहे हैं वे अचेतन हैं, उन पदार्थों का मैं सेवन करता हूँ संग्रह करता हूँ, किंतु ये मेरी नादानी है जो पदार्थ मेरे हैं ही नहीं उनको लेकर क्या संतुष्ट होना और देकर के क्या असंतुष्ट होना, कोई मुझसे छीन ले तो मेरा क्या, जब वह मेरा है ही नहीं और किसी ने दे दिया तो क्या संतुष्ट होना क्योंकि न वो मेरा है न हो सकता है। इस प्रकार की भावना उस अन्तरात्मा के मन में आती है जो यह सोचता है जो हो रहा है सो होने दो सब द्रव्य स्वतंत्र हैं, सबका परिणमन स्वतंत्र है मैं इन्हें देखकर के राग-द्वेष क्यों करूँ।

यदि बेटे ने कोई काम बिगाड़ दिया तो बेटे पर पिता को गुस्सा आयेगा किन्तु उस समय वह सोचे बेटा अलग है-मैं अलग हूँ उसकी आत्मा मुझे दिखाई नहीं दे रही, मेरी उसको दिखाई नहीं दे रही। उसका क्षयोपशम अलग है कितना घटा-या बढ़ा, उसने जो कुछ कार्य किया वह अपनी बुद्धि से किया। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से उसकी बुद्धि ऐसी हो गयी। तो पिता ऐसा सोचेगा तो आत्मा में संतोष भाव धारण कर सकता है यदि क्रोध करेगा कि ऐसा क्यों कर दिया तो वह अपनी संक्लेशता बनायेगा। आचार्य महोदय कह रहे हैं क्यों संक्लेश परिणाम करते हो, क्यों स्वयं को खराब करते हो ऐसा न करो। यदि बाहर में कुछ चीज बिगड़ रही है, खराब हो रही है तो आत्मा के परिणाम क्यों खराब करते हो तुम तो तुम हो।

यदि किसी टोकरी में आम रखे हुये हैं अभी वे स्वच्छ हैं, शुद्ध हैं, भक्षण करने के योग्य हैं किन्तु वे आम दूसरी टोकरी में रखे हुये सेबों को देखकर के सड़ने लगें तो ये तो आमों की मूर्खता है। उसका उससे जब कोई संबंध ही नहीं है।

इसी तरह अपना स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भाव स्व के साथ है। पर का चतुष्टय पर के साथ है। कोई भी एक दूसरे के चतुष्टय को ले नहीं सकता। पर कभी मेरा नहीं हो सकता और मैं कभी पर स्वरूप नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ आचार्य महाराज बता रहे हैं कि यह आत्म संतोष की वृत्ति है, ये पर-पदार्थों से विरक्ति का मार्ग है, ये मध्यस्थ रहने का मार्ग है।

अतः **अहं मध्यस्थः भवामि**-मैं तो मध्यस्थ होता हूँ, यह दृश्यमान सब अचेतन हैं, चेतन अदृश्य है इस कारण मैं किसमें रोष करूँ किसमें संतोष करूँ इसी कारण मैं तो मध्यस्थ होता हूँ।

तात्पर्य यह है कि पुनः उत्पन्न हुये भ्रम को या राग-द्वेष को कैसे दूर किया जाये इसका उपाय रूप विचार इस श्लोक में बताया है कि इन्द्रियों से दिखने वाला यह शरीरादि तो अचेतन है वह

तो कुछ समझता नहीं और जो पदार्थ समझने वाले हैं यानि चेतन हैं वे अदृश्य हैं वे रोष-तोष के विषय हो नहीं सकते। अब मैं किस पर रोष (द्वेष) करूँ किस पर तोष (राग) करूँ। क्योंकि रोष-तोष का विषयभूत कोई हो ही नहीं सकता। इस कारण मैं तो मध्यस्थ होता हूँ। ऐसे भाव से रागद्वेष, भ्रम सब दूर हो जाते हैं।

आगे इसी बात को पुष्ट करते हैं-

त्यागादाने वहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरूपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः॥४७॥

अन्वयार्थ-मूढः-मूर्ख बहिरात्मा **बहिः**-बाह्य पदार्थों का **त्यागादाने करोति**-त्याग और ग्रहण करता है अर्थात् द्वेष उदय से जिनको अनिष्ट समझता है उनको छोड़ देता है और राग के उदय से जिन्हें इष्ट समझता है उनको ग्रहण कर लेता है तथा **आत्मवित्**-आत्मा के स्वरूप का ज्ञाता अन्तरात्मा **अध्यात्मं त्यागादाने करोति**-अन्तरंग राग-द्वेष का त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप निज भावों का ग्रहण करता है। परन्तु **निष्ठतात्मनः**-शुद्ध स्वरूप में स्थित जो कृतकृत्य परमात्मा है उसके **अन्तः बहि**-अंतरंग और बहिरंग किसी भी पदार्थ का **न त्यागः**-न तो त्याग होता है और **न उपादानं**-न ग्रहण होता है।

आदान-कहते हैं आदान निक्षेपण समिति, आप कहते हैं आदान-प्रदान आदान अर्थात् दान को ग्रहण करना, प्रदान अर्थात् देना। या आदान निक्षेपण तो आदान यानि ग्रहण करना निक्षेपण यानि छोड़ना। यहाँ दिया **त्यागादाने**-त्याग अर्थात् छोड़ना, आदान-ग्रहण करना, जो बहिरात्मा व्यक्ति है वह बाह्य पदार्थों का त्याग करता है और वह मूढ़ व्यक्ति बाह्य वस्तुओं को ग्रहण भी करता है क्योंकि उसका अंतरंग में परिचय नहीं हो पाया। आत्मा के साथ लगे क्रोधादि भाव, रागद्वेष मोह के भावों के साथ कर्म का तीव्र बंध हो रहा है। मिथ्यात्वादि के माध्यम से आश्रव हो रहा है उन्हें वह जानता नहीं है इसलिये वह बाहर की वस्तु का त्याग करता है।

मैं तुमसे नहीं बोलूँगा, तू ऐसा है तो नहीं बोलूँगा यह माध्यस्थ भाव नहीं हुआ द्वेष भाव हो गया। या मैं तेरे पास ही रहूँगा तू बहुत अच्छा है यह राग भाव हो गया अथवा अमुक-अमुक वस्तुओं का त्याग करता हूँ। तो आचार्य महाराज कह रहे हैं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करने के उपरांत अब बाहर की वस्तुओं का व्यापार कहाँ रहा ? अब तेरी वस्तु है क्या जिसका तू त्याग करना चाहता है ? अरे ! तू तो आत्मा है ये सब तो संसार के पौद्गलिक पदार्थ हैं, जब तक तू संसार में नहीं जन्मा था, तेरा जन्म मनुष्य पर्याय में नहीं हुआ था तब भी ये पदार्थ थे, आज तू है तब भी ये पदार्थ हैं, कल जब तू चला जायेगा तब भी ये पदार्थ रहेंगे इन पदार्थों का ग्रहण करके या त्याग करके तू अहंकार का पोषण कर रहा है। ग्रहण करके कह रहा है देखो मेरे पास इतने

मकान, इतने दुकान, इतनी फ्रैक्ट्री, मेरे पास इतना वैभव है नौकर चाकर हैं और त्याग कर दिया तब भी अहंकार का पोषण कर रहा है मैंने ऐसा त्याग कर दिया-वैसा त्याग कर दिया। जब वह तेरी चीज है ही नहीं तो काहे का त्याग, काहे का ग्रहण और काहे का अहंकार।

एक शराबी व्यक्ति चौराहे पर खड़ा था, सामने से बस आ रही थी वह बस को देखकर चिल्लाता है ओहो मेरी बस आ गयी-मेरी बस आ गयी, बस दो मिनट रुकी पुनः आगे चली गयी तो वह रोने लगा अरे मेरी बस चली गयी। उसे समझाया अरे ! ऐसी बसें तो इस चौराहे से सैकड़ों निकलती हैं ये तेरी बस नहीं है। तूने इसे अपनी मान लिया है तेरे पास तो एक टूटी साइकिल भी नहीं है। ऐसे ही हम संसारी प्राणी बाह्य वस्तुओं के लिये कहते हैं कि मेरी है किन्तु वास्तव में वे वस्तुयें क्या तुमसे कहती हैं कि मैं तुम्हारी हूँ ? क्या कभी तुम्हारे पैसों ने, वस्त्रों ने, आभूषणों ने तुमसे कहा वे तुम्हारे हैं ? जब वे वस्तुयें खो जाती हैं तो तुम आकुल-व्याकुल होते हो क्या कभी तुम्हारे अभाव में वे वस्तुयें भी आकुल-व्याकुल होती हैं ?

महानुभाव ! ऐसा नहीं होता है। मिथ्यादृष्टि जीव ही बाह्य पदार्थों को अपना व पराया मानता है और उनका त्याग कर संतुष्ट हो जाता है, किन्तु वह अंतरंग में प्रवेश नहीं करता, बाहर के व्यापार में लगा रहता है। जो अंदर में है उसे देखता नहीं बस बाहर में लगा रहता है अर्थात् आत्मा के लिये क्या हेय है क्या उपादेय है, उसे ग्रहण व त्याग करने का भाव तो आता नहीं जो पदार्थ आत्मा के लिये अनिष्टकारक हैं उनका तो त्याग करता नहीं है किन्तु जो बाह्य वस्तुयें हैं उनको उठाकर यहाँ से वहाँ करता रहता है। इसमें भी संक्लेशता पैदा करता रहता है। यह काम सम्यग्दृष्टि भी करता है किन्तु उसके माध्यम से वह विशुद्धि का संवर्धन करता है संक्लेशता नहीं बनाता। आध्यात्म योगी के लिये उसके शुभ परिणाम ही उसकी निधि हैं, उसका प्रोफिट है किन्तु भक्त के लिये उसकी भक्ति ही बड़ी है क्योंकि उसकी विशुद्धि उससे ही बढ़ती है। मिथ्यादृष्टि यदि पूजा भी करेगा तो कहेगा भगवान् की पूजा करके आया तो इतने चावल और खर्च हो गये।

मिथ्यादृष्टि किसी भी वस्तु के ग्रहण करने से व त्याग करने से संक्लेशता बनाता है सम्यग्दृष्टि किसी वस्तु के ग्रहण व त्याग करने से विशुद्धि बढ़ाता है किन्तु योगी क्या करता है तो बता रहे हैं-

जिसने अपनी आत्मा को आत्मा सिद्ध कर दिया है वह अन्तरंग और बहिरंग वस्तु का न त्याग करता है न किसी वस्तु को ग्रहण करता है। वह कहता है मैं क्या ग्रहण कर सकता हूँ क्या छोड़ सकता हूँ मेरी आत्मा में जितने प्रदेश हैं उतने ही रहेंगे एक भी बढ़ा नहीं सकता, एक भी घटा नहीं सकता। जो बाह्य वस्तुयें हैं वे तो बाह्य हैं ही उसे तो अपना मानना ही नहीं है वे तो आत्मा के स्वभाव से पृथक हैं उनको मैं ग्रहण नहीं कर सकता। तो इन बाह्य वस्तुओं को छोड़कर या ग्रहण कर अहंकार क्यों करूँ, अपनी संक्लेशता क्यों बनाऊँ।

कोई मुनीम संक्लेशता क्यों बनायेगा जब व्यापार उसका नहीं सेठ जी का है उसे अपने वेतन के अलावा एक रुपया भी ज्यादा मिलने वाला नहीं है इसलिये सेठ के लाभ से खुश नहीं होता, सेठ के घाटे से दु:खी नहीं होता, उसे बंधी पगार से मतलब है। इसी प्रकार से हमें भी शरीर को उतना ही देना है जितना उसको मिलना है, शरीर की वृद्धि से, शरीर की हानि से पुद्गल की वृद्धि हानि से आत्मा को क्या लेना। पुद्गल के वैभव से आत्मा क्यों खुश होता है, पुद्गल के वैभव में कमी होने पर आत्मा दु:खी क्यों होता है अरे पुद्गल का वैभव अलग है, आत्मा का वैभव अलग है। आत्मा-आत्मा के गुणों से संबद्ध हो तो आनंद का अनुभव करे, आत्मा में आत्मा के गुण यदि ह्रासमान अवस्था को प्राप्त होते हैं तो वह दु:ख का अनुभव करे किन्तु आत्मा कभी आत्मा को जानता ही नहीं है इसलिये पुद्गल के व्यापार में मस्त हो जाता है।

महानुभाव ! हमारी आत्मा पुद्गल की वृद्धि से संतुष्ट और उसके ह्रास से असंतुष्ट हो जाती है। वह आत्मा के स्वभाव को नहीं जान पाता। जो आत्मा आत्मा में लीन हो गया है ऐसा आध्यात्मवित् न उनका ग्रहण कर सकता है न त्याग। वही सच्चा आत्मवित् है वह अन्तरात्मा रागद्वेषादि विभावों का व अन्तर्जल्पादि विकल्पों का त्याग करता है तथा ज्ञान भाव को स्वीकार करता है। कृतकृत्य आत्माओं के अन्तर्बाह्य कहीं भी न त्याग है न ग्रहण।

युञ्जीत मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम्॥४८॥

अन्वयार्थ-आत्मानं-आत्मा को **मनसा**-मन के साथ **युञ्जीत**-संयोजित करें-चित्त और आत्मा का अभेद रूप से अध्यवसाय करें **वाक्कायाभ्यां**-वचन और काय से **वियोजयेत्**-अलग करें उन्हें आत्मा न समझे **तु**-और **वाक्काययोजितम्**-वचन-काय से किये हुए **व्यवहारं**-व्यवहार को **मनसा**-मन से **त्यजेत्**-छोड़ देवें-उसमें चित्त को न लगावें।

यहाँ कह रहे हैं-जो वचनों का व्यापार है और शरीर का व्यापार है, तन-वचन की सभी चेष्टायें पहले छोड़ें और फिर मन के माध्यम से आत्मा का चिंतन करें। आत्मा को मन से जोड़ें न कि शरीर से। क्योंकि जो बहिरात्मा होता है वह तो शरीर को आत्मा मानता है तो शरीर से आत्मा को जोड़ता है। वह सोचता है शरीर से की गयी क्रियाओं से आत्मा का संवर्धन हो रहा है, शरीर का ह्रास हो रहा है तो आत्मा का ह्रास हो रहा है, वह वचनों को भी आत्मा मानता है। किन्तु शरीर और वचनों से आत्मा को पहले अलग करें कि मैं तन भी नहीं हूँ वचन भी नहीं हूँ। अब क्या बचा मन। तो मन के द्वारा आत्मा को खोजना पड़ेगा क्योंकि सीधी आत्मा आत्मा की पकड़ में नहीं आती है। किन्तु आप एकान्त मैं बैठकर चिन्तवन कर रहे हैं मन के द्वारा कि आत्मा कैसी है? आत्मा इन्द्रियों के अगोचर है, वह चैतन्यद्रव्य है जब चैतन्य द्रव्य में कर्मों का बंध हो

जाता है तो उन कर्मों का बंध आत्मा को भोगना पड़ता है। उन कर्मों के ही कारण वह आत्मा नाना शरीरों को, पर्यायों को प्राप्त करती है। मन से इस आत्मा का चिन्तवन करना कि ये आत्मा चतुर्गति में भ्रमण करती है क्योंकि वह जानता है ये शरीर तो यहीं छूट जाता है, शरीर से बोले वचन भी छूट जाते हैं। यूँ तो मन भी शरीर के साथ है पर बाहर में दिखाई नहीं दे रहा अंतरंग में उसमें क्षयोपशम है।

इन्द्रियाँ बाहर से दिखाई देती हैं किन्तु उनका क्षयोपशम अंतरंग में होता है। ऐसे ही मन एक स्थान है जिसमें चिन्तवन करने की सामर्थ्य है। द्रव्य मन होता है फिर भावमन होता है, भावमन क्षयोपशम होता है। तो मन के द्वारा पहले आत्मा को शरीर से व वचनों से पृथक करें। फिर मन के द्वारा आत्मा को संयोजित करें आत्मा को जोड़ें उसका चिंतवन करें, फिर आत्मा के व्यापार में लगें। मेरे आत्मा का व्यापार क्या है। अभी तो वह मन के माध्यम से कर रहा है यद्यपि जब वह और आगे बढ़ेगा तो मन का व्यापार भी बंद हो जायेगा। आत्मा-आत्मा में लीन हो सकता है। यहाँ आचार्य महाराज बता रहे हैं कि आत्मा को अपने से पृथक करने का एक यही साधन है, एक पद्धति है। इस प्रकार आगे बढ़ोगे तो आत्मा तक पहुँचने में समर्थ हो सकोगे।

महानुभाव ! तात्पर्य यही है-वचन और काय तो जड़रूप ही हैं, मन (भावमन) चेतन का एक परिणमन है सो उस मानसज्ञान से आत्मा को जोड़ें किन्तु वचन और शरीर से तो आत्मा बिल्कुल ही पृथक समझ लें। फिर वचन व काय से सम्पादित किये हुये व्यवहार को भी मन के साथ बिल्कुल छोड़ दें अर्थात् मन वचन काय के सब परिणमनों से उपेक्षा करके ज्ञानानंदमय आत्म स्वरूप का ही अनुभव करें।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्य रम्यमेव वा।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः॥४९॥

अन्वयार्थ-देहात्मदृष्टीनां-शरीर में आत्म दृष्टि रखने वाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओं को **जगत्**-यह स्त्री-पुत्र मित्रादि का समूह रूप संसार **विश्वास्यं**-विश्वास के योग्य **च**-और **रम्यं एव**-रमणीय ही मालूम पड़ता है। परन्तु **स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीनां**-अपने आत्मा में ही आत्मदृष्टि रखने वाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओं को **क्व विश्वासः**-इन स्त्री-पुत्रादि पर पदार्थों में कहाँ विश्वास हो सकता है **वा**-और **क्व रतिः**-कहाँ आसक्ति हो सकती है? कहीं भी नहीं।

जिसकी शरीर से आत्म दृष्टि हो गयी है ऐसा ये संसार इस शरीर को ही विश्वास के योग्य मानता है, इस शरीर को ही रमण करने के योग्य मानता है। क्योंकि उसने शरीर से रहित आत्मा नाम की कोई वस्तु जानी नहीं। जब जो शरीर से रहित आत्मा के अस्तित्व को जानता ही नहीं है वह शरीर से रहित आत्मा पर विश्वास कैसे करेगा। जिसने जीवन में जिसे जाना है, जिसे अनुभव किया है उसे उसी अनुरूप मानता है।

कोई व्यक्ति कहता है तिल की खली बहुत मीठी होती है। इस बात को वही कहता है जिसने जीवन में तिल की खली खाई हो गुड़ नहीं खाया हो। जिसने गुड़ खाया है वह कहता है खली में क्या स्वाद जो गुड़ शक्कर या मिश्री में है। जिसने जीवन में जिस वस्तु का अनुभव किया है, जाना है, माना है उसके प्रति ही विश्वास हो पाता है। ऐसे ही संसारी प्राणियों को देह के बारे में विश्वास हो गया कि देह ही आत्मा है इसलिये देह पर ही विश्वास करता है और कहता है देह ही रमण करने के योग्य है। आत्मा रमण करने योग्य कोई चीज है, आत्मा नाम की वस्तु कोई संसार में है इस बात को जानता ही नहीं। जिसे जानता है उसे ही मानता है।

महानुभाव ! जिसने जिस चीज को जाना उससे बड़ी कोई चीज नहीं है। जिसने जंगल पहाड़, समुद्र जो कुछ भी देखा उसे उससे बड़ा कुछ नहीं दिखा। जिसकी पहुँच जहाँ तक है वहीं तक वह जानता है वहीं तक वह मानता है, जिसकी जहाँ पहुँच है ही नहीं उस बात को वह जानता भी नहीं है, मानता भी नहीं है। अनादिकाल से इस संसारी प्राणी ने इस शरीर को ही जाना है, शरीर को ही विश्वास के योग्य मानता है। मेरा शरीर स्वस्थ है तो मैं स्वस्थ हूँ, शरीर मेरा रोगी हो गया तो मैं रोगी हो गया, यह शरीर ही रमण व भोगने योग्य है, यह शरीर जितना अच्छा होगा उतना ही मैं भोग भोग सकता हूँ, जब शरीर मेरा अस्वस्थ हो गया तो मैं क्या कर पाऊँगा। वह सोचता है जब तक शरीर है वृद्ध न हो, रोगी न हो, हृष्ट पुष्ट रहें। वह शरीर को ही सब कुछ मान लेता है, वह सोचता है आगे भव में भी मुझे शरीर अच्छा मिले, शरीर का सुख भोगूँ किन्तु जो सम्यग्दृष्टि होता है वह क्या करता है।

स्वात्मनि एवं आत्म दृष्टीनां-जिसकी अपनी आत्मा में ही आत्मदृष्टि है ऐसा व्यक्ति संसार के पदार्थों में कहाँ विश्वास करता है और कहाँ रति या स्नेह करता है। जब तक उसने आत्मा को नहीं जाना, अपनी आत्मा में अपनी आत्मा का अनुभव नहीं किया है ऐसा व्यक्ति पर पदार्थों में ही विश्वास करता है, पर पदार्थों में रति करता है। किन्तु जिसने आत्मा में आत्मा को देख लिया है ऐसे व्यक्तियों के लिये भव्यप्राणियों के लिये "क्वविश्वासः" संसार में क्या विश्वास करने योग्य बचता है, 'क्व रतिः' राग करने के लिये क्या बचता है।

संसार में कोई वस्तु न राग करने के लिये है न द्वेष करने के लिये है। विश्वास उस पर करो जो शाश्वत रहे, रति रमण उसमें करो जो शाश्वत रहे। जो नश्वर है, क्षण भंगुर है ऐसी काया पर विश्वास कौन करेगा ? मूर्ख, किन्तु ज्ञानी प्राणी विश्वास नहीं करेगा। वह कहता है मेरी आत्मा ही आत्मा है बाकी सब व्यर्थ है पर है। पर पदार्थ न विश्वास के योग्य हैं न रति करने के योग्य हैं। इसका तो केवल सदुपयोग कर लो। यह उपयोग करने योग्य है विश्वास के योग्य नहीं है। जैसे लक्ष्मी (धन) भरोसेमंद नहीं है यह तो उपयोग करने योग्य है इससे तो अपना काम चलाओ। या तो तुम छोड़ देना नहीं तो ये छूट जायेगी किन्तु धर्म विश्वास करने के योग्य है इससे ऐसा नहीं

कि काम चला लो यह काम चलाऊ चीज नहीं है यह तो शाश्वत चीज है, विश्वास करने योग्य व धारण करने योग्य है, पालन करने के योग्य है। जो व्यक्ति धन पर विश्वास करते हैं वे उसका ही संग्रह करते हैं उसी में रमण करते हैं किन्तु जो धन के अलावा धर्म पर विश्वास करते हैं वे उसी में रमण करते हैं। वह धर्म आत्मा में रहता है।

जे भव्वा जिणदेवं, गो-आसणेण णमंति तिक्काले।
लहिच्चु पूय-पसंसं, तिलोयणाहो ते होंति खलु॥१०२॥

अर्थ-जो भव्य जीव तीनों काल में जिनेन्द्रदेव को गौ आसन से नमस्कार करते हैं वे पूजा प्रशंसा को प्राप्तकर निश्चय से तीन लोक के नाथ होते हैं।

-जिनवर स्तोत्र
आचार्य श्री वसुनंदी मुनि

२८. सम्यक् धारणा

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः॥५०॥

अन्वयार्थ-अन्तरात्मा को चाहिए कि वह **आत्मज्ञानात्परं**-आत्मज्ञान से भिन्न दूसरे **कार्यं**-कार्य को **चिरं**-अधिक समय तक **बुद्धौ**-अपनी बुद्धि में **न धारयेत्**-धारण नहीं करे। यदि **अर्थवशात्**-स्व-पर के उपकारादिरूप प्रयोजन के वश **वाक्कायाभ्यां**-वचन और काय से **किंचित् कुर्यात्**-कुछ करना ही पड़े तो उसे **अतत्परः**-अनासक्त होकर **कुर्यात्**-करे।

पिछले श्लोक में देखा था कि संसार तो देह में आत्मबुद्धि मानकर के उसमें विश्वास करता है रति करता है किन्तु जिसकी दृष्टि आत्मा में आत्म रूप हुयी है वह कहता है कहाँ विश्वास करूँ कहाँ रति करूँ ? तो ऐसा व्यक्ति आत्मज्ञान होने से अन्य कार्य को अपनी बुद्धि में चिरकाल तक धारण नहीं करता। मन में विचार आया तत्काल से उसे निकाल दिया धारणा ही नहीं बनी। यदि वह धारणा आत्मा की पोषक है तब तो ठीक है नहीं तो तुरंत ही उसे अलग कर दिया। चिरकाल तक नहीं रखता। जैसे किसी व्यक्ति का पैर अग्नि पर पड़ जाये तो चिरकाल तक अग्नि पर अपने पैर को रहने नहीं देता तुरंत ही पैर उठा लेगा ऐसे ही मन में कोई बुरा ख्याल आये, जो ख्याल शरीर को आत्म रूप मानने वाला हो या शरीर के पोषण का हो तो ऐसे ख्याल को वह तुरंत ही निकाल देता है चिरकाल तक उन संस्कारों का, विचारों का पोषण नहीं करता। दूसरी बात-

कुर्यात् अर्थ वशात्किंचित्-यदि कभी अर्थ के वशीभूत होकर के किंचित् भी करता है तो वचन से और शरीर से करता है मन में धारणा नहीं बनाता। यदि शरीर से वचनों से किसी पुद्गल पदार्थ का सेवन करना पड़े, कहना पड़े तो कहता है शरीर के साथ उसका उपयोग करता है चाहे भोजन कर रहा है या अन्य कार्य। वह शरीर से कर रहा है मन में तो वह ये बात जानता है कि ये पौद्गलिक पदार्थ मेरे आत्म स्वरूप नहीं हैं। यदि ऐसा कोई ख्याल आ जाये कि शरीर के प्रति आत्मभाव बनता है तो वह तत्काल ही उस विचार को निकालकर अलग कर देता है। कौन ? जिसकी आत्मा में आत्म दृष्टि हुयी है।

वह कहता है ठहरो मत, जाओ। मुझे अच्छे विचार चाहिये बुरे नहीं। जिससे आत्मा में धर्मध्यान की वृद्धि होती रहे। आपकी भाषा में कहें कि यदि पाँच पाप संबंधित, पंचेन्द्रिय विषयों संबंधित, कषाय भाव संबंधित विचार आते हैं तो उन सबको निकाल कर बाहर करो। धर्म में लग जाओ।

धर्म का आलम्बन लेते रहो, मन को इतना पक्का बना लो कि विषयों में रमना अच्छा नहीं है। किसी भी असद् कार्य को बुरी आदत या व्यसन को धारणा मत बनाओ। जैसे कोई रात्रि भोजन करता है तो ये धारणा में बनाकर मत रखो कि क्या करें, रात्रि भोजन छूटता नहीं है और करना ही चाहिये आज पंचम काल है कौन छोड़ सकता है यदि व्यक्ति रात में भोजन न करेगा तो भूखा ही मर जायेगा, तो ऐसी धारणा मत बनाओ, धारणा ये बनाओ कि रात्रि भोजन करना ही नहीं चाहिये। मैं कितना निकृष्ट, पापी, अधम जीव हूँ जो रात्रि भोजन नहीं छोड़ पा रहा।

महानुभाव ! चाहे कोई भी बुरी आदत हो, उसको वह जान ले कि ये ठीक नहीं है, जब वह जान लेगा कि ये ठीक नहीं है तो वह बच जायेगा और धारणा में आ गया जैसे विद्वान् लोग कहते हैं रात्रि भोजन त्याग के विषय में-देखो भईया रात्रि भोजन का पूर्ण त्याग तो हो नहीं पायेगा कभी-कभी आवश्यकता पड़ती है तो जाना पड़ता है, तो कह देते हैं अन्न का त्याग कर दो अन्न न खाओ फल खा लो, उसमें कोई दोष नहीं है, तो ये बात कहने से व्यक्ति की धारणा उल्टी बन गयी। वह छोड़ पाये या न छोड़ पाये ये अलग बात है किन्तु कहना यही चाहिये कि रात्रि में चारों प्रकार का आहार सेवन नहीं करना चाहिये। तुम अपनी शक्ति को जाग्रत करो, उसकी धारणा पक्की बनाओ, यह असंभव नहीं है आज भी समाज में 5 प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जो रात में पानी भी नहीं पीते। तुम्हें भी ऐसा ही होना चाहिये।

महानुभाव ! धारणा यही बनाओ मुझे जो कुछ करना है अच्छा-अच्छा करना है व सही-सही करना है। धारणा ही उल्टी बन जायेगी तो अनुकूलता में भी प्रतिकूलता नजर आयेगी। कोई भी कार्य असंभव नहीं, नियम लेने से घबराते क्यों हो, नियम में परीक्षा तो होती है किन्तु दृढ़ता होने पर, पुण्य का उदय होने पर स्वर्ग के देवता भी तुम्हें वह वस्तु लाकर देंगे। तुम यदि नियम में कच्चे पड़ गये तो घर में रखी वस्तु भी तुम्हें प्राप्त न हो पायेगी। इसीलिये अपने व्रत, नियम, संयम संकल्प में, धर्म में पक्के रहना है। धारणा सही बनाओ। कदाचित् तुम किसी नियम का पालन नहीं कर पा रहे आज नहीं कर पा रहे, भावना भाते रहो भविष्य में नियम से कर पाओगे। अपने मन की लालसा को कम करो, इससे धारणा उल्टी बनती है।

एक सेठ जी थे उन्होंने डालडा का त्याग कर दिया, यह बात सेठ जी के नौकर को ज्ञात हो गयी कि सेठ जी ने आजीवन डालडा का त्याग कर दिया, नौकर ने भी चुपचाप त्याग कर दिया, मुझे सेठ जी के साथ सब जगह जाना है जब सेठ जी नहीं खायेंगे तो मैं क्यों खाऊँगा। संयोग की बात एक दिन सेठ जी अपने परम मित्र के यहाँ गये, उसके यहाँ जितना सामान बना था सभी व्यंजन डालडा का ही बना था, सेठ जी जल्दी में थे इसलिये तत्काल में कुछ और बन नहीं सकता था। सेठ जी से पूछा-सेठ जी आपका कोई त्याग वगैरह तो नहीं है वे बोले नहीं-नहीं मेरा कोई

त्याग नहीं है। सेठ जी हमने सुना है कि आपका डालडा घी का त्याग है। वे बोले नहीं-नहीं वो त्याग का नियम तो मेरा पूरा हो गया। सेठ जी ने पूरा भोजन कर लिया। सेठ जी का नौकर यह सब देख-सुन रहा था। सेठ जी ने अपने भोजन के बाद उससे पूछा-तुम्हारा भोजन हो गया ? वह बोला नहीं सेठ जी मैं तो घर जाकर ही भोजन करूँगा। पूछा-बात क्या है? अन्य लोगों को भी मालूम पड़ा कि सेठ जी के नौकर ने भोजन नहीं किया है। सेवक ने कहा-सही बात तो ये है कि मेरा डालडा का त्याग है। एक महिला खड़ी थी वह बोली बेटा चिन्ता क्यों करता है मेरे घर चल मेरे घर शुद्ध घी की रसोई बनी रखी है तू आराम से भोजन करना चिन्ता न कर। वह सेवक वहाँ गया भोजन किया यह दृश्य पूरी समाज देखती रह गयी कि सेठ जी का नौकर डालडा का त्याग कर सकता है। सेठ जी सोचते रह गये मैंने नियम तोड़ा और मेरे सामने ही सामने इस सेवक की प्रतिष्ठा बन गयी, मैंने नियम तोड़कर क्या प्राप्त किया।

महानुभाव ! ऐसा नहीं है कि नियम नहीं पल सकता। हम नियम पालना चाहें तो पल सकता है, न चाहें तो कुछ भी नहीं पल सकता। आज तो लोग कहने लगे हैं महाराज ! क्या करें दवाईयों में भी एल्कोहल आती है, बिस्कुट में अंडा आता है तो क्या सब कुछ छोड़ दें ? भईया जो करना है सो करो तुम भी बन जाओ मांसाहारी, नरक में जाना है तो जाओ कौन मना कर रहा है। हम तो अच्छी बात बता रहे हैं तुम्हें यदि दुःख प्राप्त नहीं करना है तो ये रास्ता है, चाहो तो अपना लो किन्तु अपना वही पायेगा जिसका पुण्य होगा। हमारे चाहने से किसी का भला न होगा किन्तु हाँ साधु सबका भला चाहता है इसलिये साधु का भला तो हो ही जाता है उसकी भावना का प्रभाव ये पड़ता है कि सामने वाले की कषाय भी मंद हो जाती है वह भी पुण्य का आश्रव करता है तो उसका भी भला हो जाता है।

महानुभाव ! हम आपको यही बताना चाह रहे थे कि जो ज्ञानी पुरुष होता है वह अपनी धारणा गलत नहीं बनाता। धारणा गलत होने पर व्यक्ति सही करने की स्थिति में होता हुआ भी गलत ही करता है।

यहाँ इस श्लोक के माध्यम से आचार्य महाराज यही समझा रहे हैं कि आत्मज्ञान से अन्य कार्य को बुद्धि में अधिक समय तक धारण न करें, प्रयोजनवश कुछ करें भी तो वचन व काय से अतत्पर होकर करो। किसी ज्ञानी पुरुष की ऐसी भी स्थिति होती है कि आत्मज्ञान में रत होने का लक्ष्य तो पूर्ण है और उसका यत्न भी करते हैं फिर भी पूर्वबद्ध कर्म विपाकवश कुछ व्यवहार में भी प्रवृत्त होना पड़ता है ऐसे ज्ञानी के प्रति कहा जा रहा है कि ज्ञानी ! आत्मज्ञान को छोड़कर अन्य, उपयोग में भी धारण न करें। कदाचित् बुद्धि में लेना भी पड़े तो वचन व काय से अतत्पर होकर, लीन न होकर प्रयोजन वश कुछ करें, किन्तु शीघ्र ही उससे हटकर फिर आत्मज्ञान में उपयुक्त हो जायें।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्॥५१॥

अन्वयार्थ-अन्तरात्मा को विचारना चाहिये कि **यत्**-जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ **इन्द्रियैः**-इन्द्रियों के द्वारा **पश्यामि**-मैं देखता हूँ **तत्**-वह **मे**-मेरा स्वरूप **नास्ति**-नहीं है, किन्तु **नियतेन्द्रियः**-इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर स्वाधीन करता हुआ **यत्**-जिस **उत्तमं**-उत्कृष्ट अतीन्द्रिय **सानन्दं ज्योतिः**-आनन्दमय ज्ञान प्रकाश को **अंतः**-अंतरंग में **पश्यामि**-देखता हूँ-अनुभव करता हूँ **तत् मे**-वही मेरा वास्तविक स्वरूप **अस्तु**-होना चाहिये।

महानुभाव ! मैं जो ज्ञान स्वरूपी आत्मा हूँ वह आत्मा इन्द्रियों के द्वारा देखने में नहीं आती। उसे देखने के लिये इन्द्रियों को नियत करना पड़ेगा, जब इन्द्रियों को रोककर के मैं अपनी आत्मा में स्थिर करता हूँ तब ही मैं अपनी आत्मा को देखने में समर्थ हो सकता हूँ। ये मेरा अनादि काल का दुःसाहस है कि मैं इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को जानने की व देखने की कोशिश करता हूँ। ये मेरा दुःसाहस उसी प्रकार है जिस प्रकार कोई बालू को पेलकर के तेल निकालने का दुःसाहस कर रहा हो, जैसे कोई अग्नि की लपटों को मुँह में रखकर शीतलता प्राप्त करना चाहता हो। जैसे कोई आकाश में फूल खिलाना चाहता हो, जैसे कोई गाय के सींग से दूध दोहना चाहता हो, जैसे कोई नरकायु का बंध करके स्वर्ग के सुखों को भोगना चाहता हो।

ये सब कदाचित् संभव हो भी जाये किन्तु फिर भी इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को ग्रहण नहीं किया जा सकता किन्तु मैं फिर भी दुःसाहस किये जा रहा हूँ। मैं पश्चिम में चलकर पूर्व दिशा के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा जितने पदार्थों को मैं ग्रहण करता जाऊँगा वे सब पदार्थ अनंतबार भी ग्रहण कर लिये जायें किन्तु फिर भी उससे आत्मा ग्रहण नहीं हो सकती। क्योंकि इन्द्रियाँ कभी आत्मा को अपना विषय बनाती ही नहीं हैं। आत्मा इन्द्रियों के अगोचर है, शब्दातीत, वर्णातीत, रसातीत, गंधातीत, स्पर्शातीत है। तो हम क्यों इन्द्रियों द्वारा पकड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। जैसे कोई व्यक्ति दो अंकों में सौ करना चाहता है वह दो अंकों में ज्यादा से ज्यादा बढ़ते-बढ़ते 99 तक पहुँच जायेगा, 99 के चक्कर में अटक के रह जायेगा, 100 जब भी होंगे तो तीन अंक में ही होंगे दो अंकों में सौ हो नहीं सकते किन्तु हमारी ये दुष्चेष्टा है, मिथ्या पुरुषार्थ है कि हम इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहते हैं।

कई बार व्यक्ति पूछते हैं महाराज जी ! आपको इतने वर्ष हो गये साधु बने क्या आपको कभी परमात्मा के दर्शन हुये हैं ? क्या आपने कभी परमात्मा को देखा है, हमने पूछा जानकर क्या करोगे ? बोले जानना चाहते हैं आप जैसा बनना चाहते हैं कल्याण करना चाहते हैं। हमने पूछा आपने अपने जीवन में क्या-क्या वस्तु खायी, उन्होंने कई अमुक-अमुक वस्तुओं के नाम बताये,

माना कि उनमें से कुछ एक वस्तु हमने कभी नहीं खाई, उससे पूछा जब तुमने वह वस्तु खायी है तो मुझे उसका स्वाद बताओ। अब वह कैसे बताये? भईया ! जब तुम पुद्गल का रसास्वादन करके उस पुद्गल के बारे में नहीं बता सकते तो बताओ मैं उस अमूर्तिक आत्मा के बारे में कैसे बताऊँ। जैसे किसी जन्मान्ध व्यक्ति को रंगों के बारे में कैसे समझा सकते हैं? क्योंकि बिना चक्षु इन्द्रिय के क्षयोपशम के उसे वर्ण का ज्ञान नहीं कराया जा सकता, बिना रसना इन्द्रिय के किसी को स्वाद नहीं बताया जा सकता ऐसे ही बिना आत्मज्ञान के तुझे भी आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता।

इन्द्रियों के द्वारों को रोककर के 'अन्तःपश्यामि' अपने अंतरंग में जब मैं देखता हूँ तब आनंद से सहित हो जाता हूँ। वहाँ व्याकुलता रहती ही नहीं है। एक किंवदंती है-लोग कहते थे आज भी वैदिक परम्परा के कुछ लोग कहते हैं कि इस सृष्टि को भगवान् ने बनाया। ठीक है भाई तुम्हारी बात दो क्षण के लिये मान भी लेते हैं वैसे इस बात से हम सहमत नहीं हैं। और वह कहने लगा-सृष्टि को भगवान् ने बनाया, तब भगवान् यहीं रहता था, उसने सब कुछ बनाया किन्तु भगवान् परेशान हो गया। क्यों परेशान हो गया ? कोई व्यक्ति कहता था तूने मेरी किस्मत ऐसी लिखी है, कोई कहता वैसी लिखी है सब अपनी-अपनी शिकायत लेकर आने लगे, वह सुन-सुन कर परेशान हो गया। वह कहाँ जाये परमात्मा जहाँ भी जाये वह काली खोपड़ी वाला मनुष्य वहीं पहुँच जाये। समुद्र में घुस जाये, चाहे पहाड़ की चोटी पर चढ़ जाए, चन्द्रमा पर चला जाये, कहीं भी चला जाए किन्तु उस मनुष्य ने उसे छोड़ा नहीं, अरे परमात्मा तू कहाँ जायेगा मेरी किस्मत ऐसी लिखी तो लिखी क्यों ?

तो बताते हैं परमात्मा बहुत परेशान हुआ वह किसी दिगम्बर साधु के पास पहुँचा मैं क्या करूँ। उन्होंने कहा कोई बात नहीं एक जगह ऐसी सुरक्षित है जहाँ इंसान जाता नहीं है और जाता है तो वहाँ की शर्त है बिना शिकायत के ही जा सकता है। जब तक किंचित भी विकल्प रहेगा तब तक वह वहाँ जा नहीं पायेगा। वह बोले जल्दी बताओ क्या है वह स्थान, वह है इंसान की आत्मा। तब से कहते हैं कि वह परमात्मा इंसान की आत्मा में जाकर के बैठ गया है, वहाँ उससे (परमात्मा) मिलने जो कोई भी जाता है वह विकल्प के साथ नहीं जा सकता, विकल्प कोई रह नहीं सकता, वह परम आनंद का अनुभव करता है।

महानुभाव ! इस प्रसंग से हमें यह ग्रहण करना है कि 'अन्तःपश्यामि' कोई भी भव्यात्मा, कोई भी अन्तरात्मा, तत्त्वज्ञानी आत्मा अंतरंग में जब देखती है तब निःसंदेह आनंद ही आनंद आता है। आत्मा को देखते हुये व्याकुलता व दुःख तो हो ही नहीं सकता यदि बाहर के विकल्प आ रहे हैं, बाहर के दुःख-सुख का अनुभव हो रहा है तो समझो वह अभी आत्मा को देख नहीं रहा। वह

ज्योति स्वरूप आत्मा है, चित्प्रकाशमय आत्मा है, उसका चैतन्यमय प्रकाश है जो करोड़ों सूर्य और चन्द्रमाओं के प्रकाश से भी नहीं हो सकता, उससे ज्यादा प्रकाश मेरी चेतनमय आत्मा का प्रकाश है। जिसमें तीनों लोक और तीनों काल के समस्त द्रव्य उनके गुण व पर्यायें एक साथ झलकती हैं। न केवल लोकाकाश अपितु अलोकाकाश में विद्यमान आकाश द्रव्य उसके गुण पर्यायें मेरी आत्मा में प्रकाशित होते हैं, झलकते हैं और वे बिना पुरुषार्थ के सहज में ही झलकते हैं ऐसी मेरी आत्मा का स्वभाव है।

सुखमारब्ध योगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि।
बहिरेवासुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः॥५२॥

अन्वयार्थ-आरब्धयोगस्य-जिसने आत्म भावना का अभ्यास करना अभी शुरू किया है उस मनुष्य को अपने पुराने संस्कारों की वजह से **बहिः**-बाह्य विषयों में **सुखं**-सुख मालूम होता है **अथ**-प्रत्युत इसके **आत्मनि**-आत्मस्वरूप की भावना में **दुःखं**-दुःख प्रतीत होता है। किन्तु **भावितात्मनः**-यथावत् आत्मस्वरूप को जानकर उसकी भावना के अच्छे अभ्यासी को **बहिः एव**-बाह्य विषयों में ही **असुखं**-दुःख जान पड़ता है और **अध्यात्मं**-अपने आत्मा के स्वरूप चिंतन में ही **सौख्यम्**-सुख का अनुभव होता है।

यहाँ पर आचार्य महोदय बता रहे हैं कि योग का अभ्यास जिसने प्रारंभ किया है, उसे बाह्य पदार्थों में सुख दिखाई देता है और अन्तरंग में दुःख दिखाई देता है। आत्मा की साधना करने में प्रारंभिक अवस्था में कष्ट लगता है, अरे ! इतने व्रत उपवास करना, सामायिक करना, आँख बंद करके बैठना बड़ी आकुलता सी होती है, इतनी शांति से बैठना ऐसे कैसे हो पायेगा। सब असंभव जैसा लगता है। अरे कुछ बोलना भी नहीं है मूर्ति जैसे बैठ जाओ। तो उसे उस आत्मा की साधना में कष्ट ही कष्ट दिखाई देता है, किसे ? जिसने अध्यात्म जगत में अभी प्रारंभिक प्रवेश किया है। अभी बहिर्जगत से छूटा नहीं है उसे तो अंतर में प्रवेश करने में कष्ट दिखाई दे रहा है बहिर्जगत में सुख दिखाई दे रहा था किन्तु जिसने आत्मा में प्रवेश कर लिया है वह कहता है बाहर में ही दुःख है। जो आध्यात्मिक होकर के आत्मा की भावना भाता है उसे तो वहाँ पर सुख ही सुख प्राप्त होता है।

एक ही बात को आचार्य महोदय कितनी प्रकार से कह रहे हैं जैसे अभी 51वीं गाथा में कह रहे थे इसी बात को पुष्ट करते हुये कह रहे हैं जो व्यक्ति आरंभ में योग द्वारा, ध्यान द्वारा, तत्त्वचिंतन द्वारा आत्मा में प्रवेश करने की कोशिश करता है उसे बाह्य में सुख अंतरंग में दुःख महसूस होता है किन्तु जो आत्मा में प्रवेश कर चुका है ऐसा आध्यात्मिक योगी कहता है बाहर में ही असुख (दुःख) है अंतरंग में सुख ही सुख भरा पड़ा है।

जो जीव प्रारंभिक आत्मस्वरूप की भावना में उद्यम कर रहा है उसको बाह्य विषयों में लगने में सुख जँचता है और आत्मस्वरूप में लगने में दु:ख प्रतीत होता है। किन्तु यथार्थ जानकर निज आत्म स्वरूप में लगने का जिन्होंने अभ्यास कर लिया है उन्हें बाह्य विषयों के प्रसंगों में क्लेश मालूम देता है और अपने आत्मा में रमने में सुख होता है। इसलिये हे सुखार्थी पुरुषों ! आत्मस्वरूप की प्राप्ति के उद्यम में साहस करो, खेद न मानकर आत्मभावना के अभ्यास में यत्न करो। इस यत्न से आखिर सत्य शाश्वत आत्मीय आनंद प्राप्त होगा। यही इस कारिका का तात्पर्य है।

जीवस्स णिच्छयेणं, अप्प-सुद्ध-सरूवो होदि सरणं।
ववहारेण जाणेदु, मुणिस्स रयणत्तयं सरणं॥५०॥

अर्थ-आत्मा का शुद्ध स्वरूप जीव के लिए निश्चय से शरण होता है। व्यवहार से मुनि का रत्नत्रय शरण जानो।

-अणुवेक्खा-सारो
(अनुप्रेक्षा-सार)
आचार्य श्री वसुनंदी मुनि

२९. आत्म गुणों की खोज

तद्ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥५३॥

अन्वयार्थ-तत् ब्रूयात्-उस आत्म स्वरूप का कथन करें-उसे दूसरों को बतलावें **तत् परान् पृच्छेत्**-उस आत्म स्वरूप को दूसरे आत्मानुभवी पुरुषों से-विशेष ज्ञानियों से पूछें **तत् इच्छेत्**-उस आत्म स्वरूप की इच्छा करें-उसकी प्राप्ति को अपना इष्ट बनायें और **तत्परः भवेत्**-उस आत्मस्वरूप की भावना में सावधान हुआ आदर बढ़ावे **येन**-जिससे **अविद्यामयं रूपं**-यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप **त्यक्त्वा**-छूटकर **विद्यामयं-व्रजेत्**-ज्ञानमय परमात्म स्वरूप की प्राप्ति होवे।

यहाँ कह रहे हैं-अविद्यामय रूप का त्याग करके, विद्यामयरूप को प्राप्त करना चाहिये। उस विद्यामय रूप को प्राप्त करने के लिये उस अध्यात्मरूप का ही कथन करें, जो भी चर्चा करनी है वह आत्मा की हो, उसी की बार-बार इच्छा करें, उसी के लिये सदैव तत्पर उत्सुक रहना चाहिये। जो आत्मा के बारे में बोलता है, आत्मा के बारे में सुनता है, आत्मा के बारे में समझता है, आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा करता है और आत्मा के लिये सदैव उत्सुक रहता है ऐसा व्यक्ति अविद्यामय रूप को त्यागकर के विद्यामय अवस्था (आत्मज्ञानमय अवस्था) को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते, एक को तो छोड़ना पड़ेगा।

जैसे कोई व्यक्ति रास्ता पार कर रहा है, रास्ता चिकना है उसके पास दो मिट्टी के घड़े हैं एक को हाथ में पकड़ा है दूसरे को चिपकाये रखा है। वह सोचता है मैं दोनों घड़ों को नहीं बचा सकता। एक घड़े में तीन दिन का पुराना खट्टा सा मट्ठा भरा है, दूसरे घड़े में शुद्ध घी भरा है तो व्यक्ति किसको बचायेगा ? जाहिर सी बात है शुद्ध घी बचायेगा। तो वह कहेगा इस मट्ठे वाले घड़े को छोड़ दूँगा तो इसके प्रति जो मोह लगा है वह भी छूट जायेगा। अब वह घी वाले घड़े को दोनों हाथ से अच्छे से पकड़ेगा और धीमे-धीमे पैर बढ़ाकर आगे बढ़ेगा। धीमे-धीमे पहुँच जायेगा। ऐसे ही जब हम एक चीज को पकड़ लेते हैं तो दूसरी को छोड़ना पड़ता है। जो व्यक्ति विषय कषायों को पकड़ लेता है उससे आध्यात्मिक कलश छूट जाता है और जिन्होंने विषय कषायों के विष कुम्भ को छोड़ दिया तो अमृत कलश हाथ में पकड़ आ गया। दोनों कलश एक साथ पकड़ में नहीं आ सकते। जिसकी जैसी इच्छा हो वैसा करें, कौन सा कलश पकड़ना है इच्छा आपकी है। आचार्यों ने रास्ता बता दिया।

ज्ञानानन्दात्मक आत्म स्वरूप की दृष्टि करने से ही आत्मा अज्ञानमय, क्लेशमय अवस्था को छोड़कर ज्ञानमय परमानन्दमय अवस्था को प्राप्त करता है। इस कारण शाश्वत आनन्द के चाहने वाले भव्य पुरुषों ! दूसरों को इस ही आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करो, जिन्होंने आत्मस्वरूप को

जाना है उनसे इस ही आत्मस्वरूप को पूछो, इस ही परमार्थ स्वरूप आत्मतत्त्व की रुचि करो और इस ही आत्म स्वरूप की भावना में आदर करो।

शरीरे वाचि चात्मानं संधत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते॥५४॥

अन्वयार्थ-वाक् शरीरयोः भ्रान्तः-वचन और शरीर में जिसकी भ्रान्ति हो रही है-जो उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं समझता ऐसा बहिरात्मा **वाचि शरीरे च**-वचन और शरीर में **आत्मानं सन्धत्ते**-आत्मा का आरोपण करता है अर्थात् वचन को तथा शरीर को आत्मा ही मानता है **पुनः**-किन्तु **अभ्रान्तः**-वचन और शरीर से आत्मा की भ्रान्ति न रखने वाला ज्ञानी पुरुष **एषां तत्त्वं**-इन शरीर और वचन के स्वरूप को **पृथक्**-आत्मा से भिन्न **निबुध्यते**-जानता है।

आचार्य महोदय कितने प्रकार के उदाहरणों के माध्यम से देह में से आत्मबुद्धि हटाने की चेष्टा कर रहे हैं। बहिरात्मा जो बाह्यपदार्थों में आत्मा मानता है उसे अनेक प्रसंगों द्वारा समझा रहे हैं कि जिस व्यक्ति की दृष्टि में यह हो गया है कि सूर्य के माध्यम से ही शीतलता प्राप्त होती है चन्द्रमा की चाँदनी सूर्य के उदय होने पर प्राप्त होती है वह व्यक्ति सूर्योदय की इंतजारी करता है कि कब सूर्य का उदय हो और जब रात्रि में चन्द्रमा की चांदनी होती है तब रात्रि होने पर भीतर जाकर छिप जाता है। प्रातःकाल होते ही सूर्य की धूप में जाकर बैठ जाता है इस भावना से कि यें चन्द्रमा की चाँदनी है मेरे शरीर में शीतलता प्रदान करने वाली है। अथवा कोई व्यक्ति ये सोचता है कि चन्द्रमा का उदय होने पर सूर्य का प्रकाश मेरे शरीर की शीतलता को दूर करने वाला होगा जिसकी धारणा ये बन गयी है कि चन्द्रमा तो उष्ण चाँदनी देता है और सूर्य शीतल चाँदनी देता है ऐसा व्यक्ति सूर्य का प्रकाश रात्रि में व चन्द्रमा दिन में चाहता है दोनों ही भ्रान्त पुरुष हैं। जिसने सूर्य को चन्द्र, चन्द्र को सूर्य मान लिया है यद्यपि सूर्य चन्द्र दोनों के लक्षण अलग-अलग जानता है किन्तु मान बैठा है, गोल-गोल बताया था वह चन्द्रमा है, सूर्य भी गोल-गोल होता है दोनों गोल-गोल होते हैं फिर भी जान नहीं पाया कि सूर्य कौन सा है, चन्द्रमा कौन सा है। ऐसे भ्रान्त पुरुष की वृत्ति विपरीत होती है। ऐसे ही जो आत्मा का सुख चाहने वाला व्यक्ति है वह शरीर के माध्यम से आत्मा का सुख चाहे तो वह भ्रान्त पुरुष है।

भ्रान्त पुरुष की चेष्टा निःसंदेह भ्रान्त ही होती है, उसकी चेष्टायें निर्भ्रान्त नहीं होती किन्तु जिस व्यक्ति की भ्रान्तियाँ दूर हो गयी हैं, ऐसा व्यक्ति निःसंदेह आत्मतत्त्व में ही सुख को खोजता है वह पर पदार्थों में फिर सुख को नहीं खोज सकता है।

अमृत को जहर मानकर छोड़ रहा है विष को अमृत मानकर ग्रहण करता जा रहा है, विषयों को अमृत मानता है और विषयों का सेवन करता है वैराग्य को जहर मानता है तो उसका त्याग

करता है, अज्ञान को अमृत मानता है उसी का सेवन करता है ज्ञान को विषवत् मानता है तो उसको त्याग करता है। कषाय के पोषण को अमृत जैसा मानता है तो उसका पोषण करता है। समता/प्रशम भाव को जहरवत् अहितकारी मानता है उसका परित्याग करता है। तो भ्रान्त पुरुष की चेष्टायें बिल्कुल विपरीत ही होती हैं। वह अग्नि को ठंडा बर्फ को गर्म मानता है। इन सब बातों को सोचकर बड़ी हंसी आती है कि ऐसा कौन सा पुरुष होगा जो ऐसी प्रवृत्ति करेगा ? ऐसे पुरुष हम ही हैं जो अनादिकाल से ऐसी प्रवृत्ति करते चले जा रहे हैं।

शरीर के सुख में आत्मसुख खोज रहे हैं, बाह्य विषय वस्तु में हम आत्मा के गुणों को खोज रहे हैं हमसे ज्यादा भ्रान्त पुरुष और कौन हो सकता है, जो चीज जहाँ है ही नहीं हम वहाँ खोज रहे हैं ये हमारी मूढ़ता है। जो वस्तु घर में रखी है उसे घर में ताला लगाकर गली मुहल्ले में ढूँढ रहे हैं ऐसे दस बार नहीं 100 बार भी खोजोगे इतना ही नहीं अनंत बार भी खोज लो तो भी वस्तु जहाँ है वहाँ नहीं खोजी जायेगी तो मिलेगी नहीं। कई बार हम विचार करते हैं इस आत्मा को अनंतकाल हो गया अनादि काल से ये आत्मा है इसका कोई प्रारंभ तो है नहीं, क्या ऐसा कभी कोई समय नहीं आया कि यह आत्मा अपना कल्याण कर लेती, संसार सागर से पार हो जाती। कभी तो ऐसा हुआ होगा कि देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य मिला हो, धर्म मिला हो कभी देव बना होगा, पशु बना होगा कहीं तो धर्म का संयोग मिला होगा, कभी तो इसकी बुद्धि में आया होगा कि शरीर का सुख, सुख नहीं है। व्यक्ति एक बार ठोकर खाता है दूसरी बार सावधान हो जाता है, किन्तु यहाँ तो दो बार, दस बार नहीं अनंतबार ठोकर खायी है फिर भी सावधान नहीं हुआ ऐसा कैसे हो सकता है?

कारण ये रहा कि हमारी ये जिद रही कि हम बाह्य दिखाई देने वाले पदार्थों में ही आत्मा के सुख को खोज करके रहेंगे। आत्मा नाम की कोई चीज तो है उसमें अनंत सुख है, अनंत ज्ञान है, अनंत वीर्य है, अनंत दर्शन है इत्यादि गुण हैं जिनको परमात्मा ने प्राप्त कर लिया है ये तो हमने जान लिया, किन्तु हम पंचेन्द्रिय के विषयों में व पौद्गलिक विषयों में उनको प्राप्त करने की चेष्टा करते रहे, किन्तु वह वहाँ तो थे ही नहीं, जब थे नहीं तो अनंत बार नहीं अनंतानंत बार भी खोजते रहें कहाँ से मिलेगी और जो चीज जहाँ पर है वहाँ एक बार भी खोजने चले जाते तो सीधे-सीधे मिल जाती। आत्मा के वैभव को प्राप्त करने के लिये कोई व्यक्ति एक बार भी आत्मा में चला जाता है तो उसे आत्मा का वैभव मिल जाता है। यदि भूल से भी व्यक्ति अपने मुख में शक्कर का दाना डाल ले तब भी उसका मुँह मीठा होता है जो नमक को ही खाता रहे और कहे इसी में शक्कर का स्वाद लेकर रहूँगा तो कितना ही खाता रहे, अनंतकाल भी बीत जायेगा तब भी नमक के स्थान पर शक्कर का स्वाद नहीं आयेगा।

महानुभाव ! भ्रान्त पुरुष की चेष्टा ऐसी होती है जो वस्तु, जो स्वभाव, जो गुण, जो धर्म, जो लक्षण जिसमें नहीं है उसमें उसे खोजना चाहता है। निर्भ्रान्त पुरुष वह है जिसमें जो है उसमें ही

वह खोजना चाहता है। आम के पेड़ पर आम लगेगा इस बात को निर्भ्रान्त पुरुष कहता है भ्रान्त पुरुष कहता है नहीं मैं तो अकौआ के पेड़ से आम प्राप्त करके रहूँगा। निर्भ्रान्त पुरुष कहता है-जिसका जैसा स्वभाव है अनादिकाल से वैसा है वैसा ही रहेगा, उसको कोई अन्यथा नहीं कर सकेगा। भ्रान्त पुरुष कहता है नहीं मैं अन्यथा करके ही रहूँगा। मेरी सामर्थ्य बहुत है मुझमें अनंत शक्ति है और अनंत शक्ति वाला कुछ भी कर सकता है ऐसा लिखा है शास्त्रों में कि आत्मा में तो अनंत शक्ति है। भाई ! अनंत शक्ति तो है किन्तु तुम केवल अपने विभाव को सरका करके स्वभाव को प्रकट कर सकते हो, अन्य वस्तु के स्वभाव में, विभाव में कुछ नहीं कर सकते उसका परिणमन स्वतंत्र है। दूसरी बात ये है जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है उसका वैसा ही स्वभाव रहेगा तुम चाहो कि उसके स्वभाव को अन्यथा कर दो, आकाश का स्वभाव है अवगाहन देना, तुम चाहो कि हम उसका स्वभाव स्पर्श रस गंध वर्ण युक्त कर दें, तुम चाहो पुद्गल के स्वभाव में धर्मद्रव्य का स्वभाव गतिहेतुत्व कर दें या परिणमन हेतुत्व कर दें तो ये नहीं कर सकते। जब एक इन्द्रिय का काम दूसरी इन्द्रिय से नहीं लिया जा सकता तो एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का स्वभाव कैसे आ सकता है। मेरी आत्मा का स्वभाव मेरी आत्मा के साथ रहेगा, आपकी आत्मा का स्वभाव आपकी आत्मा में रहेगा ये कभी अन्यथा हो ही नहीं सकता।

किन्तु भ्रान्त पुरुष, अज्ञानी पुरुष जिद्दी होता है, मूढ़ होता है वह अड़ जाता है और ज्ञानी पुरुष कहता है मुझे समझने की चेष्टा करने दो महानुभाव ! यहाँ आचार्य महाराज इस श्लोक के माध्यम से यही कह रहे हैं-

शरीर ही मैं हूँ, वचन ही मैं हूँ ऐसे वचन और शरीर में आत्मस्वरूप का जिसे भ्रम है वह वचन और शरीर को ही आत्मा अर्थात् स्वयं को मानता है किन्तु जिसने वचन-काय का यथार्थ स्वरूप जान लिया है, ये भाषा वर्गणा व आहार वर्गणा के पुद्गल स्कन्धों के प्रचय हैं ऐसा मान लिया है वह शरीर और वचन का स्वरूप अपने से अत्यन्त भिन्न है ऐसा निश्चय करता है। हे कल्याणार्थी जनो ! जब शरीर और वचन से अपना आत्मा पृथक है तब शरीर-वचन की बातों में लगने से क्या सिद्धि है? अतः अपने आत्म स्वरूप की ही बात कहो, पूछो, इसकी ही धुन में लगे रहो।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्॥५५॥

अन्वयार्थ-इन्द्रियार्थेषु-पाँचों इन्द्रियों के विषय में **तत्**-ऐसा कोई पदार्थ **न अस्ति**-नहीं है **यत्**-जो **आत्मनः**-आत्मा का **क्षेमंकर**-भला करने वाला हो **तथापि**-तो भी **बालः**-यह अज्ञानी बहिरात्मा **अज्ञान भावनात्**-चिरकालीन मिथ्यात्व के संस्कार-वश **तत्रैव**-उन्हीं इन्द्रियों के विषयों में **रमते**-आसक्त रहता है।

महानुभाव ! पंचेन्द्रिय के पदार्थों में आत्मा का कल्याण करने वाला कुछ भी नहीं है फिर भी अज्ञानी/मूढ़/बहिरात्मा उन्हीं पंचेन्द्रियों के विषय में बार-बार रमता है सुख प्राप्त करने की अभिलाषा से कि यहाँ सुख मिलेगा ही मिलेगा। श्वान की तरह से अस्थि का चर्वण करके सोचता है अस्थि में से रक्त स्राव हो रहा है किन्तु सत्यता ये है कि अस्थि तो सूखी पड़ी है उसमें रक्तस्राव कहाँ से होगा वह तो उसके मुख से होता है ऐसे ही अज्ञानी प्राणी सोचता है विषयों का सेवन करके बड़ा आनंद आता है उसके आगे सब फीका है।

जिस आनंद को सामान्य संसारी प्राणी श्वान शूकर इत्यादि भी विषय सेवन कर आनंद का अनुभव कर रहे हैं तुम मनु की संतान होकर के भी कहते हो पंचेन्द्रिय विषयों में आनंद आता है तो तुममें और पशु में क्या अंतर रह गया। एक इन्द्रिय वृक्ष भी विषय वासना की पूर्ति के लिये दूसरे वृक्ष से लिपटता है वह भी मैथुन सेवन करता है तो वह भी ऐसी प्रवृत्ति कर रहा है फिर उसमें व ज्ञानी में क्या अन्तर रहेगा। जब ज्ञानी की चेष्टा अज्ञानी जैसी है तो वह भी अज्ञानी ही माना जायेगा।

आँख कान मुख नासिका, सबके एक ही ठौर।
कहना सुनना बोलना (निरखना) चतुरों का कुछ और॥

सभी के शरीर संरचना में सब इन्द्रियाँ यथावत् स्थान पर हैं किन्तु फिर भी प्रबुद्ध पुरुषों की प्रवृत्ति में कुछ अंतर होता है उनका उठना-बैठना चलना बोलना-हँसना-मुस्कुराना, किसी बात का प्रतिउत्तर देना जो भी प्रवृत्ति है वह अलग रहती है। उसी कार्य को अज्ञानी भी करता है फिर भी अंतर पाया जाता है।

मुनिराज भी विहार करते हैं और श्रावक भी चल रहा है दोनों के चलने में महान अंतर है एक पाप का आश्रव कर रहा है, एक पुण्य का आश्रव कर रहा है। मुनिराज भी आहार ग्रहण करते है सामान्य मनुष्य भी करते हैं किन्तु वह भक्ष्य-अभक्ष्य, दिन-रात का भेद न करते हुये खाये जा रहा है। एक जीने के लिये खा रहा है एक खाने के लिये जी रहा है। अज्ञानी व्यक्ति कहता है जितना ज्यादा जी सकूँगा उतना ज्यादा खा सकूँगा और ज्ञानी पुरुष सोचता है भाई! इस गाड़ी को चलाने के लिये जैसे गाड़ी में पेट्रोल डाला जाता है वैसे ही इस शरीर को भी देना पड़ेगा वरना ये काम नहीं करेगा।

महानुभाव ! अज्ञान भावना के कारण ही मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रियों के विषयों में रमण करता है। वह अज्ञान भावना इतनी जटिल है कि छुड़ाये से छूटती नहीं। जैसे किसी वस्त्र पर धूल पड़ी है वस्त्र उठाकर झटकार दो तो धूल झड़ जायेगी किन्तु जिस वस्त्र में काला रंग (ग्रीस जैसा) मिक्स हो गया उसमें से धूल निकालना बड़ा मुश्किल है। वस्त्र धो-धोकर फट ही क्यों न जाये, ऐसा

लगता है हमारी आत्मा में अज्ञानता के संस्कार इतने गहरे हो चुके हैं कि हम उस अज्ञान को धोने का प्रयास करते हैं तो भी वह अज्ञान दूर ही नहीं होता। हमारी मूढ़ बुद्धि दूर ही नहीं होती, बार-बार प्रयास करते हैं फिर भी। जैसे कोई व्यक्ति अंगारे पर राख जम जाती है फूँक मारता है शांत बैठ जाता है, राख पुनः जम जाती है ऐसा होता रहता है। यह तो अज्ञान है अज्ञान का संस्कार बार-बार आ जाता है। रत्न में राख नहीं जमती किन्तु कोयले पर तो बार-बार राख जमती है।

महानुभाव ! ऐसे ही जब तक हम संसारी प्राणी हैं तब तक तो दिव्य ज्योति स्वरूप आत्मा पर राख जमती रहेगी, कर्म विकार जमते रहेंगे जब हमारी आत्मा शुद्ध रत्न की तरह से सिद्ध बन जायेगी उस पर फिर धूल राख नहीं जमेगी। आचार्य महाराज कह रहे हैं यद्यपि किसी भी इन्द्रिय का विषय आत्मा का कल्याण करने वाला नहीं है, कल्याण की बात तो दूर रही आपत्ति में ही डालने वाला है तो भी चूंकि इस मोही जीव ने अपने को रागादिक अज्ञानरूप से भी भाकर मिथ्यात्व का संस्कार बना लिया है इस कारण उन ही इन्द्रियों के विषयों में स्पर्श, रस, गन्ध, रूप व शब्दों में रति करता है। इस विषय विपदा से बचना चाहते हो तो इसका मूल उपाय यह करना होगा कि अपने अज्ञान के संस्कार को नष्ट करें, स्वयं को ज्ञान भावना से दृढ़ संस्कारित करें।

३०. जानें स्वयं को

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति॥५६॥

अन्वयार्थ-मूढ़ात्मानः-ये मूर्ख अज्ञानी जीव **तमसि**-मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के उदयवश **चिरं**-अनादिकाल से **कुयोनिषु**-नित्य-निगोदादिक कुयोनियों में **सुषुप्ताः**-सो रहे हैं-अतीव जड़ता को प्राप्त हो रहे हैं। यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियों में उत्पन्न होकर कुछ जागते भी हैं तो **अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहम्**-अनात्मीयभूत स्त्री-पुत्रादिक में 'ये मेरे हैं' और अनात्मभूत शरीरादिकों में 'मैं ही इन रूप हूँ' **इति जाग्रति**-ऐसा अध्यवसाय करने लगते हैं।

महानुभाव ! अंधकार नींद में सहयोगी बन जाता है। यदि कोई व्यक्ति छत पर आकर सूर्यास्त के बाद लेट जाये तो उसे नींद आ जायेगी, वही व्यक्ति जब धूप हो रही हो तो नींद आये भी तब भी नींद भाग जाती है। कई बार व्यक्ति कहता है कमरे की लाइट जल रही है बंद कर दो मुझे इसमें नींद नहीं आ पाती। अपनी आँख बंद कर लो, बोला आँख बंद करने के उपरांत भी पलकों के बाहर उजाला रहता है वह अपना प्रभाव दिखाता है इसलिये लाइट बंद कर दो, अंधेरे में पलक खोलकर भी रखूँगा तो भी नींद आ जायेगी इसी प्रकार व्यक्ति अज्ञान के अंधकार में, विषयों में आसक्त हो सकता है। यदि उसकी चेतना में ज्ञान की एक किरण जाग्रत हो गयी तो वह विषयों में आसक्त न हो सकेगा, वह ऐसे दुरंत, जघन्यतम पाप न कर सकेगा। जिस व्यक्ति के जीवन में यह संस्कार पड़ गया है कि अभक्ष्य पदार्थ न केवल स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं अपितु धर्म का विरोधी भी है, वह व्यक्ति उसका सेवन नहीं करेगा, चाहे वह अभक्ष्य पदार्थ जहर हो या मद्य, मांस, मधु कुछ भी हो वह सेवन नहीं करेगा।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने अर्हत् भक्ति में लिखा है।

अश्नात्यन्नं यदिह सुलभं दुर्लभं चेन्मुधास्ते।
क्षुद्-व्यावृत्यै कवलयति कः कालकूटं बुभुक्षः॥१४॥

ऐसा कौन सा भूखा व्यक्ति है जिसे यदि अन्न न मिले तो वह अपनी पेट की क्षुधा को दूर करने के लिये कालकूट विष का भक्षण करे ? नहीं करेगा। ऐसे ही जिसे कालकूट विष के बारे में ज्ञान हो गया है वह नहीं खायेगा। जिस व्यक्ति को ज्ञान हो गया है कि अग्नि जलाती है तो फिर वह जानबूझ कर अग्नि में हाथ नहीं डालेगा। एक कहावत है बुन्देलखण्ड में-

''जानबूझ कर मक्खी नहीं निगली जाती''

अर्थात् जानबूझ कर फिर वो पाप नहीं हो सकता। अरे अभी तक तो करते आये? अभी तक भले ही करते आये किन्तु अब मुझे ज्ञान हो गया है मैं इसे ग्रहण नहीं कर पाऊँगा। जब तक अज्ञान

का अंधकार था तब तक मेरी प्रवृत्ति चलती रही विषयों के सेवन की, चाहे अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण की, चाहे हिंसा रूप, चोरी रूप, झूठ रूप, अब्रह्म रूप, परिग्रह संचय रूप आदि-आदि प्रवृत्ति अनादि से मेरी चल रही थी।

देशभूषण-कुलभूषण जब विद्याध्ययन करके लौट रहे थे तो उन्होंने देखा कि हमारे विवाह का प्रस्ताव लेकर अनेक राजदूत आये हैं राजाओं की कन्यायें भी आयी हैं तो हम कन्यायें पसंद करेंगे। महल की छत पर खड़ी (कमलोत्सवा) उस सुन्दर सी कन्या को देखकर के देशभूषण कहता है अपने मन में कि मैं इसे अपनी पत्नी बनाऊँगा। कुलभूषण सोचता है मैं उसे अपनी पत्नी बनाऊँगा। दोनों की निगाह एक साथ उस पर पहुँची। दोनों उसे अपनी-अपनी कहने लगे और वार्तालाप इतना बढ़ा कि तलवारें ही निकल गयीं, इसी बीच मंत्री का आगमन हुआ पूछा-बात क्या है देशभूषण बोले मैंने पहले इस कन्या को देखा है ये मेरी है, कुलभूषण बोले-नहीं पहले मैंने देखा है मैं इससे विवाह करूँगा। मंत्री ने कहा-तुम दोनों अविवेकी हो, मूर्ख हो पहले देख तो लो ये है कौन ? ये तुम्हारी बहिन है कमलोत्सवा। बहिन जब आरती का थाल लेकर नीचे आयी दोनों भाई आँख उठाकर देख भी नहीं पा रहे थे और बिना महलों में प्रवेश किये ही जंगल की ओर चले गये।

महानुभाव ! उन्होंने इतना बड़ा पाप का भाव मन में कैसे किया ? अज्ञानता के कारण, यदि उन्हें ज्ञात होता तो ऐसा पाप कदापि नहीं होता। तो अज्ञान समस्त पापों की जननी है। अज्ञान का एक ऐसा साया है कि उसके अंदर पाप किये जा सकते हैं। अज्ञान का अंधकार जब छट जाता है फिर पाप नहीं हो सकते। वैसे भी चोरी, डाका, लूट-पाट-विषय सेवन, वेश्या गमन, परस्त्री सेवन आदि पाप अधिकांशतः अंधकार में होते हैं। कदाचित दिन में भी करे तो सामने वाले की आँखों से ओझल होकर करता है। सत्यता तो यह है बाहर में अंधकार हो या न हो, चोरी आदि कृत्य जो पाप हैं वे तभी संभव हैं जब तुम्हारे अंदर में अज्ञान का अंधकार हो। अंधकार हुये बिना कोई भी व्यक्ति कुकृत्य नहीं कर सकता।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु-ये मूढ़ात्मा चिरकाल से अज्ञान अंधकार के कारण कुयोनियों में सो रहा अर्थात् भटक रहा है, दुःखों को भोग रहा है, रो रहा है।

उस मूढ़ात्मा की चेष्टा अनात्मीय पदार्थों में आत्मभूत है कि ये पदार्थ मेरे हैं या मैं ही ये हूँ ऐसी उसकी प्रवृत्ति होने लगती है। क्यों? क्योंकि वह मूढ़ात्मा सुषुप्त हो जाता है अज्ञान के अंधकार में असंयम के अंधकार और मिथ्यात्व के अंधकार में सुप्त होकर उसकी प्रवृत्ति ऐसी होने लगती है। यूँ तो एक ही अंधकार खतरनाक होता है किन्तु जहाँ तीन-तीन अंधकार हों तो क्या होगा। मिथ्यात्व का अंधकार अर्थात् जिसने धारणा को ही उल्टा मान लिया जो सफेद धारणा थी, श्रद्धा सफेद थी पर अंधकार में सफेद भी काली पड़ गयी। अंधकार में सफेद कपड़ा भी काला

दिखाई देता है। श्रद्धा हमारी आत्मा का गुण है वह समीचीन रूप से होना चाहिये किन्तु मिथ्यात्व ने उस श्रद्धा को काली कर दिया। ज्ञान का प्रकाश तो स्व-पर प्रकाशी होता है जो चीज चमक रही थी माना कि दीवार पर लगे कांच चमक रहे थे कब ? सूर्य का प्रकाश पड़ते ही किन्तु जब रात का अंधकार छा जाता है तो कांच फिर चमकते दिखाई नहीं देते कांच भी काले से दिखाई देते हैं तो ज्ञान भी अज्ञान रूप हो जाता है।

संयम का प्रभाव होता है कि जीवन में सुख शांति का निमित्त बनता है, जैसे पुष्पों का सौरभ, घृतादि की सुगंधि होती है अन्य भी ऐसे पदार्थ जिनके माध्यम से आनंद आ रहा था अंधकार में वे पदार्थ श्याममय प्रतीत होते हैं। अंधकार में दूध भी देखो तो वह भी काला दिखायी देता है सुगंधि तो आयेगी पर दिखाई काला देगा। यदि अज्ञान का अंधकार है तो वह संयम भी सुख नहीं दे सकता फिर जब असंयममय प्रवृत्ति कर रहे हैं और मानकर ये बैठ गये हैं कि असंयम भी सुख का कारण है, विषयों का सेवन या कषायों का पोषण भी सुख का कारण है तो वह अंधकार का प्रवाह है जिससे वह संयम भी असंयम हो जाता है, फिर असंयममय प्रवृत्ति तो असंयममय है ही।

तीनों चीजें ही असंयममय हो जाती हैं चाहे निर्मल जल हो वह जल जो श्याम वर्ण को धोने वाला है किन्तु अंधकार में वह धवल जल भी काला दिखाई देता है और काले जल से वह वस्त्र को धो रहा है (सफेद वस्त्र को) धोते-धोते पूरी रात निकल गयी वह कपड़ा सफेद नहीं हो पा रहा है काले का काला ही दिखायी दे रहा है यद्यपि काला है नहीं फिर भी काला ही दिखायी दे रहा है और यदि वह काले कपड़े को निर्मल जल से धो रहा है सफेद करने के लिये उसे चूना में डाल दिया किन्तु रात में चूने में डालने पर भी काला ही दिखायी दे रहा है, तो क्योंकि अंधकार का ही ये प्रभाव है कि वह धवल होने के बावजूद भी श्याम ही दिखते हैं ऐसे ही मिथ्यात्व का अंधकार, अज्ञान का अंधकार, असंयम का अंधकार अथवा 'तमसि' ये मोहनीय कर्म की घोर रात्रि के प्रभाव से श्रद्धा भी मिथ्या हो गयी अंधकारमय हो गयी, ज्ञान भी अंधकारमय हो गया, चारित्र भी श्याम हो गया वह भी धवल नहीं रह सका।

महानुभाव ! आचार्य महोदय इस श्लोक के माध्यम से कह रहे हैं यह जीव अनादि से तो अज्ञान मिथ्यात्व में बसकर निगोद में रहा अन्य-अन्य स्थावर दो इन्द्रियादि असंज्ञी पर्यायों को पाया तो वहाँ भी अज्ञान के घोर अंधकार वश उन कुयोनियों में बसा, निगोद से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक तो यह जीव सोया हुआ ही रहा अर्थात् विचार रहित अज्ञानग्रस्त रहा है। अब कदाचित् संज्ञी पर्याय में आया तो यहाँ जो शरीरादि अपना नहीं है उसमें यह मैं हूँ ऐसी बुद्धि करके जाग रहा है यानि विपरीत बुद्धि कर रहा है। मिथ्यात्व की इन दोनों स्थितियों में कल्याण नहीं है।

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्म चेतसा।
अपरात्मधियान्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः॥५७॥

अन्वयार्थ-अन्तरात्मा को चाहिए कि **आत्मतत्त्वे**-अपने आत्मस्वरूप में **व्यवस्थितः**-स्थित होकर **आत्मनः देहं**-अपने शरीर को **अनात्मचेतसा**-'यह शरीर मेरा आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धि से **निरन्तरं पश्येत्**-सदा देखे-अनुभव करे और **अन्येषां**-दूसरे प्राणियों के शरीर को **अपरात्मधिया**-'यह शरीर पर का आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धि से **पश्येत्**-सदा अवलोकन करे।

पहले के श्लोकों में जो बताया था कि ये जीव पुत्र-मित्र-भार्यादि को अपना मानता है किन्तु यहाँ कह रहे हैं कि आत्मतत्त्व में स्थित हुआ अन्तरात्मा अपने शरीर को भी अपनी आत्मा न माने और दूसरे के शरीर को भी आत्मा न माने। अपनी आत्मा को ही अपनी आत्मा माने और दूसरे की आत्मा को दूसरे की ही माने। ऐसा व्यक्ति व्यवस्थित होकर उस आत्मा को देखे जो आत्मा शरीर नहीं है या शरीर आत्मा रूप नहीं है। आत्मा-आत्मा है शरीर-शरीर है। यदि शरीर को छोड़ दिया जो देखने में आ रहा है, तो जो देखने में नहीं आ रहा है उसे देखने की कोशिश करना चाहिये। देह अनात्मा है और आत्मा-आत्मा है तो अनात्म बुद्धि को छोड़कर के अर्थात् जो आत्मा में अनादि काल से अनात्म बुद्धि हो गयी थी उसे छोड़ दे और देह में जो आत्म बुद्धि हो गयी थी उसे छोड़कर के अपनी बुद्धि को अब व्यवस्थित कर ले। अभी तक सब उल्टा-पुल्टा पड़ा था उसे व्यवस्थित कर लो।

सब कुछ तुम्हारे पास है बस उसे व्यवस्थित कर लो। अभी आप क्या कर रहे हो ? जिस मंजन से कुल्ला करना चाहिये उस मंजन से तो तिलक लगा रहे हो और जिस काजल को आँख पर लगाना चाहिये उसे दांतों पर लगा रहे हो उल्टी-पुल्टी चेष्टा कर रहे हो तुम्हारे पास सब कुछ सामग्री है किन्तु उसे व्यवस्थित रूप से नहीं लगाया है और जो कुछ भी किया है वह अज्ञानता में कर लिया है।

जैसे कोई भील कन्या अभी तक जंगल में ही निवास करती थी, जंगली वृक्षों के पत्तों के ही वस्त्र बनाकर पहनती, उन्हीं से अपना साज श्रृंगार करती थी, उसी में अपना मनोरंजन मनाती। किन्तु किसी कारण राजा वहाँ पहुँचा राजा उस कन्या के गौरवर्ण को देखकर मोहित हो गया और अपने राज महल में ले आया और उसे सभी श्रृंगार सामग्री वस्त्राभूषण दे दिये। अब वह कन्या सब कुछ उल्टा-पुल्टा कर लेती है क्योंकि वह नहीं जानती कौन सी चीज कहाँ पहननी है कैसे श्रृंगार करना है तो सब गलत-सलत करने से वह हास्यास्पद बन जाती है और ऐसे ही हमारी आत्मा अनादिकाल से दुष्ट भीलों के बीच फँस गयी है अब वह यहाँ देव-शास्त्र-गुरु के सान्निध्य रूपी महलों में आ गयी है कोई गुरु रूपी राजा उठाकर ले आये, उसे सामान भी दे दिया ये सम्यग्दर्शन का, ये ज्ञान का, ये चारित्र का किन्तु अज्ञानता के कारण वह आत्मा सब कुछ उल्टा-पुल्टा करके बैठ गयी। ऐसा करने से हमारी आत्मा का अनर्थ हो जाता है। न मिलना इतना अनर्थकारी नहीं है।

महानुभाव ! हमने जीवन का उपयोग नहीं किया, कहेंगे हमारा जीवन व्यर्थ चला गया चलो कोई बात नहीं संतोष धारण कर लो व्यर्थ चला गया किन्तु जो अपने जीवन को अनर्थकारी बना रहा है वो ज्यादा खतरनाक है। तो हम अपने जीवन को अन्धकार में अनर्थकारी बना रहे हैं। पंचेन्द्रियाँ प्राप्त की, मन प्राप्त किया, सर्व साधन उच्च धर्म, उच्चकुल, उच्चसंगति, देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य प्राप्त करने के उपरांत भी हम उन साधनों का दुरुपयोग कह रहे हैं। जिस एकेन्द्रिय जीव को नहीं मिला उसके लिये तो कोई बात नहीं पर जिस जीव को मिला है फिर भी दुरुपयोग कर रहा है वह ज्यादा खतरनाक बात है।

तो आत्मा को अनात्मा, अनात्मा को आत्मा मानकर हम अनादिकाल से बैठे थे किन्तु अब थोड़ा व्यवस्थित कर लो। आचार्य महोदय कह रहे हैं-अनात्म बुद्धि से अभी तक देह को आत्मा मान लिया था अब व्यवस्थित करके आत्मा को आत्मा मान लो, देह को देह मान लो और पर की आत्मा को भी अपनी इस आत्मबुद्धि से अन्यात्मा मानो उसके शरीर को आत्मा मत मानो।

जो संत आत्मस्वरूप में स्थित होकर आत्मस्वरूप के अनुभव पूर्वक आत्मतत्त्व का परिचयी हुआ है वह अपने आत्मा के एक क्षेत्रावगाह बन्धन में प्राप्त इस शरीर को यह मैं हूँ ऐसी आत्म बुद्धि से नहीं देखता है और दूसरे प्राणियों के शरीरों को ये आत्मा है या दूसरे आत्मा है यों अपरात्म बुद्धि से नहीं देखता है। वह ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा में ही आत्मतत्त्व की श्रद्धा करता है।

३१. आत्म स्वरूप

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः॥५८॥

अन्वयार्थ-स्वात्मानुभवमग्न-अन्तरात्मा विचारता है कि **यथा**-जैसे **मूढ़ात्मानः**-ये मूर्ख अज्ञानी जीव **अज्ञापितं**-बिना बताए हुए **मां**-मेरे आत्मस्वरूप को **न जानन्ति**-नहीं जानते हैं **ततः**-इसलिए **तेषां**-उन मूढ़ पुरुषों को **मे ज्ञापनश्रमः** मेरा बतलाने का परिश्रम **वृथा**-व्यर्थ है, निष्फल है।

एक श्लोक आप पढ़ते हैं-

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किं।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणात् किम् करिष्यति॥

आचार्य पूज्यपाद स्वामी उसी प्रकार की बात यहाँ कह रहे हैं। इस श्लोक का आशय है-

"जिसकी स्वयं की प्रज्ञा (ज्ञान) नहीं है तो शास्त्र उसका क्या कर सकता है जैसे जिस व्यक्ति के नेत्रों में ज्योति नहीं है उसके लिये दर्पण से क्या लाभ ?"

ऐसे ही यहाँ कह रहे हैं-

अज्ञापितं न जानाति-बिना बताये तो आत्मा जाना नहीं जाता **यथा मां ज्ञापितं तथा** और जैसा आत्मा जाना जाता है वैसा उसे बताने की आवश्यकता नहीं है। जो आत्मा का स्वरूप है वह बिना बताये जानने में आता नहीं और जो जानने में आता है वह बताया नहीं जा सकता। दोनों बात हैं जब स्वतः ही आत्मा से ज्ञान प्रकट होता है तभी उस आत्मज्ञान से आत्मा का स्वरूप जाना जाता है क्योंकि शब्द ज्ञान से आत्मा को जानने का कोई अविनाभावी संबंध नहीं है। ऐसा नहीं जिसके पास शब्द ज्ञान का भण्डार हो वह आत्मा को जान ही ले। ग्यारह अंग नौ पूर्व के पाठी भी हो सकते हैं फिर भी आत्मा को नहीं जान सकते। एक ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है जिसे 12 वर्ष में णमोकार मंत्र भी याद न हुआ हो तब भी आत्मा को जान सकता है। पर आत्मा जानी जाती है देशना के द्वारा, ज्ञान के द्वारा जानी जाती है। वह ज्ञान इतना सा चाहिये अपने ज्ञान को प्रकट करने के लिये जैसे कोई व्यक्ति माचिस जलाकर मोमबत्ती जलाता है। वह उस तिली से चाहे मोमबत्ती जलाये या बड़ा दीपक जलाये या और कही जंगल में आग लगाये तिली की आवश्यकता तो है उसके बिना नहीं जलेगा। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि उसके माध्यम से दीपक जल ही जाये पूरी माचिस भी खर्च कर दो और दीपक यदि चित्र में बना हुआ है तो जलेगा नहीं। दीपक यदि बाती व तेल से रहित है तो जलेगा नहीं। दीपक जलेगा तब जब उस दीपक के जलने की स्वयं भी सामर्थ्य हो। दीपक में तेल की जगह पानी हो, बत्ती की जगह लोहे की कील हो तो वह दीपक नहीं जलेगा।

ऐसे ही हम जान सकते हैं कि आत्मा जानने में तभी आयेगा जब हम किसी की देशना को सुनेंगे, आचार्यों के शास्त्रों का स्वाध्याय करेंगे, भगवान् की दिव्यध्वनि सुनेंगे। यह सब व्यर्थ नहीं है ये सब आवश्यक हैं। किन्तु वह दिव्यध्वनि अंदर जाना चाहिये यदि दिव्यध्वनि अंदर में जा रही है, शब्द ज्ञान जा रहा है तब नि:संदेह वह शब्द ज्ञान भावज्ञान का कारण बन सकता है। बिना शब्द ज्ञान का सहारा लिये भाव ज्ञान तक नहीं पहुँच सकते किन्तु शब्द ज्ञान की नाव पर बैठे-बैठे भी वह नाव यदि नहीं चली तो किनारे की प्राप्ति नहीं होती। शब्द ज्ञान की नाव यदि खूँटे से बंधी पड़ी है तो फिर चाहे कितने ही समय तक नाव में बैठे रहो, खेते रहो वह दूसरे तट तक पहुँचायेगी नहीं। शब्द-ज्ञान की नाव दूसरे किनारे तक तब पहुँचाती है जब शब्द अंदर तक पहुँच जाते हैं, जब संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति होती है तब आत्मा का स्वरूप जानने में आता है, तब उस आत्मा का श्रद्धान भी होता है और आत्मरूप सम्यक् प्रवृत्ति भी होने लगती है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं-''अज्ञापितं न जानन्ति''-बिना बताये तो वह जानने में आता नहीं। मैं जो अपने आप को जानता हूँ वह देह रूप जानता हूँ किन्तु देहरूप मैं हूँ नहीं, और कोई मुझे बतायेगा भी तो देहरूप ही बतायेगा। ये तुम्हारा हाथ है, ये पैर हैं, आंख-नाक-कान हैं आदि-आदि अंगोपांग बताता है ऐसे मैं देहादि को तो जान लेता हूँ किन्तु ऐसे आत्मा को बताया नहीं जा सकता, और दूसरी बात ये है बिना बताये जानने में आता नहीं है तो उस आत्मा को बताने के लिये शब्द कहाँ तक ले जाते हैं जैसे किसी महल के द्वार तक वह शब्दों की गाड़ी जा सकती है, आत्मा के महल में प्रवेश नहीं करती उसको देहरी पर छोड़ना पड़ता है। देहरी पर महल नहीं है देहरी के अंदर जाने के लिये पैदल ही चलना पड़ेगा।

तो जो आत्मा का ज्ञान है भाव ज्ञान है वह तत्त्वज्ञान शब्दों को छोड़कर के अनुभव से आता है। शब्दों का वाहन केवल बाहर तक जा सकता है और भावों का वाहन अंदर में जाता है वह बाहर में पकड़ में नहीं आता भावों को कह नहीं सकते। बिना शब्दों का आलम्बन लिये भावों को तुम बता नहीं सकते। भाषा भावों को व्यक्त करने का एक आलम्बन है। विभिन्न प्रकार की भाषाओं का आधार लेकर के अपने भावों को व्यक्त करने की कोशिश की जाती है। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो बिना शब्दों की भाषा का प्रयोग किये हुये भावों को भावों से पकड़ते हैं।

एक पशु दूसरे पशु को देखता है, आँखों से देखता है यदि एक दूसरे के प्रति प्रेम है तो समझ जाता है या घृणा है तो भी समझ जाता है तो वह भावों से ही भावों को समझ जाता है। किन्तु वह उस भाव को ज्यों का त्यों कह नहीं सकता। समझ तो सकता है। वह दूसरों को समझाने के लिये यह कह सकता है कि ये मुझसे गुस्सा कर रहा था, घृणा या प्रेम जो कुछ भी था वह कर

रहा था, ये शब्द हैं, इन शब्दों का जानकार उन भावों को समझने की चेष्टा कर सकता है। तो ये शब्द माध्यम तो बनते हैं किन्तु यह शब्द वह नहीं है जो आत्मा का स्वभाव है। शब्द तो पुद्गल हैं वे आत्मस्वभाव रूप कैसे हो सकते हैं आत्मा का स्वभाव अलग है, जो उसे नहीं जानता उसके लिये शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। जैसे जंगल में कुछ नहीं है पत्तों को जलाने के लिये तिली की आवश्यकता पड़ती है किन्तु जो स्वयंबुद्ध हों वे दो बांस को आपस में रगड़कर चिंगारी पैदा कर लेंगे।

चिकनी मिट्टी का घड़ा बिन कुम्हार के बनाये बनता नहीं और कुम्हार के बनाये जाने पर भी बालू का घड़ा बनता नहीं। घड़ा तो बनता है चिकनी मिट्टी से किन्तु वह बिना कुम्हार के नहीं बनता और यदि कुम्हार भी हो पर मिट्टी चिकनी नहीं हो तब भी घड़ा नहीं बनता। स्वर्ण के आभूषण स्वर्ण से ही बनेंगे पर बिना स्वर्णकार के नहीं बनते, बिना दर्जी के कपड़ा स्वयं सिलाई कर बन नहीं सकता। यहाँ दोनों बातें कह रहे हैं कि जो व्यक्ति जानना चाहता है उसके लिये दूसरा जानने में निमित्त बन सकता है और जो जानना नहीं चाहता है वह दूसरों को जना भी नहीं सकता।

कोई ये कहे कि मैं तुम्हें समझाकर ही रहूँगा तो ये दंभ है, अहंकार है कोई किसी को समझा ही नहीं सकता। ये तो कहा जा सकता है कि तुम समझना चाहो तो मैं तुम्हें समझाने की चेष्टा करता हूँ। और यदि वह नहीं समझना चाहे तो समझाने वाला कितना ही समझाये समझ नहीं सकता और समझने वाला कह रहा है कि मैं समझना तो चाहता हूँ तुम मुझे थोड़ा सा संकेत कर देना तो मैं एक बार में समझ जाऊँगा उसे थोड़ा आलम्बन या निमित्त चाहिये।

कई विद्यार्थी इतने होशियार होते हैं कि टीचर के पढ़ाये, समझाये बिना खुद ही प्रश्न हल कर लेते हैं किन्तु एक तो हिंट मिले कम से कम। जिनके पास स्वयं की प्रज्ञा है तब भी बिना हिंट के वह जानने में समर्थ नहीं हुआ और जिसके पास स्वयं की प्रज्ञा नहीं है उसे समझा समझा के रह गये तब भी उसको समझ में नहीं आयेगा। तो कह रहे हैं जब जान नहीं सकता उसको समझाना व्यर्थ है और जो आत्मा को जानता है वह भी बिना जनाये नहीं जान सकता, उसके लिये भी थोड़ा बताने की आवश्यकता है। ऐसा नहीं है कि तीर्थंकर आदि जो स्वयं बुद्ध होते हैं उन्हें कोई नहीं पढ़ाता उनके पूर्व के संस्कार होते हैं पहले तो उन्होंने पढ़ा था, सुना था वह देशना काम करती है ऐसा नहीं कि बिना निमित्त के उनका काम हो गया।

इसलिये आचार्य अकलंक स्वामी जी ने कह दिया कि निसर्गज नाम का कोई सम्यग्दर्शन ही नहीं होता। अधिगम अर्थात् ज्ञान। ज्ञान से उत्पन्न हुआ अधिगमज जैसे तीर्थंकर की वाणी सुनी, शास्त्रों का स्वाध्याय किया, मुनिराज ने समझाया तो उससे श्रद्धा बनी धर्म के प्रति, तो वह

अधिगमज सम्यग्दर्शन हो गया। और जो स्वत: ही जातिस्मरण हो गया बैठे-बैठे अचानक ही धर्म के प्रति श्रद्धा जागने लगी तो वह निसर्गज कहलाता है। निसर्गज माने नैसर्गिक, स्वाभाविक रूप से। वे कहते हैं स्वाभाविक रूप से सम्यग्दर्शन होता ही नहीं। आप जो कह रहे हैं वह वर्तमान की अपेक्षा से कह रहे हैं भूतकाल की अपेक्षा से देखो तो संस्कार आये कहाँ से। पहले उपदेश सुना होगा, सम्यक्त्व प्राप्त किया होगा फिर छूट गया पुन: प्राप्त हो सकता है। पहले वह जीव कभी समवशरणादि गया होगा, शास्त्रों को सुना होगा, मुनिमुद्रा को देखा होगा।

मारीची का जीव पहले मुनि बना बाद में कई भवों तक भटकता रहा पुन: सम्यक्त्व को सिंह पर्याय में प्राप्त करता है। यदि मुनिराज का सम्बोधन नहीं मिलता कदाचित् जातिस्मरण हो भी जाये तो वह नैसर्गिक नहीं है। आप कह भले ही लो वर्तमान की अपेक्षा से किन्तु पूर्व के संस्कार काम कर रहे हैं वे जाग्रत हो गये इसलिये उसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया। तो नैसर्गिक नाम की तो कोई चीज है नहीं। वह देशना भी काम करती है। बिना देशना के कोई सम्यक्त्वादि को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। और सबसे बड़ी बात तो ये है कि देशना लब्धि को बीच में रखा है। पाँचों अंगुली में बीच की अँगुली सबसे बड़ी होती है इसलिये देशना लब्धि बीच में रखी है, चाहे दीक्षा कल्याणक हो, चाहे आचार्य परमेष्ठी इन तीनों को बीच में रखा। क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशनालब्धि, प्रायोपगमनलब्धि, करणलब्धि। इनमें देशना लब्धि आगे भी काम करती है पीछे भी काम करती है। दीक्षा कल्याणक का प्रभाव आगे के कल्याणक मे भी है तभी वे गर्भ-जन्म-कल्याणक मनाये जाते हैं यदि दीक्षा न हो तो गर्भ-जन्म-कल्याणक न मनाये जायें और आगे वाले ज्ञान-मोक्ष कल्याणक भी नहीं मनाये जायेंगे। आचार्य परमेष्ठी उपाध्याय-साधु के लिये भी सहयोगी हैं और आचार्य परमेष्ठी अरिहंत-सिद्ध की बात का भी ज्ञान कराने वाले हैं उनके माध्यम से अरिहंत-सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। बीच वाले पर भार ज्यादा होता है वह ऐसी कड़ी है जो दोनों ओर थामने की कोशिश करता है। मध्य दीपक ज्यादा प्रभावी होता है। आदि दीपक अंदर, अंत दीपक बाहर प्रकाश करता है किन्तु देहरी पर मध्य में रखा दीपक अंदर-बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है।

महानुभाव ! यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं मोही जीव जैसे बिना बताये गये को नहीं जानते, वैसे बताये गये को भी नहीं जानते हैं, इस कारण उन मूढ़ जीवों को मेरा समझाने का परिश्रम व्यर्थ है। तात्पर्य यही है कि आत्मस्वरूप को न जानने वाले मूढ़ जनों को समझाने का परिश्रम क्यों नहीं किया जाता ? इस आशंका का एक उत्तर इस श्लोक में है कि मोह में अतिग्रस्त ये प्राणी जैसे अभी न समझाये जाने पर आत्मस्वरूप को नहीं जानते हैं वैसे समझाये जाने पर भी तो नहीं जान पाते हैं। इस कारण मूढ़ आत्माओं के लिये मेरा समझाने का प्रयास निष्फल है। यहाँ ऐसा चिंतन करने वाला आत्म-निष्ठता का रुचिवान् है और जिसके प्रति कहा जा रहा है वह महामोह से ग्रस्त प्राणी है, ऐसे प्राणी को समझाने का परिश्रम उठाने का कषाय भाव आत्म रुचिक ज्ञानी के नहीं होता।

यद् बोधयितु मिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये॥५९॥

अन्वयार्थ-यत्-जिस विकल्पाधिरूढ़ आत्मस्वरूप को अथवा देहादिक को **बोधयितुं**-समझाने-बुझाने की **इच्छामि**-मैं इच्छा करता हूँ-चेष्टा करता हूँ **तत्**-वह **अहं**-मैं नहीं हूँ-आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं हूँ **पुनः**-और **यत्**-जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्म स्वरूप **अहं**-मैं हूँ **तदपि**-वह भी **अन्यस्य**-दूसरे जीवों के **ग्राह्यं न**-उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है-वह तो स्वसंवेदन के द्वारा अनुभव किया जाता है **तत्**-इसलिए **अन्यस्य**-दूसरे जीवों को **किं बोधये**-मैं क्या समझाऊँ ?

यहाँ उपरोक्त श्लोक को पुष्ट करते हुये कह रहे हैं :-

जिस शुद्धात्मा को जानने की मैं इच्छा करता हूँ वह स्वरूप मेरा अभी वर्तमान समय में है नहीं और जो वर्तमान समय में मैं हूँ वह स्वरूप जानने से लाभ क्या है ? मेरी आत्मा अभी विकल्पादि से सहित है, मेरी आत्मा कर्मादि से सहित है, द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म से सहित है उनकी सभी दशा देखने में आ रही हैं। जो ये अशुद्ध आत्मा है यह अशुद्ध आत्मा दूसरों के द्वारा बतायी जा सकती है। संसारी आत्मा जन्म-मरण से युक्त होती है मुक्तात्मा इनसे मुक्त हो गयी, आत्मा ऐसे होती है जो देहादि धारण करती है, वह आत्मा त्रियोगों से मन वचन काय से सहित है, इन्द्रियों से सहित आत्मा की प्रवृत्ति होती है, दस प्राण होते हैं यह सब जो बता रहे हैं वह शुद्धआत्मा के नहीं अशुद्ध आत्मा के बारे में बता रहे हैं। ये आत्मा नहीं है ये तो शरीर के चिह्न बता रहे हैं उस शरीर में आत्मा है इतना तो ज्ञान हो गया किन्तु वह आत्मा है क्या? उस आत्मा को कौन-कैसे बताये? वह आत्मा जो अनुभव के द्वारा जानने के योग्य है।

स्वसंवेदन सुव्यक्त स्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥२१॥ इष्टो.

अपने संवेदन के द्वारा ही वह व्यक्त होती है जानी जाती है अन्य किसी के द्वारा जानी ही नहीं जा सकती। दूसरा व्यक्ति मेरी आत्मा को कैसे जान सकता है। कोई कितना ही निकटवर्ती हो वह भी नहीं जान सकता। जिस खीर के स्वाद को हम स्वयं अनुभव कर सकते हैं क्या वह स्वाद कोई और बता सकता है? यदि जो बता सकता है वह उसका नाम मात्र ले सकता है कि ये दूध है, चावल है, इसे गर्म किया ठंडा होने पर शक्कर मिलायी किन्तु ये सब चीजें स्वाद नहीं है और जो स्वाद है उसे बता नहीं सकता। तो जो मेरी आत्मा है, आत्मा का अनुभव है उसे कोई दे नहीं सकता, मैं भी किसी को नहीं दे सकता। और जिसे मैं दे सकता हूँ या कोई मुझे दे सकता है वह वास्तव में मैं नहीं हूँ। यहाँ कह रहे हैं-जिसे मैं जानने की इच्छा करता हूँ वह मैं नहीं और

जो मैं हूँ वह अन्य के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है। जो मेरा वास्तविक शुद्ध स्वभाव है उसे कोई समझा ही नहीं सकता इसलिये अन्य के लिये भी मैं क्या बोध कराऊँ।

दूसरों के बोध के लिये मैं क्यों बोलूँ, क्या समझाऊँ, मैं उसे क्या बता सकता हूँ, जो कुछ भी मैं बताऊँगा वह सब शब्दों में बताऊँगा, पर शब्द उसकी आत्मा है नहीं उसकी आत्मा उसके स्वयं के अनुभव में ग्रहण हो सकती है, उस अनुभव को मैं दे नहीं सकता। वह अनुभव न लिया जाता है न दिया जाता है जो लिया-दिया जाता है वह शब्द होते हैं उन शब्दों में विचार होते हैं इसलिये जब उनमें कहीं स्वरूप है ही नहीं तो मैं क्यों बताऊँ। बताना तो भटकाने की बात है।

आचार्य महाराज कह रहे हैं अध्यात्म भाषा ऐसी है इसमें शब्दों का ज्यादा प्रयोग मत करो शब्द भी एक परिग्रह है। शब्दों को छोड़ आँख बंद कर आत्मा में लीन हो जाओ तभी जान पाओगे आत्मा है क्या चीज। शब्द साधन बन सकते हैं यदि साधन बनाना चाहो तो किन्तु न बनाना चाहो तो नहीं। जैसे अंगुली आकाश में दिखाकर बताया जाये की देखो वो रहा चन्द्रमा तो अंगुली वह साधन बन गयी कि उधर चन्द्रमा है जहाँ अंगुली का इशारा है उस दिशा में तुम देख सकते हो और माना कि अंगुली न दिखायें मात्र कह दिया चन्द्रमा वो रहा आकाश में, तो व्यक्ति यहाँ-वहाँ देखता रहेगा उसे दिखेगा नहीं। तो शब्दों का इशारा थोड़ा जरूरी है। पर वह शब्द चन्द्रमा नहीं है। इसी प्रकार शब्द आत्मा का अनुभव नहीं है शुद्धात्मा नहीं है किन्तु उन शब्दों के माध्यम से शुद्धात्मा तक पहुँचने में वे शब्द कारण बन सकते हैं।

३२. अन्तर्ज्योति

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्त कौतुकः॥६०॥

अन्वयार्थ-अन्तरे पिहितज्योतिः-अन्तरंग में जिसकी ज्ञान ज्योति मोह से आच्छादित हो रही है-जिसे स्वरूप का विवेक नहीं ऐसा **मूढ़ात्मा**-बहिरात्मा **बहिः**-बाह्य शरीरादि पर पदार्थों में ही **तुष्यति**-सन्तुष्ट रहता है-आनन्द मानता है किन्तु **प्रबुद्धात्मा**-मिथ्यात्व के उदयाभाव से प्रबोध को प्राप्त हो गया है आत्मा जिसका ऐसा स्वरूप विवेकी अन्तरात्मा **बहिर्व्यावृत्तकौतुकः**-बाह्य शरीरादि पदार्थों में अनुरागरहित हुआ **अन्तः**-अपने अन्तरंग आत्मस्वरूप में ही **तुष्यति**-संतोष धारण करता है-मग्न रहता है।

एक महात्मा जी की दो भक्त सेवा करते थे, एक भक्त तो था ग्वाल जो जंगल में अपनी गाय चराता था, महात्मा भी जंगल में रहकर तपस्या करते थे। महात्मा जी के पास बहुत चढ़ावा फूल-पत्र-स्वर्ण रत्न आदि के ढेर लगे रहते थे। साधना से उन्हें कुछ विद्यायें सिद्ध हो गयीं थी। उस महात्मा के पास एक राजकुमार भी आता था उनकी सेवा-पूजा करने। किन्तु दोनों भक्त अनासक्त भाव से उन महात्मा जी की सेवा करते थे। महात्मा जी की मृत्यु समीप आने लगी, उनकी समाधि हुई दोनों भक्त खूब रोये, किन्तु रोने से क्या होता वे दोनों शिष्य तो अनाथ जैसे हो गये। राजकुमार यद्यपि वैभवशाली था फिर भी उसे गुरु महाराज के आशीर्वाद का बहुत भरोसा था उन्हीं की कृपा दृष्टि से मेरा राज्य सकुशल चल पा रहा है, अभी मेरे पिता राज्य कर रहे हैं मैं राजगद्दी पर बैठता इससे पहले ही महात्मा जी चल बसे। ग्वाले को भी उनकी कमी बहुत खल रही थी।

महात्मा जी का जो आश्रम था वहाँ दो कक्ष थे एक में उनका सामान था सोने के सिक्के मोहरे रत्नादि। दूसरे कक्ष में कुछ लकड़ियाँ सी रखी थी, खड़ाऊँ रखी थी कुछ अन्य अस्त्र-शस्त्र रखे थे। अब राजकुमार व ग्वाल दोनों वहाँ आये, कहने लगे महात्मा जी की सम्पत्ति है इसे और तो कोई लेता नहीं राज्यधर्म कहता है कि महात्मा की सेवा हम दोनों ने की है इस पर हम दोनों का अधिकार है। ग्वाला सोचता है सेवा के बदले में मेवा मिलती है अर्थात् सम्पत्ति मिल रही है वह ग्वाल बोला हिस्सा कैसे करोगे, राजकुमार बोला दो कमरे हैं एक कमरे की सम्पत्ति तू लेले, एक कमरे की सम्पत्ति मैं ले लेता हूँ। ग्वाल बोला-(मन में) दूसरे कमरे में तो कुछ है नहीं लकड़ी आदि रखी है और पहले वाले कमरे में स्वर्ण मोहर रत्न आदि रखे हैं लगता है राजकुमार ये खजाने वाला कमरा लेना चाहता है और मुझे ग्वाल समझकर ये लकड़ी आदि देना चाहता है गाय हाँकने के लिये। उधर राजकुमार सोच रहा है कहीं ये ग्वाल लकड़ी आदि न मांग ले ये खजाने वाला

कमरा माँग ले तो ठीक है। बाद में राजकुमार ने कहा-ग्वाल जो तुझे चाहिये वह तू पहले माँग ले। वह डरते-डरते बोला मुझे खजाने वाला कमरा चाहिये, राजकुमार ने कहा ठीक है दिया। वह ग्वाला बैलगाड़ी लेकर आया और रत्नों को, मोहरों को, सिक्के आदि उसमें भरकर ले जाता है।

राजकुमार ने दूसरा कमरा खोला उसमें लकड़िया, लकड़ी का विमान, खड़ाऊँ थी जिसे पहनकर आकाश में चल सकते थे, वह विमान आकाश में उड़ सकता था इच्छित स्थान पर ले जा सकता था। एक लाठी रखी थी उससे कुछ नहीं करना था बस इतना कहना था शत्रु की सेना आ रही है वह सेना चाहे हजार की हो या लाख की हो पूरी सेना में लाठी ही लाठियाँ हो जाती इतनी लाठियाँ बन जाती थी कि पूरी सेना को लाठी से तड़-तड़ कर हरा दिया जाये लाठी मारने वाला दिखाई नहीं देता था। वह राजकुमार उन दिव्य वस्तुओं को लेकर चला गया।

इस दृष्टान्त से मैं आपको यह समझाना चाह रहा था कि मूढ़ात्मा व्यक्ति बाह्य पदार्थों से संतुष्ट हो जाता है। ग्वाल की बुद्धि उतनी ही थी रत्न-स्वर्ण मोहर तक। राजकुमार कहता है यह तो मिट्टी है कुछ नहीं। जो जिसका गुण जानता है वह उसी को ग्रहण करना चाहता है।

जो जाकौ गुण जानही, सो तिहिँ आदर देत।
कोयल अंबहि लेत है, काक निबौरी लेत॥

कौवा नीम की निबोरी का गुण जानता है तो उसे ग्रहण करता है और कोयल आम का गुण जानती है तो आम को खाती है।

ऐसे ही बहिरात्मा वीतरागी भगवान् को प्राप्त करके भी संसार का वैभव माँगता है। वह बाह्य वस्तुओं में संतुष्ट हो जाता है वह कभी ये नहीं कहता हे प्रभु ! मुझे आत्मा का वैभव मिल जाये मैं आत्मतत्त्व को, आत्मज्ञान को प्राप्त हो जाऊँ, मैं बस संसार के बंधनों से मुक्त होना चाहता हूँ। वह शब्दों से कह भले ही देगा पर अपने शब्द जालों को तोड़ेगा नहीं। वह शब्द जाल बनाता जायेगा, उसे पुष्ट करता जायेगा। मोह के बंधनों को तोड़ना नहीं चाहता। ऐसी बहिरात्मा की प्रवृत्ति रहती है।

अन्तरात्मा क्या चाहता है-अन्तर्ज्योति। किन्तु बहिरात्मा क्या चाहता है-चाँदी का दीपक, सोने का दीपक। वह कहता है दीपक मुझे दे दो मैं रात्रि में दीपक लेकर जाऊँगा, बहिरात्मा सोने चाँदी के दीपक मांगता है। ऐसा दीपक माँगता है जिसमें ज्योति ही नहीं है। अन्तरात्मा कहता है दीपक चाहे मिट्टी का ही हो पर जिसकी ज्योति अच्छी हो वह दे दो। जैसे आप यदि समझदार हैं तो कहेंगे टॉर्च चाहे 10 रु. वाली हो या 100 रु. वाली यदि उसमें अच्छा प्रकाश है तब तो काम की है अन्यथा टॉर्च कितनी ही महंगी हो यदि प्रकाश नहीं देती सेल नहीं है तो काम की नहीं बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो अच्छी रोशनी वाली टॉर्च लेना चाहेगा।

अन्तरात्मा-बहिरात्मा में यही अंतर है अन्तरात्मा ज्योति देखता है बहिरात्मा बाहर की चीज देखता है। यहाँ यही कह रहे हैं ''बहिस्तुष्यति मूढ़ात्मा-मूढ़ात्मा बाह्य पदार्थों में संतुष्ट हो जाता है। जिसकी अन्तर्ज्योति नष्ट हो गयी है ऐसे बाह्य पदार्थों को देखता है। उसका ज्ञान ऐसा है कि दीपक तो पकड़ता है किन्तु बुझे हुये को पकड़ता है। किन्तु 'तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा' प्रबुद्धात्मा अंतरंग से तुष्ट होता है। बाह्यवस्तुओं को खेल-खेल में छोड़ देता है। जैसे राजकुमार ने स्वर्ण मुद्राओं को कौतुक वश छोड़ दिया अरे ग्वाले तू ही ले जा, उस राजकुमार को उन स्वर्ण मुद्राओं को छोड़ने का कोई गम नहीं हुआ।

बाह्य वस्तुओं को छोड़ने में अन्तरात्मा को खेद नहीं होता अपितु कौतुक होता है। किन्तु बहिरात्मा उन बाह्य वस्तुओं के प्रति अपने प्राण भी दे देगा। क्योंकि वह अंतरंग के वैभव को जानता ही नहीं है। इसलिये आचार्य महोदय कह रहे हैं ज्ञानी व अज्ञानी की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न होती है। क्योंकि दोनों के दृष्टिकोण अलग-अलग हैं। गलती किसी की नहीं है तात्पर्य यही है-जिसका ज्ञान महान् मोह से तिरोभूत हो गया है ऐसा पर्यायबुद्धि मूढ़ जीव क्योंकि उसे सारभूत सुखसाधन, शरीरादिक बाह्य पदार्थ ही दिखते हैं इस कारण शरीरादिक पदार्थों के पुष्ट होने में संतोष करता है किन्तु जिसका ज्ञान मोह से तिरोहित नहीं है यथार्थ स्वरूप प्रबोध जाग गया तो वह क्योंकि आत्मानुभूतिज सहज आनन्द का अनुभव कर चुकने से शरीरादिक बाह्य पदार्थों से अनुराग हट गया है इस कारण चिदानन्दस्वरूप निज ज्योति के दर्शन में, आश्रय में संतोष करता है। कल्याणार्थी पुरुष को उत्तम आनन्दमय विकास पाने के लिये अन्तः स्वरूप का श्रद्धान व अनुष्ठान करना चाहिये यह शिक्षा इस श्लोक से ग्रहण करनी चाहिये।

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते॥६१॥

अन्वयार्थ-अन्तरात्मा विचारता है-**शरीराणि**-ये शरीर **सुख-दुःखानि न जानन्ति**-जड़ होने से सुखों तथा दुःखों को नहीं जानते हैं **तथापि**-तो भी (ये जो जीव) **अत्रैव**-इन शरीरों में ही **निग्रहानुग्रहधियं**-उपवासादि द्वारा दंडरूप निग्रह की और अलंकारादि द्वारा अलंकृत करने रूप अनुग्रह की बुद्धि **कुर्वते**-धारण करते हैं **ते**-वे जीव **अबुद्धयः**-मूड़बुद्धि हैं-बहिरात्मा हैं।

जो मूढ़ात्मा हैं वे शरीर को आत्मा से पृथक नहीं जानते यदि शरीर को आत्मा से पृथक जान ले तो अपनी आत्मा के अस्तित्व को जानने में समर्थ हो जायें। वे शरीर के ह्रास को अपना ह्रास, शरीर के विकास/वृद्धि को आत्मा की वृद्धि मानता है। अब मैं रोगी हो गया, कमजोर हो गया, वह शरीर में ही अपनी आत्मा का निरूपण कर लेता है। किन्तु आचार्य महोदय कह रहे हैं जिसने अपने शरीर को आत्मा मान लिया है वह तो कभी आत्मा को जान ही नहीं सकता।

पहले शरीर को तो शरीर मान ले तब आत्मा तक पहुँच सकता है, ये तो शरीर हो गया, तो आत्मा क्या है ? आप बचपन में खेलते थे छू कर बता, छू लिया तो कहता है ये तो मेरा हाथ छूआ है मुझे छूकर बता। फिर सिर छूआ तो कहता है ये तो मेरा सिर है ऐसे-ऐसे करके कहता रहता है ये तो मेरा शरीर छूआ है मुझे छूकर बता ऐसा खेल बच्चे बचपन में खेलते थे, वास्तव में बचपन में तो हम नहीं जानते थे कि ये तो हाथ-पैर हुये जीव कहाँ है। ये छूने वाली तो देह थी। जब मृत्यु होती है तो शरीर तो यहीं रह जाता है आत्मा जो निकल जाती है उसे छूकर बताओ। व्यक्ति जब गहराई में जाता है कि शरीर तो शरीर है फिर आत्मा कहाँ है फिर वह आत्मा की खोज करेगा। जिसने शरीर को ही आत्मा मान लिया तो फिर उसे आत्मा को खोजने की आवश्यकता ही नहीं।

यहाँ कह रहे हैं जो अबुद्ध है वह सुखों को, दु:खों को जानता नहीं है। वह संसार में जो पुद्गल के माध्यम से सुखाभास या दु:ख मिल रहे हैं उन्हें ही वह सच्चा सुख-दु:ख मान लेता है। शरीर को अलग से नहीं जानता। उसे यदि एक बार भान हो जाये कि ये संसार के सुख भी दु:ख ही हैं, सुख तो सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के क्षय होने पर प्रकट होता है वह आत्मा का गुण है। सुख मेरी आत्मा में पैदा होता है सुख वस्तुओं से पैदा नहीं होता।

कोई किसी अच्छे व्यंजन को खाकर कहे वाह ! आनंद आ गया, अच्छी फिल्म को देखकर कहे वाह ! क्या फिल्म थी तो यह सब आनंद तो इन्द्रिय से संबंधित है ये सब बाहर के आनंद हैं, आत्मा का आनंद इन सबसे पृथक है। इन सबके बिना आत्मा का आनंद आ सकता है और इन्हें भी आत्मा के आनंद में निमित्त बना सकते हो किन्तु ये आनंद के कारण नहीं हैं। माना कि कोई शब्द सुने सुनकर आँख बंद करके बैठ गये आनंद का अनुभव कर रहे हैं किन्तु आत्मा का आनंद तो पुद्गल से रहित है।

मूर्ख व्यक्ति उस आनंद (सच्चे सुख) को नहीं जानता। मूर्ख व्यक्ति संसार के सुख को दु:ख नहीं मानता तो वह न सुख को जानता है न दु:ख को जानता है। संसार का सुख, दु:ख ही है।

वह इन पुद्गलों को ही ग्रहण करता है, इन्हें ही छोड़ता है इनमें ही सोचता है कि ये मेरा उपकार करने वाला है ये मेरा अपकार करने वाला है, उसके बाहर वह जा ही नहीं पाता। वह किसी पुद्गल को छोड़ देता है यह मानकर कि इससे मुझे कष्ट होता है। जैसे कोई कंकड़-पत्थर वाला रास्ता है वह दु:ख का कारण है इसलिये छोड़ दिया, जो रास्ता स्वच्छ है, चिकना है उसे चुन लिया हाँ ये सुख का कारण है तो उसने उस पुद्गल में ही सुख-दु:ख खोज लिया।

संसार की पौद्गलिक वस्तुओं में ही सुख-दु:ख का कारण वह मूर्ख (बहिरात्मा) ढूँढ़ता रहता है। जब गरीब या भूखा था सूखी रोटी भी मिल गयी तो वह उस समय सुख का कारण थी किन्तु

आज चंद पैसे आ गये तो वही रोटी अब बुरी लग रही है, दु:ख का कारण बन गयी, थोड़ी देर बाद अच्छी ताजी रोटी आ गयी तो कहता है ये अच्छी है पुन: उसकी जगह पूड़ी-कचौड़ी आ गयी तो वह ताजी रोटी बुरी लग रही है। तो जो पौद्गलिक पदार्थ हैं वही उसके लिये सुख-दु:ख का कारण प्रतीत होते हैं। बेटा यदि आज्ञाकारी है तो सुख का कारण बन जाता है यदि उसी बेटे ने कड़वे वचन कह दिये तो दु:ख का कारण बन जाता है, भाई-भाई में प्रेम है तो सुख, यदि भाई ही बैरी बन जाये तो वही दु:ख का कारण बन जाता है।

महानुभाव ! संसार की जिन-जिन वस्तुओं से परिचय हो गया है यह मूढ़ उनमें ही भेद करता रहता है जिंदगी भर सुख-दु:ख का कारण खोजता रहता है और होता यह है जो सुख का कारण है वह दु:ख का कारण होता है और जो दु:ख का कारण है वह सुख का कारण होता है। वह संसारी प्राणी अपने मनोनुकूल व प्रतिकूल लगने पर सुखी दु:खी होता रहता है।

जैसे-पवनंजय के लिये अंजना पहले दु:ख का कारण लगती थी जब युद्ध के लिये जा रहा था वह सामने आ गयी तो अपशब्दों के माध्यम से उसका तिरस्कार किया और धक्का देता हुआ निकल गया। बाद में मानसरोवर पर चकवा-चकवी के वियोगी दृश्य को देखकर उसका हृदय द्रवीभूत हो गया अरे ! यह तो वही मानसरोवर है जहाँ बाईस वर्ष पहले मैं अंजना के लिये तड़पता रहा, इसी सरोवर में स्नान करते हुये मैंने महलों में खड़ी अंजना को देखा था जिस पर मैं मोहित हुआ। मेरे पिता व उसके पिता हमारे संबंध से प्रसन्न भी हुये किन्तु विवाह होने से पूर्व कुछ दिनों का वियोग भी मैं जिस अंजना का सहन न कर सका जैसे ये चकवा-चकवी एक-दूसरे के बिना अपनी रात्रि नहीं व्यतीत कर पा रहे हैं। उनके मन में स्वयं से ग्लानि हो गयी वह उसी क्षण अपने मित्र से कहकर अंजना से मिलने जाता है। कहने का आशय यह है वही अंजना उस समय दु:ख का कारण थी और आज वही अंजना सुख का कारण बन गयी।

संसार में यह अज्ञानी प्राणी इन्हीं में लगा रहता है। एक उत्कृष्ट वस्तु दूसरी उससे भी उत्कृष्ट वस्तु के आते ही निकृष्ट हो जाती है। वह निर्णय बुद्धि से जीते हैं और वह निर्णयबुद्धि करते हैं पौद्गलिक पदार्थों में। एक वस्तु का आकर्षण दूसरी वस्तु के विकर्षण का कारण बन जाता है। यहाँ यही बता रहे हैं, जो अबुद्धिमान है, मूर्ख है, बहिरात्मा है पर्याय को ही द्रव्य मानकर बैठ गया है ऐसा व्यक्ति शरीर के सही स्वरूप को नहीं जानता है, फिर उसकी बुद्धि निग्रह की और अनुग्रह (ग्रहण व छोड़ने) की हो जाती है। सर्दी में धूप उसे अच्छी लग रही थी गर्मी में वह धूप प्राणों को हरने वाली बन जाती है। संसारी व्यक्ति उन्हीं वस्तुओं में गुणाभाग करता रहता है।

व्यक्ति बच्चों के खेल को तो खेल समझता है किन्तु खुद भी वही खेल रहा है। पर उसको ही जीवन की सच्चाई सुख-दु:ख मान लेता है। बच्चे भी खेलते हैं कागज के टुकड़े एकत्रित कर

लिये और वे कहते हैं ये हमारे नोट हैं, या मिट्टी के घरौंदे बनाकर कहते थे ये हमारा महल है उस पर एक कागज का सा झंडा लगा दिया, अंगुली से लाइन खींच दी ये हमारे नगर की सीमा है, ये मेरा राज्य हो गया तो ऐसे खेल बच्चे खेलते थे। बच्चों के उन खेलों को देखकर बड़े लोग हँसते थे ये कोई राज्य है क्या या बच्चों का झगड़ा होता पिताजी इसने मेरा नोट छीन लिया, इसने मेरा महल तोड़ दिया बच्चों की उन मासूम हरकतों को देखकर हँसते थे और उन्हें समझाते थे कि बेटा ये सब कागज मिट्टी के हैं असल के नहीं। आप बच्चों पर हंसते हैं साधु आप लोगों को देखकर हँसते हैं भईया! वे बच्चे हैं तुम भी तो बच्चे हो उनके पास भी कागज के नोट हैं तुम्हारे पास भी कागज के नोट हैं। बच्चों ने मोहर नहीं ठोकी हाथ से 100, 50, 1000 रु. लिख दिये और तुमने उन कागजों पर मुहर ठुकवा रखी है, बच्चा चमकते हुये काँच के टुकड़े ले आया, तुम्हारे पास भी तो रत्न है अंतर क्या है। उसके मिट्टी के घरोंदे हैं आपने थोड़े चूने-पत्थर के मकान बना लिए अंतर कहाँ रहा। वह अपने गुड्डा-गुड़िया के खेल में मस्त है, उनके लिये भूखा-प्यासा खेल रहा है। आप अपने गुड्डा गुड़िया, बुढ्ढा-बुढ़िया के चक्कर में लगे हो।

महानुभाव ! साधु यही सोचते हैं आपके खेल भी तो वही बच्चों जैसे खेल हैं तुम्हारी बुद्धि में अभी अंतर आया कहाँ। अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि व्यक्ति उसी में लगा रहता है क्योंकि अनादि से उसमें यही संस्कार पड़े हुये हैं। पशु-पक्षी भी अपने परिवार के लिये गुहा, घरोंदे बनाते हैं एक-एक तिनका जोड़ते हैं अन्तर कहाँ है। विषयों का सेवन तुम करते हो वे भी करते हैं, जो चार संज्ञा तुम्हारे साथ हैं वहीं चार संज्ञा उनके साथ लगी हैं अब ये बताओ अज्ञानी-ज्ञानी में अंतर आया कहाँ। यदि आप उसे अज्ञानी कह-रहे हो तो आप ज्ञानी कैसे हो गये, प्रवृत्ति में कुछ अंतर तो आना चाहिये। यदि अंतर नहीं आया तो दोनों एक जैसे हैं।

आत्मा के स्वभाव का चिंतवन करो, ध्यान लगाओ, जब तक स्वयं का मन पक्का नहीं होगा कब तक कोई संसारी प्राणी धक्का देकर नहीं कहेगा कि जाओ और दीक्षा लेकर अपना कल्याण करो। जब तक तुम्हारा शरीर चल रहा है तब तक सब तुमसे स्नेह कर रहे हैं जब शरीर साथ नहीं देगा तब तुम्हें स्वयं अपने-पराये का भेद मालूम पड़ जायेगा। जब तक शरीर में दम-खम है, बुद्धिमान व्यक्ति तब तक ही अपना कल्याण कर लेता है बाद में जब कल्याण का समय निकल गया तो शरीर ही अपना बोझ जैसा बन गया। स्वयं पुण्य का, धर्म का कार्य ही नहीं कर पा रहे तो दूसरों का क्या कर पायेंगे।

महानुभाव ! यहाँ यही बताया कि अज्ञानी की प्रवृत्ति अलग व ज्ञानी की प्रवृत्ति कुछ अलग होती है। अज्ञानी का परिचय केवल पुद्गल से है। जिंदगी भर उसी में निग्रह-अनुग्रह करता रहता है और ज्ञानी पुरुष उसे छोड़कर आगे बढ़ जाता है, यहाँ इस श्लोक से आचार्य महाराज यही शिक्षा

दे रहे हैं कि जड़ शरीर पर कुछ न आजमाओ अपने विकल्प पर निग्रह करो और सहज आत्म स्वरूप के विकास करने का अनुग्रह करो।

स्वबुद्ध्या यावद् गृह्णीयात् कायवाक्-चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः॥६२॥

अन्वयार्थ-यावत्-जब तक **कायवाक् चेतसां त्रयम्**-शरीर वचन और मन इन तीनों की **स्वबुद्धया**-आत्मबुद्धि से **गृह्णीयात्**-ग्रहण किया जाता है **तावत्**-तब तक **संसारः**-संसार है **तु**-और जब **एतेषां**-इन मन, वचन, काय का **भेदाभ्यासे**-आत्मा से भिन्न होने रूप अभ्यास किया जाता है तब **निर्वृतिः**-मुक्ति की प्राप्ति होती है।

संसार कब तक है जब तक मन-वचन-काय से आत्मबुद्धि ग्रहण की जाती है तब तक ये संसार है।

जब मन से भी निकल जाये ये मैं नहीं हूँ, वचन से भी यहीं आये कि ये मैं नहीं हूँ, और शरीर की चेष्टाओं में भी ये आने लगे कि ये मैं नहीं हूँ ये हमारी बुद्धि में आ जा जाये। किन्तु शरीर ही मैं हूँ यह हमारी बुद्धि में घुस गया है इसलिये विचारों में भी यही ख्याल आता है कि यही तो मैं हूँ। वचनों से भी कह देते हैं वह तू है, यह (शरीर) मैं हूँ। शरीर की चेष्टा भी ऐसी होती है उसी की (शरीर) रक्षा करने का भाव जाग्रत रहता है। कहीं कोई रोग-शोक न हो जाये। आत्मा का बिगाड़ भले ही हो जाये पर शरीर का बिगाड़ न हो जाये क्योंकि आत्मा को जानता ही नहीं है।

जब तक हम शरीर व वचनों से तो कह रहे हैं कि शरीर अलग है-आत्मा अलग है किन्तु यदि मन में विचार पल रहा है कि जो है सो है। तीन योग में से कहीं भी किसी भी प्रकार से यह विचार चल रहा है कि यह मैं हूँ तब भी निर्वृत्ति नहीं है। वचनों से कहते जा रहे हो ये मैं हूँ तो वे संस्कार छूटेंगे कैसे फिर वह बात मन में भी आ जायेगी या शरीर से प्रवृत्ति ऐसी कर रहे कि यह शरीर मेरा है, इसी-इसी का ध्यान रख रहा है तो भी निर्वृत्ति नहीं है। जब मन-वचन-काय तीनों से भेद विज्ञान हो उसका अभ्यास हो तब मुक्ति की प्राप्ति होती है। क्योंकि होता क्या है कि पुराने संस्कार बार-बार निकल कर आ जाते हैं। बुद्धि पूर्वक, शक्तिपूर्वक, पुरुषार्थ पूर्वक उन पुराने संस्कारों को नष्ट करना पड़ता है।

बेशर्म का पेड़ बार-बार किसान उखाड़कर फेंक देता है फिर भी आता है। वह काटता जाता है, वह पुनः बढ़ता जाता है। अब उस बेशर्म के पेड़ को उखाड़कर फेंकना है और गुलाब का पेड़ लगाना है इस बेशर्म के पेड़ की वजह से गुलाब का पेड़ नहीं लग पा रहा क्योंकि बार-बार वही बेशर्म का पेड़ उग आता है। तो हमें भी पुराने संस्कारों को तो उखाड़कर फेंकना है फिर नये

संस्कारों का बीजारोपण करना है। अच्छे संस्कार जैसे तत्त्व चिंतन, अभी तो चिंतन सुबह से शाम तक राग-द्वेष का, बुराई भलाई का, संसारिक कर्त्तव्यों का चलता रहता है, निरंतर दिमाग में टी. वी. सी चलती रहती है ये करना है वो करना है दिमाग में से जब ये बातें निकल जायें तब तो ठीक है क्योंकि हम चाहें या न चाहें बातें तो संस्कारवशात् चलती ही रहती हैं।

जब तक बुद्धि पूर्वक इन विकल्पों को रोंकेंगे नहीं इस असद् चिंतन की धारा को रोकेंगे नहीं तब तक यूँ ही चलती रहेगी। कई बार प्रैक्टीकल करके देखना कि घंटे-दो-घंटे यूँ ही आलतू-फालतू के चिंतन में निकल जायेंगे जिससे तुम्हें कुछ लेना नहीं, देना नहीं किन्तु अनावश्यक रूप से जो बात घुस गयी वही अपना घर बना लेती हैं। ऐसी हमारे मन में एक नहीं हजारों बातें बैठी हैं, जब एक बार प्रवेश कर जाती हैं तो इनका निकालना मुश्किल हो जाता है।

महानुभाव ! यहाँ कह रहे हैं-मन से, वचन से, काय से तीनों योगों से बार-बार अभ्यास करो, मन से चिंतवन करो, वचनों से बोलो कि ये शरीर जो है वह मैं यानि आत्मा नहीं, आत्मा इसके अंदर है। आत्मा मेरा अमूर्तिक है, ज्ञानमय है, दर्शनमय है, शाश्वत है सिद्धों जैसा मेरा स्वरूप है, बार-बार शब्दों को मुँह से बोलो और शरीर से बार-बार कहो ये तो शरीर है, ये घोड़ा है इस पर बैठकर हमें मोक्षपुरी जाना है। मैं घोड़ा नहीं हूँ ये शरीर रूपी घोड़ा है जिस पर मैं आत्मारूपी सवारी बैठकर जाऊँगा। मुझे इस घोड़े की सेवा नहीं करनी है, अपनी सेवा करनी है। मात्र घोड़े को खिला पिला कर काम नहीं चलेगा कि घुड़सवार तो भूखा प्यासा है और घोड़ा तंदरुस्त अर्थात् आत्मा को भी खुराक देना है।

उस आत्मा को जिनवचनामृत के माध्यम से पुष्ट करना है, संयम के माध्यम से पुष्ट करना है यदि मैं ज्ञान संयम श्रद्धा ये आत्मा को नहीं दूँगा तो आत्मा भूखी प्यासी तड़प जायेगी। श्रद्धा का नीर ही आत्मा की तृषा को शांत करने वाला होता है, संयम रूपी खीर ही आत्मा की भूख को मिटाने वाली होती है। ज्ञानामृत आत्मा को आनंद को देने वाला है ये सब बार-बार आत्मा के लिये चाहिये। व्रत उपवास करके जो आनंद आता है वह आनन्द खाकर नही आता।

तो महानुभाव ! आचार्य महाराज कह रहे हैं यह प्राणी शरीर वचन, मन इन तीनों से यह मैं हूँ ऐसी आत्मबुद्धि से जितना स्वीकार करता है उतना उसका संसार है और जब शरीर वचन मन से ये मेरे आत्मा से भिन्न हैं ऐसा भेद विज्ञान का अभ्यास हो चुकता है और उनसे भिन्न चिदानन्द स्वरूप मात्र आत्मा का अनुभव कर लेता है तब इस आत्मा का निर्वाण होता है। अतः कल्याणार्थी पुरुष का कर्त्तव्य है कि अपने को शरीर वचन मन से भिन्न ज्ञानानन्द मात्र अनुभव करे।

३३. आत्मदर्शन का उपाय

घने वस्त्रे यथात्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः॥६३॥

अन्वयार्थ-यथा-जिस प्रकार **वस्त्रे घने**-गाढ़ा वस्त्र पहन लेने पर **बुधः**-बुद्धिमान पुरुष **आत्मानं**-अपने को अपने शरीर को **घनं**-गाढ़ा अथवा पुष्ट **न मन्यते**-नहीं मानता है **तथा**-उसी प्रकार **स्वदेहेऽपि घने**-अपने शरीर के भी गाढ़ा अथवा पुष्ट होने पर **बुधः**-अन्तरात्मा **आत्मानं**-अपने जीवात्मा को **घनं न मन्यते**-पुष्ट नहीं मानता है।

यदि कोई व्यक्ति मोटा कपड़ा पहन ले तो मोटा कपड़ा पहनकर मोटा नहीं हो गया। कहने में भले ही कह लो ऐ मोटे ! इधर आ। व्यक्ति मोटा नहीं है, मोटा वस्त्र पहना है। जिसने पतला वस्त्र पहन लिया ऐ पतले ! इधर आ। तो पतला वस्त्र पहनकर व्यक्ति पतला नहीं हो गया ऐसे ही देह मोटी हो जाने से आत्मा मोटी नहीं हो जाती जो ज्ञानी पुरुष है उसकी आत्मा मोटी नहीं मानी जाती।

चींटी के शरीर में कोई आत्मा है तो आत्मा छोटी नहीं हो गयी, और हाथी के शरीर में कोई आत्मा है तो बड़ी नहीं हो गयी। आत्मा चाहे कितने ही सूक्ष्म से सूक्ष्म शरीर में क्यों न हो, कई बार बरसात में कागज में बहुत छोटा सा जीव लग जाता है इतना छोटा कि उन 50 जीवों को एक साथ रखोगे तो चींटी के आकार जितने बड़े दिखेंगे। ऐसा छोटा कीड़ा उसमें भी असंख्यात आत्म प्रदेश हैं। जितने प्रदेश उसमें हैं उतने ही प्रदेश महामच्छ जो 500 योजन चौड़ा 1000 यो. लम्बा 250 यो. मोटा होता है (1 हजार यो.=4000 कोष/8 हजार मील/13,000 कि.मी. लम्बा) इससे आधा चौड़ा लगभग 6.500 कि.मी. चौड़ा और लगभग 3750 कि.मी. की मोटाई इतना बड़ा वह महामत्स्य है जो स्वयंभूरमण समुद्र में रहता है। उसके शरीर में भी उतने ही आत्मा के प्रदेश हैं जितने उस सूक्ष्म जीव में हैं।

जल की एक बूंद में वैज्ञानिक कहते हैं 36450 जीव होते हैं जैनदर्शन कहता है कि एक बूंद में असंख्यात जीव होते हैं। यदि वैज्ञानिकों की माने कि एक बूंद में 36450 जीव होते हैं तो उसमें से एक जीव कितना छोटा होता होगा उस छोटे से जीव में भी उतने ही प्रदेश हैं जितने प्रदेश उस महामत्स्य में हैं। आत्मा छोटे शरीर में छोटी नहीं हो जाती, बड़े शरीर में बड़ी नहीं हो जाती आत्मा सबकी बराबर है। भगवान् महावीर स्वामी जिस शरीर से मोक्ष गये थे वह 7 हाथ का था और आदिनाथ भगवान् का शरीर 2 हजार हाथ का था, बाहुबली का 2100 हाथ का था। दोनों के शरीर भले ही छोटे-बड़े थे किन्तु आत्मा सबकी एक बराबर, एक जैसी है कोई अन्तर नहीं है आत्मा में।

महानुभाव ! आचार्य भगवन् बहुत अच्छा उदाहरण दे रहे हैं। कोई व्यक्ति बहुत बड़ी कोठी में रहता है तो उससे कहने लगते हैं ये बड़ा आदमी है, यदि कोई व्यक्ति मोटी दीवार वाले घर में रहता है तो उसे मोटी दीवार वाले कहो तो चलो ठीक है। किन्तु ये कहाँ तक उचित है कि उसे भी कहो ऐ मोटे व्यक्ति, कैसे कह सकते हो, वह तो दुबला पतला व्यक्ति है तो ऐसे ही बता रहे हैं। जब मकान की दीवार मोटी होने से व्यक्ति मोटा नहीं हो जाता व्यक्ति मोटा कपड़ा पहनने से मोटा नहीं हो जाता या मोटे-मोटे वस्त्रों को ओढ़ने से मोटा नहीं हो जाता ऐसे ही मोटे शरीर में आत्मा के रह जाने से आत्मा मोटी नहीं कहलाती। जैसे व्यक्ति का वह शरीर अलग वस्त्र अलग है, मकान अलग शरीर अलग है उसी प्रकार व्यक्ति का शरीर अलग है और आत्मा अलग है।

किसी पतले से व्यक्ति को देखकर एक व्यक्ति कहता है अरे ! ये मरियल सा व्यक्ति क्या करेगा? अरे आप इसकी बात कह रहे हो, ये जो तुम्हारे पैरों के नीचे छोटी सी चींटी है हो सकता है तुमसे पहले सिद्ध हो जाये। क्या सोचते हो कि हम बहुत बड़े व्यक्ति बन गये। कुछ नहीं यह शरीर तो सब पुद्गल है। चक्रवर्ती भी कोई बन गया 6 खण्ड का राजा हो गया वह जिस चींटी पर पैर रख रहा है क्या पता वह चींटी चक्रवर्ती से पहले मोक्ष चली जाये। चक्रवर्ती भले ही परिग्रह की आसक्ति से नरक चला जाये और चींटी कषाय की मंदता से मनुष्य भव प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण कर स्वर्ग चली जाये वहाँ से च्युत हो पुनः मनुष्य बन मोक्ष को प्राप्त कर जाये।

किसी कुत्ते को देखकर जिसके शरीर में कीड़े लगे हुये हों, जिसे देखकर तुम ग्लानि कर रहे हो और यदि कोई जीवंधर स्वामी जैसे महापुरुष आ गये, सुना दिया णमोकार मंत्र, बन गया देव आगे भव में तपस्या करके मोक्ष भी जा सकता है।

ऐसे कितने उदाहरण आते हैं जिनमें सामान्य से पशु पक्षी चाहे बैल जिसे पद्मरुचि सेठ ने णमोकार मंत्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह बैल देव हुआ, आगे सुग्रीव हुआ व मोक्ष को प्राप्त कर लिया। वह माँसभक्षी सिंह जो संबोधन मात्र से कुछ भवों में अंतिम तीर्थेश हो गया। हाथी का जीव जो आगे चलकर पार्श्वनाथ हुये, वे नाग-नागिन जो धरणेन्द्र-पद्मावती हुये। जटायुपक्षी जिसे रामचन्द्र जी ने संबोधन दिया तो उस पक्षी ने भी अपना भव सुधारा। वे नेवला बंदर सूकर आदि जीव मात्र आहारदान की अनुमोदना से आगे भरत, बाहुबली आदि-आदि आदिनाथ के पुत्रादि हुये। वह सामान्य सा सुभग ग्वाला जो णमोकार मंत्र के एक पद पर श्रद्धान कर नदी में कूद गया पुनः अगले ही भव से सेठ सुदर्शन बन पटना से मोक्ष को प्राप्त हुआ। वे कुरूपिणी स्त्रियाँ जो लब्धि विधान व्रत के प्रभाव से आगे चलकर इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति, वायुभूति हुईं। वह दुर्गंधा कन्या तुंगभद्रा जिसने मौन एकादशी व्रत किया व उसके प्रभाव से आगे सुकुमाल मुनिराज हुये।

महानुभाव ! हमारा जिनागम ऐसे एक नहीं अनेकानेक दृष्टांतों से भरा हुआ है जहाँ सामान्य तिर्यंच प्राणी को धर्म का उपदेश सुना दिया तो वह उन दुःखों से मुक्त हो गया। कोई

व्रत-उपवास-पूजा-पाठ नहीं किये अंत में बस पंचपरमेष्ठी की श्रद्धा कर ली उसी श्रद्धा के साथ शरीर छोड़ दिया और देवावस्था को प्राप्त कर लिया। और सामान्य मनुष्य वे माली की कन्या पुष्पलता और कुसुमलता जो मंदिर के अंदर ही नहीं गयी मात्र देहरी पर फूल चढ़ाने से सौधर्म इन्द्र की देवांगनाये बन गयीं। ऐसे कितने प्रसंग हैं वास्तव में जैन दर्शन के इन एक-एक प्रसंग की याद करते हैं तो कर्म सिद्धान्त ऐसे समझ आता है कि आँख बंद करके देखो वह कर्म सिद्धान्त टी. वी. की तरह चलता है। देखो एक जीव यहाँ था और श्रद्धान मात्र से कहाँ से कहाँ पहुँच गया।

एक महिला एक दुकान से पीली साड़ी खरीदकर लायी, किन्तु वह पैसा देकर के नहीं आयी, बोली कल पैसे दे जाऊँगी। वह अगली बार पहुँची उसी दुकानदार के पास और वह हरी साड़ी पहनकर के पहुँची, दुकानदार ने कहा मेरी साड़ी के 1000 रु. दो। वह बोली कौन सी साड़ी के रुपये ? वह बोला वही पीली साड़ी जो आप पहले खरीदकर ले गयी थीं। बोली मेरे पास पीली साड़ी कहाँ है मैं तो हरी साड़ी पहनी हूँ। वह दुकानदार कहने लगा-बहिन जी ! हरी साड़ी तो आप अभी पहने हो जो आपने महिने भर पहले पीली साड़ी मुझसे खरीदी थी उसके पैसे तो दो? वह बोली कैसे पैसे माँगते हो, आज मेरे पास तो पीली साड़ी है ही नहीं। वह बोला मैम साहब आज की नहीं पहले की बात कर रहा हूँ।

ऐसे ही संसारी प्राणी इस शरीर की बात करता है अरे भईया ! कभी पाप हमने पूर्वभव में किया था। वह प्राणी आज इस शरीर से जो पुण्य-पाप करता है वह तो जान लेता है किन्तु इसके पहले भी शरीर था, आत्मा की कितनी आयु है? अनादि अनंत है। तो अनादि अनंत आयु वाली आत्मा ने पहले कभी जो कर्म किये हों उनका फल आज तो भोग सकता है। लोग कहते हैं महाराज श्री मैंने अपने जीवन में कोई पाप नहीं किया फिर मैं ही क्यों? मुझे दु:ख क्यों मिल रहा है, मेरे साथ ऐसा क्यों हो रहा है? हम कह रहे हैं पहले की बात तो बाद में कहें, इसही शरीर से तुमने कितने पाप किये होंगे। बचपन से लेकर अब तक कितने होश में किये, कितने बेहोशी में किये। जिनको तुम पाप मान ही नहीं रहे थोक में ऐसे-ऐसे पाप करते हो। एक शादी भी यदि रात्रि में करायी तो बताओ कितनी जीव हिंसा हो गयी। एक बार विषयों का सेवन किया बताओ कितनी जीव हिंसा हो गयी। एक व्यक्ति ने एक बार भी शराब पी तो कितनी हिंसा हो गयी गृहस्थी में रहकर कितने काम करते हो उनसे कितनी जीव हिंसा हो जाती है सोड़ा-सर्फ का पानी नालियों में जाता है, नाली में कितने जीव भरे पड़े हैं कितनी जीव हिंसा हो रही है यदि बारीकी से देखा जाये तो ये सब क्या पुण्य हो रहा है ? जिसकी आत्मा तड़प रही है, मर रही है तुम्हारे निमित्त से वह क्या तुम्हें दुआ देकर जायेगी ? तो ऐसा मत कहो कि हमने पाप नहीं किया।

बिना किये फल मिला कैसे ? तुमने कहा ये खेत तो मेरा है अर्थात् ये आत्मा रूपी खेत तो मेरा है इस खेत में बाजरे की फसल कैसे आ गयी ? अरे ! आ क्या गयी तुम ही ने तो बोया

था बाजरा। तेरे खेत में कोई कुछ बो ही नहीं सकता। ये अनादि काल का सिद्धांत है कि तेरी आत्मा में दूसरा कोई व्यक्ति बीज बो नहीं सकता और तेरी उगी फसल को कोई काट नहीं सकता, तू ही बो सकता है, तू ही काट सकता है चाहे आज बोकर के 100 साल बाद काट ये तेरी इच्छा है चाहे ऐसी फसल बोये कि इसी भव में बोकर इसी भव में काट दे।

महानुभाव ! हम अपने आत्मा रूपी खेत में जैसा चाहें बीज बो सकते हैं किन्तु एक बात अपनी आत्मा में नोट कर लो कि मेरी आत्मा के खेत में कोई दूसरा व्यक्ति बीज बो नहीं सकता और जो मैंने बोये हैं उन्हें कोई काट नहीं सकता उसका फल मुझे ही प्राप्त होगा। चाहे मैं बबूल के बीज बोऊ या आम के बीज। व्यक्ति की मूर्खता है कि मेरे खेत में बबूल क्यों हो रहे हैं उसके खेत में बादाम क्यों उग रहे हैं। मेरे भईया जो तूने बोये थे वही तो उग रहे हैं कल तूने पाप किया था, इस बात को स्वीकार कर या न कर। आज यह शरीर मनुष्य का ले लिया तो क्या हुआ जब इससे पूर्व पशु के शरीर में थे तब तो पाप किया था, किया तो हमने ही था किन्तु शरीर बदल लिया है, मात्र शरीर बदलने से कुछ नहीं होता है आत्मा की आयु बड़ी दीर्घ है इसे हम नहीं जानते।

इस आत्मा ने अनंत पोशाक पहनी हैं। किस पोशाक को पहनकर हमने कौन सा कार्य किया था, पुण्य का कार्य किया था या पाप का कार्य किया। यदि पुण्य कार्य किया भी हो उसका फल मिले तो भगवान् को धन्यवाद देता नहीं, ये नहीं कहता कि हे प्रभो ! तेरा धन्यवाद जो तूने मेरे अंग-उपांग सही रखे, मुझे उच्चकुल में जन्म दिया, सुन्दर शरीर दिया, अच्छी बुद्धि दी अन्यथा संसार में बहुत से ऐसे व्यक्ति भी हैं जो पागल हैं, विकलांग हैं, नीचकुल में पैदा हुये हैं ये सब तो धन्यवाद दिया नहीं अपितु बस ये कहता है हे भगवान् ! क्या बताऊँ तूने मुझे ऐसा रोग दे दिया, दु:ख दे दिया। कभी अपने पूर्वकृत कर्मों को दोष नहीं देता कि मैंने पूर्व में किस-किस के शुभकार्यों में अंतराय डाला जिससे आज मेरे कार्यों में विघ्न आ रहे हैं। चाहे वह विघ्न धन का हो, यश का हो, आरोग्य का हो, पुण्य लाभ हो, अपने कल्याण का हो यदि व्यवधान आ रहा है, अंतराय आ रहा है तो अंतराय कर्म का उदय कहाँ से आ रहा है ? अरे पूर्व में तुमने कहीं बोया होगा तभी तो उदय में आ रहा है।

हम कई बार बताते हैं एक लम्बा पाइप है उसमें जो भरते चले जाओ वहीं क्रम से निकलेगा। अभी तो यहाँ से भर रहे हो घी, वहाँ से निकल रहा है कीचड़। क्योंकि उस पाइप में पहले कीचड़ भरी थी, जो पहले भरा है वही क्रम-क्रम से निकलेगा। कोई कहे अभी तो मैं खूब पुण्य कर रहा हूँ पूजा-पाठ-उपवास-स्वाध्याय खूब करता हूँ मैं इतना पुण्य करता हूँ फिर भी मुझे ऐसा कष्ट हो रहा है, तो भईया ये कष्ट आज के किये का नहीं हो रहा पहले जो अनिष्ट कार्य, पाप कार्य किये

हैं यह सब उसही का प्रतिफल है। माना एक व्यक्ति अभी तो पाइप में कीचड़ भर रहा है, निकल घी रहा है अर्थात् वर्तमान में खूब पाप किये जा रहा है लोग कह रहे हैं देखो महाराज अमुक व्यक्ति दिन दहाड़े पाप कार्य कर रहे हैं फिर भी सुख भोग रहे हैं तो इसका आशय यही है वे पूर्व में किये पुण्यकृत कर्मों का फल भोग रहे हैं। आज के कुकृत्यों का कुफल आगे भोगेंगे।

महानुभाव ! हमें न तो किसी के पुण्य से ईर्ष्या करनी है और न अपने पाप से दीनवृत्ति धारण करनी है कि हम तो पुण्य-कर कर के थक गये कुछ नहीं होता पुण्य करने से, हमारी तो श्रद्धा ही टूट गयी, वो देखो पाप कार्य करके भी सुखी है तो ऐसी धारणा मान्यता मूर्खों की होती है, ज्ञानियों की नहीं।

तो यहाँ पर हम देख रहे थे कि घना वस्त्र-मोटा वस्त्र पहनने से कोई देह मोटी नहीं हो जाती, ऊँचे पहाड़ पर बैठकर व्यक्ति या देह बड़ी नहीं हो जाती, कौआ पहाड़ की चोटी पर बैठकर बड़ा नहीं हो जाता ये सब तो बच्चों के खेल हैं कि टेबल पर खड़े होकर कहे मैं पापा के बाजू तक आ गया मैं बड़ा हो गया। ऐसे ही आप लोग कहते हैं मेरा मकान 7 मंजिल का मैं बड़ा आदमी हूँ, तेरा एक मंजिल का ही है तू छोटा आदमी है। ये छोटा-बड़ा आदमी कहाँ से हो गया जब कि आत्मा के प्रदेश तो बराबर हैं। एक निगोदिया जीव में भी और पंचेन्द्रिय सैनी मुझ में भी, दोनों में मोक्ष जाने की पात्रता/योग्यता है। अभी सिद्ध न तो मैं हूँ न निगोदिया जीव, पर्याय की अपेक्षा से दोनों ही अशुद्ध जीव हैं पर शक्ति दोनों की आत्मा में हो सकती है अहंकार किस बात का ?

महानुभाव ! इस बात का जब चिंतन करते हैं तो वास्तव में अंतरंग में परिवर्तन तो आता है। हम जैसी संगति में बैठते हैं वैसे संस्कार आते हैं वे संस्कार दिन भर में वैसा कार्य करते हैं। ''सोच बहुत बदलती है और सोच के बदलने से आदमी बदल जाता है।'' सोच बदलने से व्यक्ति की दिनचर्या बदल जाती है, दिनचर्या बदलने से दिन बदल जाते हैं और दिन बदलने से व्यक्ति कहाँ से कहाँ तक पहुँच जाता है। एक सामान्य आत्मा महात्मा-परमात्मा बन जाता है और उल्टी सोच हो जाये तो भला आदमी भी डाकू बन जाता है। संगति बदली, संस्कार बदले, उसकी सोच बदली, दिनचर्या बदली, दिन बदले और वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया।

इस श्लोक से यही तात्पर्य है कि घना (मोटा) वस्त्र पहनने से कोई आत्मा मोटी नहीं हो जाती। वह चतुर पुरुष मोटे वस्त्र पहनने पर अपने को कहता है यह मैं तो इतना ही हूँ, किन्तु बुद्धिमान पुरुष मोटे वस्त्र के पहनने पर अपने आपको मोटा नहीं मानता वैसे ही अपने देह के मजबूत होने पर, मोटे होने पर अपनी आत्मा को मोटा/स्थूल नहीं मानता।

जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः॥६४॥

अन्वयार्थ-यथा-जिस प्रकार **वस्त्रे जीर्णे**-पहने हुए वस्त्र के जीर्ण-बूढ़ा होने पर **बुधः**-बुद्धिमान पुरुष **आत्मानं**-अपने को अपने शरीर को **जीर्णं न मन्यते**-जीर्ण नहीं मानता है **तथा**-उसी प्रकार **स्वदेहे अपि जीर्णे**-अपने शरीर के भी जीर्ण हो जाने पर **बुधः**-अन्तरात्मा **आत्मानं**-अपने जीवात्मा को **जीर्णं न मन्यते**-जीर्ण नहीं मानता है।

वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो गया, पुराना हो गया, फट गया तो क्या आत्मा भी पुरानी हो गयी ? वस्त्र के पुराने होने से आत्मा जीर्ण-शीर्ण नहीं होती और नये वस्त्र पहन लेने से आत्मा नयी नहीं हो जाती उसी प्रकार से शरीर बूढ़ा हो गया, जीर्णशीर्ण हो गया तो क्या आत्मा भी बूढ़ी हो गयी? नहीं, आत्मा न कभी बूढ़ी होती है न कभी जवान होती है, न बालक होती है आत्मा तो आत्मा होती है। किन्तु व्यक्ति मानता है अब तो मैं बूढ़ा हो गया। अरे शरीर बूढ़ा हुआ है आत्मा तो ज्यों की त्यों है। कहते हैं अरे ये छोटा सा बालक क्या कर पायेगा, अरे शरीर छोटा है किन्तु आत्मा न शिशु है न युवा। ये बालक 8 वर्ष के बाद मोक्ष जाने की पात्रता रखता है। आप शरीर को देख रहे हो। शरीर की आयु से आत्मा की आयु नहीं नापी जाती आत्मा की आयु अलग है शरीर की अलग।

यहाँ कह रहे हैं शरीर को आत्मा क्यों मान रहे हो, शरीर के जो लक्षण-धर्म हैं उसके जो गुण हैं वे आत्मा के नहीं हैं इस बात को यहाँ समझाने की चेष्टा कर रहे हैं। जैसे लोक में कोई पुराना झीना वस्त्र पहने तो वह अपने को पुराना झीना नहीं मानता है। इसी प्रकार इस शरीर के पुराने, झीने, बूढ़े हो जाने पर भी इस देह में स्थित निज आत्मा को झीना, पुराना-बूढ़ा नहीं मानता है। यद्यपि यह आत्मा अनादि सत् होने से पुराना है किन्तु फटे, मैले शरीर जैसा पुराना बना हुआ नहीं है। शरीर से आत्मा को ऐसा भेद प्रतीति में लेना आत्मदर्शन का उपाय है।

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः॥६५॥

अन्वयार्थ-यथा-जिस तरह **वस्त्रे नष्टे**-कपड़े के नष्ट हो जाने पर **बुधः**-बुद्धिमान पुरुष **आत्मानं**-अपने शरीर को **नष्टं न मन्यते**-नष्ट हुआ नहीं मानता है **तथा**-उसी तरह **बुधः**-अन्तरात्मा **स्वदेहे अपि नष्टे**-अपने शरीर के नष्ट हो जाने पर **आत्मानं**-अपने जीवात्मा को **नष्टं न मन्यते**-नष्ट हुआ नहीं मानता है।

यहाँ बता रहे हैं शरीर के नष्ट हो जाने से आत्मा नष्ट नहीं होती। जिस प्रकार कोई व्यक्ति वस्त्र पहना था, उसका वस्त्र फट गया तो कपड़े के फट जाने से वह मरता नहीं है, यदि कपड़ा जल गया तो व्यक्ति थोड़े ही न जल गया। चाहे वस्त्र जलकर नष्ट हुआ चाहे फटकर के नष्ट हुआ चाहे किसी अन्य प्रकार से नष्ट हुआ हो वह उसके नष्ट होने से अपनी मृत्यु नहीं मानता ऐसे ही शरीर के नष्ट होने से आत्मा की मृत्यु नहीं होती।

महाराज नमि मिथिला नरेश जो इतने आध्यात्मिक थे कि उनकी आध्यात्मिक वृत्ति को देखकर के संत महात्मा जी उनके पास अध्ययन के लिये आते थे। वे भरत चक्रवर्ती की तरह घर में रहकर भी अनासक्त थे। एक दिन अध्ययन कराते-कराते उनका पैर चूल्हे में चला गया, जो महात्मा जी पढ़ने आये थे वे कहने लगे राजा साहब ! आपका पैर जल गया। वे कहने लगे-अरे ! इस पैर के जलने से क्या होता है मेरी आत्मा तो अलग है। तभी एक व्यक्ति दौड़ता हुआ आया-बोला महाराज ! मिथिला नगरी में आग लग गयी, वे कहने लगे-अरे ! मिथिला के जलने से क्या होता है कौन नमि की आत्मा जल रही है। उनके बारे में कई ऐसे प्रसंग हैं जिसे पढ़-सुनकर स्वयं की प्रवृत्ति व चिंतन भी आध्यात्मिक बन जाता है। तो यहाँ समझाना चाहता हूँ कि जैसे मिथिला के जलने से राजा नहीं जल रहा, राजा इस शरीर को कह रहे हैं। आत्मा कोई राजा-प्रजा दीन दु:खी कुछ नहीं है आत्मा तो आत्मा है इस बात को ही जानना है।

महानुभाव ! सत्य बात यही है। हमें शब्दों में नहीं जानना है प्रैक्टिकल भी देख लिया कि पैर जल रहा था तब भी कह रहे थे शरीर ही तो जल रहा है आत्मा कभी नहीं जलती, मिथिला नगरी के जलने पर भी यही कहा नगरी ही तो जली है राजा थोड़े ही जला है। मेरा पैर जल रहा है मैं देख रहा हूँ, क्योंकि लोग मुझे तब जलायेंगे जब मेरी आत्मा निकल जायेगी किन्तु अभी तो मैं जीते जी देख रहा हूँ यह कैसे जल रहा है। यह तो मिट्टी जल रही है, जो मैं हूँ वह जल नहीं सकता हूँ। संसार में ऐसी कोई अग्नि नहीं है जो मेरी आत्मा को जला सके। तो यही बात कह रहे हैं-

नष्टे वस्त्रे यथात्मानं-वस्त्र के जलने से आत्मा नष्ट नहीं होती वैसे ही देह के नष्ट होने से आत्मा नष्ट नहीं होती। ज्यों वस्त्र अलग है त्यों ही देह भी अलग है। वह आत्मज्ञानी देह को विनाशी व आत्मा को अविनाशी, ज्ञानानन्द स्वरूप अनुभव में लेता है। जो अत्यन्त निकट का पदार्थ है ऐसे देह से भी भिन्न आत्मा लक्ष्य में आये तो अन्य पर विषयक विकल्प सुगम ही समाप्त हो जाते हैं। यह भेद प्रतिभास आत्म दर्शन का उपाय है।

रक्ते वस्त्रे यथात्मानं न रक्तं मन्यते तथा।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुध:॥६६॥

अन्वयार्थ-यथा-जिस प्रकार **वस्त्रे रक्ते**-पहना हुआ वस्त्र लाल होने पर **बुध:**-बुद्धिमान पुरुष **आत्मानं**-अपने शरीर को **रक्तं न मन्यते**-लाल नहीं मानता है **तथा**-उसी तरह **स्वदेहे अपि रक्ते**-अपने शरीर के भी लाल होने पर **बुध:**-अन्तरात्मा **आत्मानं**-अपने जीवात्मा को **रक्तं न मन्यते**-लाल नहीं मानता है।

यहाँ कह रहे हैं जैसे लाल वस्त्र पहनने से आत्मा लाल नहीं होती है या काले-पीले नीले वस्त्रों से आत्मा उन रंगादि रूप नहीं होती है उसी तरह किसी का शरीर गौरवर्ण का है तो आत्मा

गौरवर्ण की नहीं हो गयी, श्याम वर्ण से आत्मा श्याम नहीं हो गयी। अपने तीर्थंकरों में श्याम वर्ण वाले तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान्, नीलवर्ण वाले तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान्, हरितवर्ण वाले-पार्श्वनाथ, सुपार्श्वनाथ भगवान्, लाल रंग वाले वासुपूज्य व पद्म प्रभु भगवान्, श्वेत वर्ण वाले पुष्पदंत व चन्द्रप्रभु भगवान् और तपाये हुये सोने के जैसे 16 तीर्थंकर। इस प्रकार उनके शरीरों के रंग अलग-अलग रहे।

ये अलग-अलग रंग शरीर के रहे आत्मा के नहीं रहे किन्तु वह आत्मा उन शरीरों में विद्यमान थी इसलिये उस शरीर की स्तुति भी कर ली। समयसार में एक अच्छी शंका की-कि आप शरीर की स्तुति क्यों कर रहे हैं? जब आप आध्यात्मिक ग्रंथ लिख रहे हैं-शरीर अलग है आत्मा अलग है शरीर के गुण आत्मा में कैसे आ गये? शरीर की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति कैसे हो गयी?

वे बोले बात ये है-स्तुति व्यवहार में की जाती है। राजा का वर्णन किया जाता है तो उसके वैभव, नगर, प्रजा, सैनिक, शस्त्रागार, कोष आदि-आदि का बखान किया जाता है। जब कि राजा तो 6 फीट के शरीर वाला है तो उसकी अन्य-अन्य बाह्य विभूति आदि का बखान क्यों किया गया। जैसे उस राजा का वैभव उसका परिकर कहा जाता है वह उस राजा का वर्णन ही माना जाता है। ऐसे ही तीर्थंकर की आत्मा की स्तुति करते करते कहा जाता है-

''दो गोरे दो सांवरे, दो हरिया दो लाल
सोलह भगवन् स्वर्ण सम, वंदूँ तिन्हें त्रिकाल

तो ऐसे तीर्थंकरों की स्तुति करते हैं क्योंकि उस प्रकार के शरीर में उनकी दिव्य आत्मा थी। किन्तु आत्मा फिर भी अलग है। उस शरीर से दिव्यात्मा अलग हो जाये तो शरीर को प्रणाम करेंगे क्या? फिर नहीं करेंगे। तो यहाँ कह रहे हैं शरीर अलग है आत्मा अलग है। लाल वस्त्र पहनने से किसी की आत्मा लाल नहीं हो जाती ऐसे ही शरीर लाल हो तो आत्मा लाल नहीं होती किन्तु व्यवहार में आप कहते हैं वह अलग चीज है, पर यथार्थ में देह-आत्मा अलग है इन्हें एक मत मानो, आचार्य महाराज प्रारंभ से यही कहते चले आ रहे हैं, अनादि से चली आ रही इस भूल को सुधारो चाहे आज या कल जब भी सुधारोगे आप ही सुधारोगे। कल्याणार्थी पुरुषों को प्रथम ही, स्व-स्वरूप बोध करके भेद विज्ञान कर लेना चाहिये।

३४. स्वरूपबोधाभ्यास

यस्य सस्पन्दमाभाति निः स्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञ मक्रिया भोगं स शमं याति नेतरः॥६७॥

अन्वयार्थ-यस्य-जिस ज्ञानी जीव को **सस्पन्दं जगत्**-अनेक क्रियाएँ-चेष्टाएँ करता हुआ शरीरादि रूप यह जगत् **निस्पन्देन समं**-निश्चेष्ट काष्ठ-पाषाणादि के समान **अप्रज्ञं**-चेतना रहित जड़ और **अक्रिया भोगं**-क्रिया तथा सुखादि-अनुभव रूप भोग से रहित **आभाति**-मालूम होने लगता है **सः**-वह पुरुष **अक्रिया भोगं शमं याति**-परम-वीतरागतामय उस शान्ति-सुख का अनुभव करता है जिसमें मन-वचन-काय का व्यापार नहीं और न इन्द्रिय द्वारों से विषय का भोग ही किया जाता है **इतरः न**-उससे विलक्षण दूसरा बहिरात्मा जीव उस शान्ति-सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है।

स्पन्दन का अर्थ होता है कम्पन, मन-वचन-काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो स्पन्दन होता है उसे योग कहते हैं यहाँ पर अप्रज्ञ व अक्रिया शब्द का प्रयोग दोनों जगह कर सकते हैं। कैसे कर सकते हैं सम्यग्दृष्टि अप्रज्ञ कैसे हो सकता है? तो यहाँ सम्यग्दृष्टि अप्रज्ञ से लेंगे जो आत्मा का भोग कर रहा है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं ये ज्ञान हमारी आत्मा का शुद्ध स्वभाव नहीं है। दूसरी बात ये है कि ये शाब्दिक ज्ञान है इस शाब्दिक ज्ञान के साथ रहने वाला व्यक्ति क्रियाओं से रहित नहीं होता। 13वें गुणस्थान तक क्रियाशीलता रहती है इसलिये 13वें गुणस्थान तक आश्रव रहता है। 14वें गुणस्थान में आत्मा निष्पन्न रह जाता है योग नहीं रहता अयोग केवली नाम दिया। निष्पन्न होकर, क्रिया रहित अप्रज्ञ हो गया। इन ज्ञानों की अपेक्षा अप्रज्ञ भी है और अक्रिया वह क्षयोपशमज्ञान से, क्रिया से रहित होकर आत्मा के जिस भोग को भोग रहा है वह 'नेतरः' अन्य व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है। क्योंकि वह निस्पन्देन हो गया। सिद्ध भगवान् निस्पन्द हैं।

तो निस्पन्द आत्मा के द्वारा वह 'अक्रिया' बिना क्रिया करते हुये और 'अप्रज्ञ' प्रज्ञता से रहित अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान से रहित होकर के इस उपभोग को करता है। जिस आनंद का अनुभव करता है वह इतर जन अर्थात् मिथ्यादृष्टि के लिये संभव नहीं है। वह मिथ्यादृष्टि कौन सा? यस्य सस्पन्द-जिसको स्पन्दन से युक्त संसार दिखाई दे रहा है और स्वयं को भी स्पन्दन सहित स्वीकार कर रहा है, ऐसे बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि के लिये यदि वह काष्ठ पाषाण के मूर्तिवत् भी हो जाये मिथ्यात्व से सहित होकर के, अज्ञान से सहित होकर के तब भी वह आत्मा के आनंद को नहीं ले सकता।

एक मिथ्यादृष्टि जीव आँख बंद करके बैठ जाये, वह पद्मासन या खड्गासन लगाकर निष्चेष्ट हो गया स्थाणु की तरह से या मूर्ति की तरह से तब भी वह आत्मा के आनंद को नहीं ले सकता। क्योंकि अभी वह निस्पन्द नहीं हुआ। भले ही बाहर की क्रियाओं से दिखाई दे रहा है कि वह क्रिया नहीं कर रहा और वह अप्रज्ञ अवस्था को प्राप्त है, वह क्यों अप्रज्ञ अवस्था को प्राप्त है क्योंकि अज्ञानी है उसके पास प्रकृष्ट ज्ञान नहीं है। दूसरी बात 'अक्रिया' अर्थात् अन्तरात्मा में जाने वाली क्रिया से रहित है और स्पन्दन से सहित है ऐसा व्यक्ति आत्मा के वैभव को, आत्मा के सुख को, आत्मा के स्वभाव को भोगने में असमर्थ होता है। आत्मा का सुख तो केवल और केवल वही भोग सकता है जो निस्पन्दन अवस्था को प्राप्त हो गया हो और संसार के प्रति शम अवस्था को धारण कर चुका है और क्षायोपशमिक ज्ञान से रहित व सर्वक्रियाओं से रहित है ऐसे वह अयोग केवली अथवा सिद्ध परमेष्ठी ही उस सुख को भोगने में समर्थ होते हैं।

एक बात यह भी है जब आत्मा में शम भाव आता है, शम के दो अर्थ हैं-शम-कषायों का दब जाना दूसरा समभाव-अर्थात् समतामय परिणाम। तो कषाय के शमन होने पर ही समतामय परिणाम आते हैं और समतामय परिणामों में ही आत्मा का अनुभव होता है। जब तक कषायें उपद्रव मचाती रहती हैं, कषायों की अग्नि के माध्यम से हमारी आत्मा के प्रदेश रूपी नीर उबलता रहता है, तब तक उस प्रदेश रूपी नीर में हमारा आत्मा प्रतिबिम्बित नहीं हो पाता। हम आत्मा को देखने में असमर्थ होते हैं। जब कषायों की अग्नि शांत हो जाती है और हमारे आत्म प्रदेशों का नीर शांत हो जाता है तो उसमें आत्मा-आत्मा को देखने में, अनुभव करने में समर्थ हो जाती है। तो यहाँ पर निस्पन्द अवस्था हो जाये कोई भी क्रियाशीलता नहीं। जब तक हम बुद्धिपूर्वक क्रियाशीलता कर रहे हैं तब तक हमारे अंदर कषाय है, राग-द्वेष है। जब तक हम अपने आपको ज्ञानी मान रहे हैं तब तक हम तत्त्व ज्ञान को प्राप्त नहीं हुये, व्यवहार में ही भटक रहे हैं। जिस समय हम निश्चय में डूब जायेंगे तब हमें न ज्ञानी का विकल्प है न अज्ञानी का विकल्प है, न कुछ क्रिया कर रहे हैं ऐसे वीतरागी मुद्रा में निष्चेष्ट हैं। बस उस समय जो निष्चेष्ट अवस्था हो जायेगी वह समभाव से सहित वही वास्तव में आत्मा के भोग की अवस्था है, उसके पहले आत्मा के भोग की अवस्था नहीं है। उसके पहले तो पुद्गल के भोग की अवस्था रहती है।

एक छोटा सा उदाहरण आपको दें-एक महिला गैस पर कढ़ाई रखकर के कुछ पकवान बना रही है। गैस जल रही है, कढ़ाई में घी-तेल आदि भरा हुआ है। नीचे अग्नि जलने से वह तेल उबल रहा है उस कढ़ाई में जो सेक रही है उस वस्तु (पूड़ी, पकोड़ी) को तेल में डालने से वह तेल भी चंचल हो रहा है। उसके हाथ में एक झाबा होता है उसको कढ़ाई में डालकर वस्तु को उलटती-पलटती है तो उससे भी तेल चंचल होता है। तेल या घी चंचल किससे हो रहा है? आप कहोगे झाबा डालने से या जो पूड़ी-पकोड़ी आदि डाली जा रही है उससे चंचल होता है, ये सब

तो बाह्य कारण हैं सही बात तो यही है जो नीचे से अग्नि जल रही है उससे चंचल हो रहा है। हमारी आत्मा के प्रदेश मन से, वचन से, काय से चंचल हो रहे हैं ये तो बाह्य कारण हैं यदि कषाय हमारी नष्ट हो जायें, अग्नि बुझ जाये तो (शरीर रूपी) कढ़ाई ज्यों की त्यों है उसमें पूड़ी भी डाल दें, झाबा भी लगा कर रख दें कोई फर्क नहीं पड़ेगा, और यदि उस अग्नि के स्थान पर बर्फ रख दी जाये तो वह घी जम जायेगा अब चाहे उसमें बेलकर पूड़ी डालो या पकोड़ी अब ज्यों की त्यों रखा है, झाबा डाल दो तब भी वह हिलेगा ही नहीं, कढ़ाई हिलाते रहो तब भी वह हिलेगा नहीं।

ऐसे ही सिद्धों के जो प्रदेश हैं वे अब कषाय से उबल नहीं रहे, कषाय रूप अग्नि ही नष्ट हो गयी और चेतना के गुण प्रकट हो गये। बर्फ रूपी वे प्रदेश कूटस्थ हो गये अब उसमें ऐसी चंचलता नहीं आ सकती जिससे कर्मों को ग्रहण किया जा सके। जब तक दूध में घी है तब तक वह दूध के साथ रहने वाला घी पानी में डाल दो पानी में डूब जाता है मिक्स हो जाता है, जब घी दही में है तब भी पानी डालो तो वह भी मिक्स हो जाता है। अब घी के नवनीत का गोला बना लिया उसमें अभी पानी है अशुद्धि है उसे पानी में डालो तो आधा डूब जाता है किन्तु अब वह मिक्स नहीं होता। उतना मिक्स नहीं होता जितना दूध मिक्स हो जाता था जब शुद्ध घी हो गया उसे पानी में डाल दो, वह डूबता भी नहीं है और मिक्स भी नहीं होता ऊपर ही ऊपर रहता है।

जब आत्मा शुद्ध हो जाता है तब उस शुद्ध आत्मा को संसार में डुबाया नहीं जा सकता। लोक के अग्रभाग पर आत्मा पहुँच गयी, उस आत्मा को किसी भी प्रकार से संसार में ला नहीं सकते। संसार में जो लाने का कारण था, जो कर्म था वह नष्ट हो गया। घी को डुबोने वाला दूध में मिक्स पानी था, दही में डुबोने वाला उसमें मिला पानी था, नवनीत में पानी था जिसके कारण वह किसी भी तरह पदार्थ में डूब रहा था जब उसका सम्पूर्ण पानी नष्ट हो गया शुद्ध घी ही घी रह गया अब उसे नहीं डुबाया जा सकता।

हमारी आत्मा तब तक संसार में डूब सकती है जब तक कर्म आत्मा के साथ लगे हुये हैं, जितने ज्यादा कर्म उतनी ज्यादा नीचे डूब सकती है और यदि कर्म नष्ट होते चले जायेंगे उतनी ऊपर उठती चली जायेगी और जब कर्म बिल्कुल ही नष्ट हो जायेंगे तो आत्मा फिर सिद्धालय में जाकर ऐसे बैठ जायेगी जैसे घी दूध के ऊपर बैठ जाता है, जल, तेल सब तरल पदार्थों के ऊपर बैठ जाता है। उसे कोई नीचे ले ही नहीं जा सकता। सिद्धों को अब कोई संसार में ला नहीं सकता। अब तो वे तीन लोक के शासक हैं। तीन लोक में शासक वे ही हैं जो तीन लोक के ऊपर बैठ गये, अनंतकाल तक के लिये।

महानुभाव ! यहाँ आचार्य महाराज यही कहना चाहते हैं कि यह शरीरादिक रूप जगत् चलना-फिरना, खाने-पीने आदि नाना चेष्टा रूप हो रहा है, ऐसा सचेष्ट भी जगत् अमूर्तिक

निष्क्रिय चिदानंद स्वरूप आत्मतत्त्व के अनुभव हो जाने के कारण ज्ञानी पुरुष को चेतना रहित-जड़ व चेष्टा रहित प्रतीत हो जाता है, क्योंकि दृश्यमान जो कुछ है वह रूप पुद्गल तो है ही उसमें चेतना तो है ही नहीं और चलने आदि चेष्टाओं का निमित्त कारणभूत यह आत्मा उस ज्ञानी की दृष्टि में इस दृश्यमान पदार्थ से भिन्न हो गया है और निष्क्रिय अमूर्त्तरूप में संविदित हो गया है।

ऐसे ज्ञानी पुरुष ही शान्त भाव को प्राप्त करते हैं, अन्य जन अर्थात् दृश्यमान पदार्थ के ही विश्वासी जन शांति को प्राप्त नहीं कर सकते। यहाँ संसार-देह-भोगों में राग न रहे, मन-वचन-काय का व्यापार न रहे, इन्द्रियों के विषयों का अनुभव न रहे और अलौकिक स्वाधीन निराकुलता रूप आनंद झरता रहे, उस भाव को शांतिभाव कहते हैं। इस शान्तिभाव की प्राप्ति के लिये भव्य पुरुषों को अमूर्त्त निष्क्रिय ज्ञापक स्वभाव की दृष्टि पुष्ट करना चाहिये।

शरीर कञ्चुकेनात्मा संवृत्तज्ञान विग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यातिचिरं भवे॥६८॥

अन्वयार्थ-शरीर कंचुकेन-कार्माण शरीर रूपी कांचली से **संवृत-ज्ञान विग्रहः आत्मा**-ढका हुआ है ज्ञान रूपी शरीर जिसका ऐसा बहिरात्मा **आत्मानं**-आत्मा के यथार्थ स्वरूप को **न बुध्यते**-नहीं जानता है **तस्मात्**-उसी अज्ञान के कारण **अतिचिरं**-बहुत काल तक **भवे**-संसार में **भ्रमति**-भ्रमण करता है।

अब आगे के काव्य में आचार्य महाराज कह रहे हैं-जैसे सर्प का शरीर कांचली से सहित है वह सर्प यदि कांचली को छोड़ दे तो निर्विष नहीं हो जाता, कांचली जहरीली नहीं है। सर्प किसी को डसता है जो जहर चढ़ता है वह काँचली से नहीं चढ़ता, जहर तो उसके दाँत में होता है। कांचली के छोड़ने से निर्विष नहीं होता इसी प्रकार शरीर की काँचली छोड़ने से आत्मा शुद्ध नहीं बनता। हाँ ये कार्माण शरीर है उस कार्माण शरीर से ज्ञान ढका हुआ है, आत्मा का स्वभाव ढका हुआ है जब वह शरीर से रहित विगत-ग्रह हो जायेगा तो आत्मा प्रकट हो जायेगा। कौन से शरीर से रहित? कार्माण शरीर से रहित। जहाँ कार्माण शरीर नष्ट होता है वहाँ सभी शरीर नष्ट हो जायेंगे। तो शरीर रूपी कँचुकी के माध्यम से ये आत्मा ढका हुआ है इससे उसका ज्ञान नष्ट हो गया है। इसलिये संसार में चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है।

इसी बात को आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में भी कहा-

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान्यदार्थानाम् यथा मदन कोद्रवैः॥७॥

जैसे कोदों का भात खाकर के नशा आ जाता है, व्यक्ति अपने स्वरूप को भूल जाता है, यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करता है, किसी से कुछ भी बोलने लगता है क्योंकि उस समय उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है ऐसे ही मोह की मदिरा को पीकर के सुखाभास के कोदों के चावल के दानों को खाकर के जिसमें मद भरा हुआ है, जिससे बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है इससे यह संसारी प्राणी अपने आपको नहीं जान पा रहा। यहाँ पर कह रहे हैं शरीर रूपी कंचुकी से ढका हुआ अर्थात् कार्माण शरीर रूपी आवरण से ढका उसका ज्ञान है इसलिये ये शरीरों को धारण करता चला आ रहा है और अपनी आत्मा को न जानता हुआ ये अति चिरकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

संसार परिभ्रमण में क्या मिलता है ? जो मिलता है सो मिलता है। आत्मा के बाहर तो दु:ख ही दु:ख है। दु:ख आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिये आत्मा में खूब खोज कर लेना एक-एक आत्मा के प्रदेश पर कोई भी देख ले, आत्मा के प्रदेश में दु:ख है ही नहीं। दु:ख आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा का स्वभाव तो सुख है। जब आत्मा के प्रदेशों को खोजोगे तो सुख ही सुख मिलेगा और आत्मा के प्रदेशों के बाहर जाओगे तो दु:ख ही दु:ख मिलेगा। अंगूर में से कहीं भी मिलेगा तो उसका रस ही मिलेगा यदि कोई दूसरा रस आपको मिलेगा तो वह अंगूर का नहीं किसी और का है जिसमें जो है उसमें से वही मिलेगा। आत्मा के प्रदेशों में सुख है तो सुख ही निकलेगा अन्य कोई चीज बाहर की नहीं मिलेगी।

आत्मा का जो स्वभाव है, आत्मा में जो ज्ञान-दर्शन शक्ति, अस्तित्वपना, सुख, चैतन्यपना, प्रदेशत्वपना, प्रेमयत्वपना आदि-आदि जितने भी आत्मा के गुण हैं वे सब आत्मा में मिलेंगे और आत्मा के बाहर वे नहीं मिलेंगे। अब देख लो बाहर में दु:ख ही दु:ख है, अंदर में सुख ही सुख है अब आप जो चाहते हो वह खोज लो। किन्तु बात दरअसल ये है कि चाहते तो आत्मा का सुख हैं किन्तु चाहते हो आत्मा के बाहर, तुम तो ऐसा चाहते हो जल की शीतलता अग्नि की लपटों के माध्यम से। तुम चाहते हो गाय का दूध किन्तु गाय के स्तन से न निकाल कर उसके सींग में से निकालना चाहते हो, तुम चाहते हो सरसों का तेल पर सरसों को पेलकर नहीं अपितु बालू को पेलकर निकालना चाहते हो, तुम चाहते हो वृक्ष के पुष्प किन्तु वृक्ष को जमीन पर उगाना नहीं चाहते तुम चाहते हो कि यूं ही आकाश में फूल खिल जायें जड़ें ऊपर होकर नीचे फूल लटक जायें और तुम सूंघते रहो, तो ये सब असंभव बातें हैं। ये संभव हो ही नहीं सकती फिर भी तुम अनादिकाल से उस असंभव को संभव करने की चेष्टा कर रहे हो।

महानुभाव ! उल्टी-उल्टी मान्यताओं धारणाओं से कार्य नहीं होता। माचिस से दीपक जलता है यह बात बिल्कुल सही है किन्तु हम जलाना चाहते हैं माचिस की कालिख को उल्टा करके अर्थात् मसाले को पीछे पकड़ लिया तिली की लकड़ी घिस रहे हैं तो उससे दीपक नहीं जल

पायेगा। उल्टी चाबियाँ पकड़कर कभी ताले नहीं खुलते जो कार्य सीधे हैं वह सीधा करना ही उचित रहता है किन्तु संसारी प्राणी जब उल्टी चेष्टा करता है तो हास्यास्पद हो जाता है दुनिया की दृष्टि में, उन पर करुणा दया आती है। जो चीज संसार में, लोक व्यवहार में जहाँ उपयुक्त है उसी प्रकार से करके उसका फल प्राप्त होगा। हम अनादि से उल्टे कार्य कर रहे हैं तो सफलता कभी नहीं मिलेगी।

जो बहिरात्मा है वह चिरकाल तक संसार में आत्मा को न जानते हुये भ्रमण करता है। क्योंकि कार्माण शरीर रूपी कांचली द्वारा उसका सम्यक् आत्मा ढका हुआ है और ज्ञान नष्ट हो गया है ऐसा यह आत्मा अपने आनंद ज्ञान धन स्वरूप को नहीं जान पाता इसी कारण पर में अपना आनंद व ज्ञान मानने से पर की ओर इस अज्ञानी का झुकाव हो जाता है। इस परोन्मुखता के कारण जीव को संसार में चिरकाल तक क्लेश भोगते हुये, जन्म-मरण करते हुए परिभ्रमण करना पड़ता है। इस संसार भ्रमण को न चाहने वाले पुरुषों को स्वरूप बोध का अभ्यास करना चाहिये, इसके निमित्त से आवरक द्रव्य कर्मों की निर्जरा हो जाती है और आत्म विकास हो जाता है।

३५. मिथ्याधारणा ही संसार है

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थिति भ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानम बुद्धयः॥६९॥

अन्वयार्थ-अबुद्धयः-अज्ञानी बहिरात्मा जीव **प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे**-ऐसे परमाणुओं के समूह रूप शरीर में जो प्रवेश करते हैं और बाहर निकलते रहते हैं **समाकृतौ**-शरीर की आकृति के समान रूप में बने रहने पर **स्थिति भ्रांत्या**-कालांतर-स्थायित्व तथा एक क्षेत्र में स्थिति होने के कारण शरीर और आत्मा को एक समझने रूप जो भ्रांति होती है उससे **तम्**-उस शरीर को ही **आत्मानं**-आत्मा **प्रपद्यते**-समझ लेते हैं।

जीव का अन्वय अर्थ है-**''जीवति जीवस्यति अजीवत् स जीवा''**

जो जीता है, जीता था, जीवेगा वह जीव है।

पुद्गल का अन्वय अर्थ है-**''पूरण गलन यस्य स्वभावः स पुदगलः''**

पूरण (संग्रहित होना) व जीर्ण अवस्था को प्राप्त होना पुद्गल का स्वभाव है।

इसी प्रकार धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य व कालद्रव्य भी है-

कालयति कालः-जो वर्तन कराता है वह काल है।

अवकाशयति आकाशः-जो अवगाहन (अवकाश) देता है वह आकाश है।

गति हेतुत्वं धरतीति धर्मः-गति हेतुत्व को जो धारण करता है वह धर्म है।

गति हेतुत्वं न धरतीति अधर्मः-जो गति के हेतुत्व को धारण नहीं करता वह अधर्म द्रव्य है।

यहाँ पुद्गल की परिभाषा देख रहे हैं-पुद्गल क्या है जो पूरण व गलन अवस्था को प्राप्त हो। पुद्गल का ये स्वभाव रहेगा इसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। जीव का जो स्वभाव है वह रहेगा। यहाँ कह रहे हैं। देह में विद्यमान अणु कभी गलित अवस्था को प्राप्त होते हैं कभी पूरण अवस्था को प्राप्त होते हैं।

उनके ग्रहण करने से कौन सी भ्रान्ति पैदा हो जाती है? जो अज्ञानी व्यक्ति है वह ऐसा मान लेता है कि शरीर के संवर्धित होने पर आत्मा संवर्धित होती है और शरीर के क्षीण होने पर आत्मा को क्षीण मान लेता है।

चाहे आत्मा अत्यन्त लघु काय में विद्यमान हो चाहे अत्यन्त वृहद् काय में विद्यमान हो किन्तु आत्मा का प्रदेश न कभी घटता है न बढ़ता है। आत्मा की शक्ति एक समान रहती है। शरीर लघु

है या दीर्घ, सुन्दर है या असुन्दर, शरीर औदारिक है या वैक्रियक, क्षण ध्वंसी है या दीर्घकाल तक टिकने वाला इससे आत्मा पर कोई फर्क नहीं पड़ता इससे आत्मा की शक्ति नष्ट नहीं होती। कुछ देर के लिये शक्ति दबी तो रहती है पर शरीर-शरीर है।

निगोदिया जीव के शरीर ने भी आत्मा की अनंत शक्ति को ढाक कर रखा है और सौधर्म इन्द्र की आत्मा की शक्ति भी ढकी रखी है, वैभाविक शक्ति कुछ प्रकट हो गयी किन्तु अभी शुद्ध आत्मा की शक्ति कहीं भी प्रकट नहीं हुयी। हमारी आत्मा अनादि से इस पुद्गल के साथ एक-मेक होकर के रह रही है। इसका शरीर के साथ अविनाभावी संबंध हो गया है। अविनाभावी अर्थात् जो जिसके बिना न हो जैसे सूर्य उदय के बिना सूर्य का प्रकाश नहीं होता और सूर्य का प्रकाश सूर्योदय से होता है दोनों एक-दूसरे के लिये पूरक हैं। ऐसे ही यह अविनाभावी रूप से है, देह जीवित है तो आत्मा है, आत्मा है तो देह कोई न कोई होगी जब तक वह संसारी दशा में है। संसार में एक समय भी ऐसा नहीं आता जब ये आत्मा शरीर से रहित हो जाये।

जब आत्मा शरीर से रहित हो जाती है तब आत्मा का मोक्ष हो जाता है संसार में जन्म-मरण नहीं करती। यहाँ पर बता रहे हैं कि जीव को भ्रान्ति हो गयी है और भ्रम में व्यक्ति क्या-क्या नहीं मान लेता भ्रम बहुत अनिष्टकारी है। एक बार एक वृद्धा सिनेमा हॉल में सिनेमा देखने गई। पहली बार सिनेमा देख रही थी। उसके पर्दे पर आँधी, तूफान, ओले, वर्षा आदि दिखाये गये। उन्हें देखकर वृद्धा ने सोचा-अरे ! इतनी तेज वर्षा हो रही है और मैं अपने घर की छत पर पापड़ सुखाकर आई हूँ, कपड़े बाहर सूख रहे हैं, वे सब भीग जाएँगे, यह चिन्ता विचार करती हुई वह सिनेमा हॉल से उठी, अंधेरे में ही बाहर आई, जल्दी में भागते हुए बाहर एक गाड़ी से टकराई और वहाँ ही मर गई। सिनेमा की नकली बरसात को असली बरसात समझकर, भ्रम में आकर उसने अपने प्राण गवाँ दिये। भ्रम तो भ्रम है। भ्रम में कुछ भी मान सकता है वह स्वयं को संतुष्ट या बहला रहा है जैसे बालक को बहलाते हैं जब वह जिद करे चन्द्रमा चाहिये तो थाली में पानी भरकर उसमें चन्द्रमा की परछाई दिखायी ये ले ले चन्द्रमा। तो कहने का आशय यह है कि यह भ्रान्ति बच्चों को तो हो सकती है किन्तु जो प्रबुद्ध है वह भ्रान्ति में नहीं जी सकता, जो भ्रान्ति में जी रहा है वह बाल ही है और जिसकी भ्रान्ति नष्ट हो गयी है वह बाल होते हुये भी प्रबुद्ध है।

भ्रान्तियाँ कई प्रकार की हो सकती हैं। जैसे जो चीज आपकी नहीं है उसे आपने अपनी मान ली, जो चीज आपकी है उसे दूसरे की मान रहे हो यह भी भ्रान्ति है। जैसा आपका स्वभाव है उसे नहीं जानना ये भी भ्रान्ति है। भ्रान्ति वश जो पर वस्तु को अपना मानकर बैठ गया। इस संबंध में नाना प्रकार के उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे एक पुरुष किसी अंधे पुरुष के पास अपनी

गाय बांध जाता तो वह अंधा पुरुष गाय को खूब खिलाता-पिलाता चारा देता। जब दूध दुहने का समय आता तो वह पुरुष चुपचाप से वह खायी-पियी अपनी गाय ले जाता और उसकी भूखी गाय को वहाँ रख जाता। दूध दुहने के समय जब वह अंधा पुरुष बैठता तो दूध कम निकलता। ऐसी ही भ्रान्ति हो जाती है वह पड़ौसी की गाय को खिला पिला रहा है, उसका दूध नहीं पी पा रहा। जब अपनी गाय का दूध निकालने बैठता तो कहता ये मेरी गाय दूध कम क्यों देती है जबकि मैं इसे इतना अच्छा दाना-चारा आदि खिला रहा हूँ। गाय दूध कम इसलिए दे रही है क्योंकि उसे खाने को कम मिल रहा है। जिसे खूब चारा मिल रहा है उस गाय का दूध पड़ौसी पी रहा है ऐसे ही जो हमारी आत्मा है जिसमें बहुत सारे गुण भरे हुए हैं उस आत्मा का अनुभव तो हम कर नहीं पा रहे, इस पड़ौसी की गाय रूपी शरीर को हम जिंदगी भर चराते रहते हैं खिलाते-पिलाते रहते हैं, यह शरीर तो खा-पीकर संतुष्ट हो जाता है किन्तु इस शरीर में से निकलता कुछ नहीं है। शरीर का सुख तो पुद्गल का सुख है पुद्गल का सुख पुद्गल के हिस्से का है जब भी न्यारे होंगे तो वह तुम्हें नहीं मिलेगा और पुद्गल को आत्मा नहीं मिलेगी।

न्याय तो बराबर होगा पुद्गल का एक अणु सुख भी आत्मा को नहीं मिलेगा और आत्मा का सुख पुद्गल को नहीं मिलेगा। किन्तु भ्रान्ति वश हम इस पुद्गल को तो पुष्ट कर रहे हैं पुद्गल की सेवा कर रहे हैं और आत्मा को भूल करके बैठे हैं। जब आत्मा का पोषण करेंगे तब शरीर का शोषण होता है। शरीर का शोषण हो तो होता रहे। आत्मा रूपी गाय का जो गुण रूपी दुग्ध है उसे ग्रहण करना है। किन्तु अभी हमारी आत्मा तो वैसे ही मृत तुल्य अवस्था को प्राप्त हो रही है पता नहीं कब से उसे भोजन नहीं मिला इसलिये यहाँ कह रहे हैं-

अज्ञानी व्यक्ति पुद्गल को जहाँ देह के परमाणु जीर्ण शीर्ण हो रहे, वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं भ्रान्तिवश उसे ही अपना समझ लेता है आत्मा तक नहीं पहुँच पाता। आचार्य महाराज ने अनेक श्लोकों के द्वारा कहा इस भ्रान्ति को तोड़ो। जब तक भ्रान्ति नहीं छूटेगी तब तक संबंध नहीं टूटेंगे। भ्रान्ति वश व्यक्ति पराये को अपना मान लेता है, अपने को छोड़ देता है, भ्रान्ति दूर होती है तब वास्तविकता मालूम होती है वास्तव में अपना-अपना है, पराया-पराया है। पराया कभी अपना नहीं होगा, अपना कभी पराया नहीं होगा।

जैसे एक बालक शादी होते ही अपने माता-पिता को छोड़ देता है क्योंकि उसे लगता है यह पत्नी ही मेरी जीवन साथी है ये ही मेरा साथ देगी। जिन माता-पिता ने जन्म दिया, पालपोस कर योग्य बना दिया विवाह भी कर दिया, जैसे ही नई विचार धारा वाली पत्नी आयी कहने लगी अब मैं तुम्हारे माँ-बाप के साथ नहीं रह सकती। बेटा न्यारा हो गया, न्यारा होते ही दो-चार महीने भी नहीं हुये कि दोनों में खट-पट हो गयी, बात इतनी बढ गयी कि तलाक ले लिया। उसने पत्नी

के लिये कितना खर्च नहीं किया माता-पिता को छोड़ा, फिर भी उसकी नहीं हुयी। जो सामान उसे उसके मायके से मिला था वो और जो यहाँ दिया था वो, एवं जो कुछ घर में था वह सब समेटकर ले गयी, अब तुम केस करते हो तो करते रहो। अब उसको समझ में आया कि माता-पिता तो मेरे थे, आज उनके पास कुछ भी नहीं है तब भी जो उन्होंने जोड़ रखा है वह सब मुझे देने को तैयार हैं। तू चिन्ता मत कर नये से जिंदगी प्रारंभ कर ले। अब वह महसूस कर रहा है मैंने जिस पत्नी के लिये सब कुछ किया वही मेरी नहीं हुयी, वह एक प्रतिकूलता आने पर मुझे छोड़कर चली गयी।

ऐसे ही यह शरीर है एक प्रतिकूलता आने पर ही तलाक देकर चला जाता है। यह बिल्कुल सुनता नहीं है, और जो हमारी आत्मा है जिसने आज तक हमको जीवंतता दी उस आत्मा को भूल जाते हैं। जिसने संबल दिया-हेतु दिया उस आत्मा को भूल जाते हैं। कई बार तो आत्मा को घर के बाहर निकाल देते हैं अलग कर देते हैं किन्तु जब हमें होश आयेगा तब उस बालक की तरह जिसने माता पिता को घर से निकाल दिया किन्तु बाद में उन माता-पिता ने ही उसे संबल दिया संभाला। तब उसे लगता है मैंने कितनी बड़ी भूल कर दी। भ्रांति वश जो पत्नी मेरी नहीं थी उसे अपना मान लिया।

हम भी भ्रान्ति वश अनादि काल से शरीर रूपी जीवन साथी का पोषण कर रहे हैं। पिता अर्थात् अरिहंत देव समझाते हैं बेटा ये शरीर तेरा नहीं है यह विजातीय है, इसे अपना साथी मत बना इसके साथ सात फेरे नहीं अनंत बार सात फेरे लिये हैं फिर भी ये तेरा साथ देने वाले नहीं है। जिनवाणी माँ बार-बार समझाती है बेटा ! ये तेरा नहीं है। क्यों इसके चक्कर में पड़ा है इसके चक्कर में पड़कर के अनंत जीव अनंतों बार बर्बाद होते जा रहे हैं ये सब तेरा नहीं है किन्तु कुछ भी समझ नहीं आता। फिर जब ठोकर खाता है तब लगता है बात तो ठीक है। फिर उसे अपने जैसे व्यक्ति मुनिराज आदि जो ठोकर खाकर संभले हुये हैं वे कहते हैं हम भी ऐसे भुगत भोगी हैं ये नयी बात नहीं है। जब जाग जाये तभी सवेरा, आ जाओ हमारी लाइन में, देख लिया तुमने संसार में, न ये शरीर कभी तेरा था, न कभी हो सकेगा। तेरी आत्मा ही तेरी है। तेरे परमपिता अर्हंत देव, माँ जिनवाणी, बड़े भाई गुरुजन जो कहते हैं वे ठीक कहते हैं अब अपनी आत्मा को समझ और सबसे अलग होकर के भ्रांति को छोड़कर सत्य को जानने की चेष्टा कर।

महानुभाव ! इस श्लोक में आचार्य महाराज समझा रहे हैं:-यह शरीर पुद्गलाणुओं का समूह है, इसमें अनेकों अणुओं का प्रवेश होता रहता है और अनेक अणु इससे अलग होते रहते हैं ऐसा यह अनेक अणुओं का समूह इसमें इस अज्ञानी जीव को यह मैं हूँ आत्मा और यह सदा रहेगा, ऐसी भ्रान्ति हो गई है। इस भ्रान्ति के होने का कारण यह है कि इसमें अणुओं का बराबर आना

बना रहता है। इससे यह शरीर समान आकृति का दिखता है अर्थात् जैसा पहिले था वैसा ही अब है यूं ही प्रतीत होता है, साथ ही यह शरीर आत्मा के एक क्षेत्रावगाही है, आत्मा के फैले बराबर क्षेत्रों में फैला हुआ है सो इस देह में आत्मा की भ्रान्ति हो जाने से यह अज्ञानी जीव इसको भी आत्मा मानते हैं इसलिये मोक्षार्थी जीवों को ऐसे एक क्षेत्रावगाह रूप बन्धन के होने पर भी देह से भिन्न आत्मा का संवेदन करना चाहिये।

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्ति विग्रहम्॥७०॥

अन्वयार्थ-अहं-मैं **गौरः**-गोरा हूँ **स्थूलः**-मोटा हूँ **वा कृशः**-अथवा दुबला हूँ **इति**-इस प्रकार **अंगेन**-शरीर के साथ **आत्मानं**-अपने को **अविशेषयन्**-एक रूप न करते हुए **नित्यं**-सदा ही **आत्मानं**-अपने आत्मा को **केवलज्ञप्ति-विग्रहम्**-केवल ज्ञान स्वरूप अथवा रूपादि रहित उपयोग शरीरी **धारयेत्**-अपने चित्त में धारण करें।

महानुभाव ! एक उदाहरण आपने सुना होगा एक बालक किसी लड़की पर आसक्त हो गया, उस लड़की ने कहा था अपनी माँ का कलेजा ले आओ। माँ का कलेजा लेकर दौड़ा, ठोकर लगी गिर गया तो कलेजे में से आवाज आयी बेटा ! कहीं चोट तो नहीं आयी। वह दौड़ता हुआ अपनी प्रेमिका के पास गया बोला देखो मैं माँ का कलेजा ले आया। वह देखकर घबरा गयी और बोली-जाओ, मेरे घर में पैर भी न रखना तुम्हें जिस माँ ने जन्म दिया जिसने अपना सर्वस्व तुम्हारे लिये लुटा दिया, जो तुम्हारे सुख-दुःख को अपना मानकर एक क्षण भी शांति से नहीं बैठी उस माँ का कलेजा निकाल कर ले आये। तुम उस माँ के ही नहीं हुये तो तुम्हारा क्या विश्वास किया जाये। मुझसे सुंदर कल कोई मिलेगी तो मुझे काटकर उसके सामने रख दोगे, इसलिये मैं तुम्हें अपना जीवन साथी नहीं बना सकती। तब उसे होश आया तब वह समझा कि मैं स्वयं के साथ बहुत बुरा कर चुका, इस कृत्य ने मुझे एक सीख दे दी जो आज तक मुझे नहीं मिली मैं जो आज तक विषयों के पीछे पागल हो रहा था, अब समझ में आ गया स्त्री का स्वभाव कैसा होता है।

महानुभाव ! ऐसे ही जब देह भी ठोकर मारता है, शरीर जब प्रतिकूलता देता है, शरीर को खूब खिलाने पिलाने पर भी आत्मा का सुख नहीं मिलता उल्टी संक्लेशता ही बनती है। इसका पोषण करते-करते जब शरीर छूटता है तो इससे भी भद्दा नारकी, एकेन्द्रिय आदि तिर्यंच के शरीर प्राप्त होते हैं तब फिर ठोकर खाकर के लगता है। अरे ! वो मनुष्य का शरीर तो मेरे हाथ से गया, अब दुबारा कभी मुझे वह शरीर मिलेगा, शरीर रूपी माँ मिलेगी तो उसकी सेवा करूँगा, बुरा व्यवहार नहीं करूँगा। जब व्यक्ति को जाग्रति हो जाती है तो वह किसी की बातों में नहीं आता। अकल जब आती है तब कहता है इस मनुष्य भव में ही सार्थकता है उस सुख को पाने की बाकी सब तो 'खाया खोया बह गया'।

सब नष्ट हो जाते हैं। वह समझ जाता है व्रत-पूजा-उपवास, दानादि जितने भी पुण्य कार्य हैं वे ही मेरी आत्मा का हित करने वाले हैं बाकी सब क्रियायें तो व्यर्थ हैं। यहाँ बता रहे हैं-

मैं गोरा हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं दुबला-पतला हूँ ये विशेषतायें शरीर की हैं। ये विशेषतायें आत्मा की नहीं हैं। इन विशेषताओं से रहित जो आत्मा को जानता है वह नित्य ही आत्मा को धारण करता है।

जब तक शरीर के लक्षणों को आत्मा के लक्षण मानकर चलता रहता है तब तक आत्मा को नहीं जान सकता। जो लक्षण मट्ठा में है उन लक्षणों को मानकर दूध को ग्रहण करने का प्रयास करेगा तो दूध प्राप्त न कर पायेगा। वह यही बतायेगा दूध खट्टा होता है, रेचक होता है, वह मट्ठा के गुणों को दूध में देखेगा तो मट्ठा ही पकड़ में आयेगा दूध पकड़ में नहीं आयेगा। जब मट्ठा की विशेषता छोड़ दी तब दूध की विशेषता को ग्रहण कर पायेगा।

महानुभाव ! पहले शरीर की विशेषतायें छोड़नी पड़ेंगी आत्मा को पकड़ने के लिये फिर आत्मा की विशेषता ग्रहण करनी पड़ेगी। आत्मा कैसी है ? केवल ज्ञानादि गुणों से युक्त आत्मा है। आत्मा छोटी-मोटी, गोरी, काली-पीली असुन्दर नहीं है ये सब तो शरीर की विशेषतायें है। इन सबको छोड़कर ही आत्मा को आत्मा की विशेषताओं के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है अन्यथा नहीं।

मुक्तिरैकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः॥७१॥

अन्वयार्थ-यस्य-जिस पुरुष के **चित्ते**-चित्त में **अचला**-आत्म स्वरूप की निश्चल **धृतिः**-धारणा है **तस्य**-उसकी **एकान्तिकी मुक्तिः**-नियम से मुक्ति होती है। **यस्य**-जिस पुरुष की **अचलाधृतिः नास्ति**-आत्म स्वरूप में निश्चल धारणा नहीं है **तस्य**-उसकी **एकान्तिकी मुक्तिः न**-अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है।

नियम से मुक्ति है। किसकी ? जिसके चित्त में एक अचल धारणा बन गयी है कि आत्मा आत्मा है वह कभी शरीर नहीं होगा, शरीर कभी आत्मा नहीं होगा जो धारणा कभी चंचल नहीं होती, कभी डिगती नहीं ऐसी धारणा बनी हुयी है उसकी मुक्ति नियामक है और उसकी मुक्ति नियामक नहीं है जिसकी धारणा दृढ़ नहीं है।

जिसकी धारणा आत्मा के स्वरूप के संबंध में सम्यक् बनी है उसकी मुक्ति नियामक है देर भले ही हो जाये पर अंधेर न होगी। जिसकी धारणा मिथ्या है उसकी मुक्ति नहीं है वे तो कह रहे हैं अपनी भ्रान्ति दूर करो बाह्य पदार्थों का त्याग करो। और त्याग बाहर से नहीं करना है, बाहर से बने हैं तो बने रहने दो इसमें तुम्हारी कोई हानि नहीं है किन्तु तुम्हारी धारणा में जो शरीर को

आत्मा मान बैठे हो उस धारणा को तोड़ो, उस मिथ्या बुद्धि को छोड़ो तभी आपकी मुक्ति नियामक है। यदि टूट गयी तो आपकी मुक्ति को कोई टाल नहीं सकता। यदि धारणा नहीं तोड़ी तो कितना ही करते रहो मुक्ति किसी भी प्रकार प्राप्त न कर सकोगे।

महानुभाव ! वह मिथ्याधारणा ही संसार है, सम्यग्धारणा ही मानो मोक्षमार्ग है। जिसके उपयोग में आत्मस्वरूप की दृष्टि, प्रतीति, धारणा धरिता, दृढ़ है उसकी मुक्ति अवश्यम्भावी है। किन्तु जिसके उपयोग में आत्म स्वरूप विषयक दृष्टि भी नहीं है, न धारणा है उसकी मुक्ति कैसे होगी? इसकी मुक्ति न होने का नियम है। भविष्य में आत्मदृष्टि हो जाए तो आत्म धारणा होने पर वह प्रथम कोटि में ही आ गया, तब मुक्ति हो जायेगी। अतः हे भव्य पुरुषो ! संसार संकटों से मुक्ति पाने के लिये आत्म स्वरूप के उन्मुख होवो।

३६. संसारी का संग न कीजे

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्त विभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥७२॥

अन्वयार्थ-जनेभ्यो-लोगों के संसर्ग से **वाक्**-वचन की प्रवृत्ति होती है-चित्त चलायमान होता है **तस्मात्**-चित्त की चंचलता से **चित्तविभ्रमाः भवन्ति**-चित्त में नाना प्रकार के विकल्प उठने लगते हैं-मन क्षुभित हो जाता है **ततः**-इसीलिए **योगी**-योग में संलग्न होने वाले अन्तरात्मा साधु को चाहिये कि वह **जनैः संसर्गं त्यजेत्**-लौकिक जनों के संसर्ग का परित्याग करे-ऐसे स्थान पर योगाभ्यास करने न बैठे जहाँ पर कुछ लौकिकजन जमा हों अथवा उनका आवागमन बना रहता हो।

जिन शासन का एक सिद्धान्त है कारण के होने पर कार्य की सिद्धि होती है और कारण के अभाव होने पर कार्य की सिद्धि नहीं होती। आप अपनी बात को शुद्ध हिन्दी भाषा में कहते हो-न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। सूर्य का उदय हुआ है, तो प्रकाश आयेगा ही। सूर्य का उदय ही नहीं हुआ रात्रि आ गयी तो धूप से डरने की कोई आवश्यकता नहीं कारण के होने पर कार्य होता है, उन कारणों से बचने की चेष्टा करो। एक व्यक्ति उस कारण के फल से बचने की चेष्टा करता है जैसे किसी व्यक्ति ने पाप किया, पाप का फल दुःख से बचने की चेष्टा करता है, सभी करते हैं हे भगवान्! दुःख न आये।

दुःख आये क्यों? पाप के कारण उपस्थित होने पर दुःख आये। जो व्यक्ति प्रज्ञ है, समझदार हैं वे कहते हैं हे प्रभु! जीवन में मुझसे कभी पाप न हो जाये, जो कहता है पाप न हो जाये उसके लिये दुःख नहीं आयेंगे, जो कहता है दुःख न हो और पापों को न छोड़े तो कैसे बचेगा?

पुण्यस्य फल मिच्छन्ति, पुण्यं निष्ठन्ति मानवाः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

संसारी प्राणी पुण्य के फल को तो चाहता है, किन्तु पुण्य कार्य की इच्छा नहीं करता, पाप के फल की तो इच्छा करते नहीं और नित्य-नित्य पाप करते हैं यत्नपूर्वक पाप करते हैं। तो ऐसा हो सकता है क्या ? कार्य होगा तो समझो कारण है, और कारण को अलग कर दिया जाये तो अब कार्य नहीं होगा। पुष्प तो खिल रहे हैं, सोचो उसमें से गंध नहीं आये, ऐसा कैसे हो सकता है, खट्टा मट्ठा पीकर मीठे दूध की डकार कैसे आये, जैसा कारण वैसा कार्य होता है। यह तो था उदाहरण, इस श्लोक में आचार्य महाराज कह रहे हैं-

मनुष्यों के बीच में यदि वचन व्यापार किया जाता है तो उससे स्पन्दन होता है, चंचलता बढ़ती है और फिर मन में भ्रम पैदा होता है।

मनुष्यों के बीच यदि वचनों का व्यापार करोगे तो चंचलता बढ़ेगी, चंचलता बढ़ेगी तो मन में भ्रान्ति, क्षोभ, विकार बढ़ेंगे, आकुलता होगी, शांति से बैठने पर शांति मिलती है अशांति से शांति नहीं मिलती। शांति के लिये तुम शांति से बैठना नहीं चाहते तो शांति कैसे मिलेगी? बहुत दौड़े, दौड़-दौड़कर थक गये किन्तु शांति नहीं मिली। शांति के लिये दौड़ना जरूरी नहीं है बैठना जरूरी है।

कोई सोचे मुझे शरीर की स्थिरता चाहिये, मैं खूब दौड़कर खोजकर रहूँगा कि शरीर की स्थिरता कहाँ मिल रही है? इस उछल कूद में खूब योगा कर रहा है किन्तु शरीर स्थिर तब होगा जब तुम शरीर स्थिर करोगे। चंचल शरीर से शरीर स्थिर कैसे हो पायेगा, ऐसे ही मन स्थिर तब होगा जब मन में कोई क्षोभ न हो, मन में कोई विकल्प न आये, मन में कोई भ्रान्ति, आकुलता-व्याकुलता न हो, कोई तृष्णा न हो, राग-द्वेष मोह रूप भाव न हो तब तो शांति मिले यदि ये सब भाव रहेंगे तो शांति कैसे मिलेगी। और ये सब भाव पैदा होते हैं वचन व्यापार करने से। किसी से बात करके राग-द्वेष जाग्रत होता है जिस व्यक्ति या वस्तु से मिले अच्छा लगा तो राग रूप परिणति, बुरा लगा तो द्वेष रूप परिणति हो जाती है। जिस-जिस से भी मिले क्रोध मान माया लोभादि विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं क्योंकि वचन व्यापार ही मन को चंचल करने का कारण है। यदि हम यह व्यापार बंद नहीं करेंगे तो मन स्थिर कैसे होगा? मन तब स्थिर होगा जब शरीर रूपी पात्र स्थिर हो जाये, फिर वचन रूपी डंडा जो लगातार उस पात्र में हिला रहे हैं वह स्थिर हो जाये, फिर जो मन के विकल्प रूपी मछलियाँ तैर रही हैं वे स्थिर हो जायें तब वह स्थिर हो जायेगा।

महानुभाव ! माना कि एक पॉट है, जिसमें पानी भरा हुआ है, उसमें फूल खिल रहे हैं, उसमें मछलियाँ भी हैं। उस पॉट में सहज ही हवा से पानी हिलता है, मछली चलती है तो भी पानी हिलता है, हवा के चलने से फूल हिलते हैं तो भी पानी हिलता है, पॉट को कोई हिलाये तो भी पानी हिलता है। आत्मा के प्रदेश तो जल की तरह से हैं, पॉट शरीर की तरह से है, पॉट में खिले फूल जो हवा के निमित्त से हिल रहे हैं तो हम भी दूसरों के निमित्त से बोलते हैं तो आत्मा के प्रदेशों में स्पन्दन होता है, वह मछली मन की तरह से है जब चलती है तो आत्मा के प्रदेश हिलते हैं।

यहाँ पर कह रहे हैं-मनुष्यों से जब तुम बात करोगे उससे चंचलता तो आती है। हवा चले और फूल व पानी न हिले ऐसा हो सकता है क्या? नहीं हो सकता। यहाँ तक कि फूल नहीं भी हिलें, हवा जोर से चले तब भी पदार्थ हिल जाता है तुम मौन से बैठ जाओ, लोग तुम्हारे पास आकर चर्चा करें तब भी मन में विकल्प आने लगते हैं। ये बात सत्य है जब व्यक्ति शांति से बैठना

चाहता हो, वह एकान्त में बैठ जाये उस समय उसके पास आकर कोई बैठ जाये तो बड़ा अखरता है हम उससे लोक व्यवहार के कारण कुछ कह नहीं पाते किन्तु उसकी वर्गणायें हम पर अटैक करती हैं। शब्द तो ठीक है उसके मन के भाव भी हम पर प्रभावी होते हैं।

यहाँ पर आचार्य महाराज कह रहे हैं-मनुष्यों से यदि वार्तालाप करोगे तो मन तो चंचल होगा। हमारा मन भी हलन-चलन करता है मन स्थिर नहीं है चंचल है हाँ यह ठीक है शुभ में लगा हुआ है किन्तु ऐसा नहीं कि स्थिर हो जाये, हाँ हम उसे शुभ में रोकने की चेष्टा कर रहे हैं ताकि वह अनर्गल कहीं और न जाये। यही कह रहे हैं कि मनुष्यों के साथ वचन व्यापार किया जाता है तो पहले तो मन चंचल होता है फिर इसमें विभ्रम पैदा होता है। विभ्रम अर्थात् विपरीत धारणायें। मन के विपरीत स्थिति पैदा होती चली जाती है। इसलिये साधुओं द्वारा योगियों द्वारा उन मनुष्य जनों का संसर्ग छोड़ देना चाहिये।

महानुभाव ! जितना एकान्त में बैठ सको उतना एकांत में बैठो, जितना कम से कम बोल सको उतना कम बोलो। जितना ज्यादा बोलोगे उतना ज्यादा बोलना पड़ेगा और ज्यादा बोलने वाला व्यक्ति अपने वचनों को निर्दोष रखने में असमर्थ हो जाता है। कम बोलेगा, संभव है सत्य बोलेगा, प्रमाणिक बोलेगा, प्रभावक प्रिय व हितकारी बोलेगा, ज्यादा बोलेगा तो कहीं न कहीं उससे चूक होती चली जायेगी। जो व्यक्ति धीमे-धीमे साध-साधकर कदम रख रहा है उसके गिरने की संभावना कम है और जो दौड़ता चला जा रहा है वह कहीं चिकनी मिट्टी मिलने पर फिसल सकता है। क्योंकि जल्दी कर रहा है देख नहीं रहा, आँख वहाँ पहुँचे उससे पहले अपने पैर रख रहा है इसलिये गिरने की संभावना ज्यादा है।

जो मन से शोधन किये बिना जुबान को चला देता है उसकी जुबान कहीं न कहीं फँस जाती है या फिसल जाती है या पकड़ी जाती है इसलिये जुबान को दौड़ाने से पहले, जिस स्थान पर दौड़ा रहे हो उस स्थान का मन से शोधन कर लेना चाहिये। फिर व्यक्ति उतनी जल्दी दौड़ नहीं पाता। यहाँ योगियों के साथ यह बात आप लोग भी अपनायें। जब भी आप मौन लें तो साथ-साथ चेहरे पर प्रसन्नता का भाव रहे अन्यथा वह मौन संक्लेशता का कारण बन जाता है। जब भी बोलो यह सौंगध खाकर बोलो जब भी बोलूँगा सत्य व मीठा ही बोलूँगा इस तरह से आपके लिये न बोलना हानिकारक है, न मौन लेना हानिकारक है। मौन लेकर के यदि चेहरा उदास है तो मौन खतरनाक हो सकता है स्वयं के लिये भी और दूसरे के लिये भी।

इस प्रकार यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं-मनुष्यों से समागम में रहने पर वचनालाप करना होता है, वचनालाप की प्रवृत्ति होने से मन में व्यग्रता होती है, वचनालाप में अधिक बोल गये या प्रतिकूल बोल गये या अपनी प्रशंसा सूचक शब्द बोल गये तो मन में खेद होने लगता है, मन डाँवा

डोल होने लगता है। मन की व्यग्रता से चित्त में विकल्प और क्षोभ बढ़ जाते हैं। इस कारण योगी महात्माओं को सर्व क्षोभ का मूल जन संसर्ग को जानकर जन संसर्ग छोड़ देना चाहिये।

ग्रामोऽरण्य मिति द्वेधा निवासोऽनात्म दर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः॥७३॥

अन्वयार्थ-अनात्मदर्शिनां-जिन्हें आत्मा की उपलब्धि-उसका दर्शन अथवा अनुभव नहीं हुआ ऐसे लोगों के लिए **ग्रामः अरण्यम्**-यह गाँव है, यह जंगल है **इति द्वेधा निवासः**-इस प्रकार दो तरह के निवास की कल्पना होती है **तु**-किन्तु **दृष्टात्मनां**-जिन्हें आत्मस्वरूप का अनुभव हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुषों के लिए **विविक्तः**-रागादि रहित विशुद्ध एवं **निश्चलः**-चित्त की व्याकुलता रहित स्वरूप में स्थिर **आत्मा एव**-आत्मा ही **निवासः**-रहने का स्थान है।

यह गाँव है यह जंगल है दो प्रकार की चीज अलग-अलग हैं। कहते हैं साधु को गाँव में नहीं जंगल में रहना चाहिये। ग्राम में विकल्प आयेंगे, जंगल में अनुकूलता बनेगी। जिन्होंने आत्मा का दर्शन नहीं किया है, उनके लिये ये दो भेद हैं। किन्तु जिन्होंने आत्मा को अच्छी तरह से देख लिया है जान लिया है, परख लिया है उसका निवास तो कहीं भी हो वह तो एकत्व आत्मा में ही निश्चल हो जाता है, उसके लिये न ग्राम का भेद होता है, न जंगल का भेद होता है।

महानुभाव ! अनात्म दर्शन वाले प्रारंभिक साधक प्रारंभ में जिसने आत्मा को नहीं देखा है वह कहता है ग्राम में नहीं वहाँ संक्लेशता बनती है, जंगल में चलो क्योंकि उसके लिये ग्राम और जंगल दोनों अलग-अलग हैं किन्तु जिसने आत्मा को देख लिया है उसके लिये फिर ग्राम-जंगल में कोई भेद नहीं है। प्रारंभिक योगी के लिये पुण्य अलग है, पाप अलग है। पुण्य श्रेयस्कर है, पाप अश्रेयस्कर है, जंगल श्रेयस्कर है, ग्राम अश्रेयस्कर किन्तु जो आत्मदृष्टि से युक्त है उसके लिये पुण्य भी हेय है पाप भी हेय है, ग्राम भी हेय है अरण्य भी हेय है। उसके लिये तो मात्र एकत्व स्वभावी आत्मा उपादेय है। जो एकान्त में रहे उसके साथ भीड़ बनी रहे कोई बात नहीं है, तुम भीड़ में मत रहो।

योगी ! तुम अपने नीड़ में रहो। अपने आत्मा के घोंसले में रहो। जैसे छोटे पक्षी को अपने घोंसले से बाहर निकलने पर खतरा ही खतरा है जो उड़ना नहीं जानता है तो। उसके माता पिता ने कहा है जब तक हम न आयें इसी नीड़ में सुरक्षित रहना, यदि माता-पिता की बात का उल्लंघन कर बाहर निकल जायेगा तो शिकारी द्वारा मारा जा सकता है। अपने नीड़ में रहना जरूरी है हमारे माता-पिता ने अर्थात् अरिहंत प्रभु व माँ जिनवाणी ने हमको ये ही कहा है हे साधक! अपने नीड़ में रहो, वहाँ रहोगे तो सुरक्षित रहोगे या फिर तुम्हारी शक्ति इतनी हो गयी है उड़ने लायक तो फिर उड़कर तुम सिद्धालय में पहुँच जाओ। इतने ऊँचे पहुँच जाओ जहाँ किसी शिकारी का तीर न पहुँच पाये।

महानुभाव ! यहाँ कह रहे हैं कि प्रारंभिक विद्यार्थी के लिये ग्राम व अरण्य में भेद है, पुण्य-पाप में भेद है किन्तु बाद में पुण्य और पाप दोनों त्याज्य हैं, ग्राम-अरण्य दोनों ही विकल्पों से रहित हैं, न अच्छे-बुरे का विकल्प, न शत्रु-मित्र का विकल्प कुछ भी नहीं ऐसा साधक जो एकत्व को प्राप्त हो चुका है, आत्मा को जान चुका है अनुभव कर चुका है ऐसा आत्मानुभवी साधक उसके लिये ग्राम-जंगल में कहीं कोई भेद नहीं रह जाता।

देहान्तरगतेर्बीजं, देहेऽस्मिन्नात्म भावना।
बीजं विदेहनिष्पत्ते रात्मन्येवात्म भावना॥७४॥

अन्वयार्थ-अस्मिन् देहे-कर्मोदयवश ग्रहण किये हुए इस शरीर में **आत्मभावना**-आत्मा की जो भावना है-शरीर को ही आत्मा मानना है-वही **देहान्तरगतेः**-अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तर प्राप्ति का **बीजं**-कारण है और **आत्मनि एव**-अपनी आत्मा में ही **आत्म भावना**-आत्म की जो भावना है-आत्मा को ही आत्मा मानना है वह **विदेह-निष्पत्तेः**-शरीर के सर्वथा त्याग रूप मुक्ति का **बीजं**-कारण है।

यहाँ कह रहे हैं यह संसारी प्राणी जब मृत्यु को प्राप्त होता है तब एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त करता है। इसका मूल कारण क्या है? क्यों यह अन्य-अन्य शरीरों को धारण करता है, इसके मूल कारण को पकड़ लो।

एक पादरी था वह जिस किसी चर्च में जाता था उसके स्वागत में घंटिया बजती थी, एक जगह चर्च में पहुँचा वहाँ उसके स्वागत में घंटियाँ नहीं बजी। उस चर्च में रहने वाला कोई छोटा पादरी था, वह वहाँ की जनता को उपदेश देता था। उसका एक तकिया कलाम था वह कहता था-साहब ! ''इसके कई कारण हैं।'' जब ये पादरी पहुँचा, तो छोटे पादरी ने स्वागत तो किया, किन्तु घंटियाँ नहीं बजी, तो उससे बड़े पादरी ने पूछा यहाँ स्वागत में घंटियाँ क्यों नहीं बजी ? तो वह बोला-साहब ! इसके कई कारण हैं, उस पादरी ने कहा कई कारण हो सकते हैं किन्तु पहले मुख्य कारण बता दो ? वह बोला बताया न कई कारण हैं। ठीक है कई कारण ही बता दो। बोला-पहला कारण तो ये है कि हमारे चर्च में घंटियाँ ही नहीं हैं। वह पादरी बोला बस ! अब दूसरे कारण को सुनने की आवश्यकता ही नहीं है।

महानुभाव ! ऐसे ही यहाँ बता रहे हैं कि अलग-अलग देहों को प्राप्त करने के साहब कई कारण हैं। बताना प्रारंभ तो करो। तो सुनो-पहला कारण तो ये है कि इस देह में ही आत्मा की भावना कर लेना। अरे ! बस पर्याप्त है सबसे बड़ा मूल कारण ये ही है। आपने पहले भी कहा-संसार दुःख मूलस्य संसार के दुःख का मूल क्या है, देह में आत्म भावना। यहाँ भी यह कह रहे हैं देह में आत्मा की भावना निश्चित कर चुके हैं यही देहान्तर का कारण है यही बीज है।

जिसकी देह में आत्मबुद्धि नहीं है वह आगे देहों को ज्यादा समय तक प्राप्त नहीं करता। सम्यग्दृष्टि हो गया और क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन गया तो उसी भव से मोक्ष जा सकता है और यदि आयु कर्म का बंध कर लिया, क्षपक श्रेणी नहीं मांढ पाया तो तीसरे भव से जा सकता है और यदि नरक-तिर्यंचायु का बंध कर चुका है बाद में सम्यक्त्व प्राप्त किया है तो चौथे भव का उल्लंघन नहीं करेगा।

अब आगे कह रहे हैं विदेह होने का कारण क्या है? संक्षेप में कह दिया-आत्मा में ही आत्मा की बुद्धि होना विदेह होने का बीज है। जो भी विदेह होना चाहता है वह आत्मा को ही आत्मा माने आत्मा के अलावा एक भी पुद्गल परमाणु को अपना न माने तो नियम से विदेह अवस्था को प्राप्त हो जायेगा। जो देह के अतिरिक्त अन्य वस्तु को परमात्मा मानकर चलेगा वह संसार में देह धारण करता ही रहेगा।

तात्पर्य यही है यह आत्मा ऐसा प्रभु है कि अपनी जातीय भावना माफिक अपनी सृष्टि करता रहता है। जिसे शरीर में रुचि होती है, उसे शरीर मिलते रहते हैं अर्थात् मरकर नये शरीर में जाना पड़ता है। जो शरीर रहित चिदानंद स्वरूप आत्मा की आत्मा रूप भावना करता है वह शरीर रहित बन जाता है। अर्थात् चाहे उसी भव से या विशिष्ट पूर्वबद्ध कर्मों का विपाक हो तो कुछ ही भव बाद विदेह अर्थात् मुक्त हो जाता है। विदेह अवस्था में ही अनन्त गुण समृद्धि है अतः हितार्थी जनों को चाहिये कि अपने को देह रहित ज्ञानानन्दमय आत्मस्वरूप की प्रतीति हेतु सम्यक् पुरुषार्थ करें।

३७. संसार परिभ्रमण का कारण

नयत्यात्मान मात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥७५॥

अन्वयार्थ-आत्मा एव-आत्मा ही **आत्मानं**-आत्मा को **जन्म नयति**-देहादिक में मूढ़ात्मभावना के कारण जन्म-मरण रूप संसार में भ्रमण कराता है **च**-और **निर्वाण मेव नयति**-आत्मा में ही आत्म बुद्धि के प्रकर्षवश मोक्ष प्राप्त कराता है **तस्मात्**-इसलिए **परमार्थतः**-निश्चय से **आत्मनः गुरुः**-आत्मा का गुरु **आत्मा एव**-आत्मा ही है **अन्यः न अस्ति**-दूसरा कोई गुरु नहीं है।

यदि आत्मा राग-द्वेषादि परिणाम न करे तो कर्मों का बंध न हो और कर्म बंध न हो तो यह आत्मा संसार की किसी भी दशा को प्राप्त न हो। बंध होने के कारण ही कर्म उदय में आते हैं जिसके कारण सुख-दुःख रूप फल भोगने पड़ते हैं। पुनः किसी भी कर्म की स्थिति शाश्वत नहीं है क्योंकि एक भव में आयु कर्म समाप्त कर पुनः नये-नये शरीरों को प्राप्त करना होता है, इस कारण जन्म मरण करता है। इस जन्म-मरण का नाम ही संसार है।

तो ये आत्मा ही आत्मा को संसार में लेकर जाता है। यदि आत्मा संसार में भ्रमण करना न चाहे तो विश्व की समग्र शक्ति भी मिलकर इस आत्मा को संसार में परिभ्रमण नहीं करा सकती। कोई आत्मा संसार के समस्त पदार्थों से विरक्त होकर के, केवल आत्मा के प्रति आसक्त होता हुआ लीन हो जाता है तो वह क्षण भर में ही कर्मों की बेड़ियों को काटने में समर्थ हो जाता है और वह अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञानी बन सकता है व उसी अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष भी जा सकता है। अन्तःकृत केवली जो होते हैं वे अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान व मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

महानुभाव ! जरूरी नहीं है कि आत्मा पुण्य के फल को भोगे। सभी आत्मायें जो संसार से मोक्ष जाती हैं उनका विरक्त होना परम आवश्यक है, पाप के फलों से भी और पुण्य के फलों से भी। किन्तु जिसने पुण्य का चिरकाल तक फल भोगा है तब वह पुण्य के फल को भोगकर यह सोचकर विरक्त हुआ कि अरे भाई ! कुछ नहीं रखा हमने सब देख लिया। जैसे भगवान् आदिनाथ स्वामी हुये, चन्द्रप्रभ, शांतिनाथ आदि तीर्थंकर हुये जो विगत के लगभग दस भवों से लगातार पुण्य का फल भोगते चले आए उसके बाद तीर्थंकर बने।

पूर्व में इन्होंने मुनिदीक्षा ली, स्वर्गगति गये पुनः राजा बने दीक्षा ली स्वर्ग गये। इस तरह राजा महाराजा के पदों पर रहे उनसे विरक्त हो तपस्या कर स्वर्गादि के सुखों को भोगा। अन्तिम भव से एक भव पहले तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया स्वर्ग गये वहाँ से आकर तीर्थंकर बन मोक्ष को प्राप्त किया। तो ये अवस्थायें अलग हुईं, उन्होंने अपने अवधिज्ञान से जाना या जाति स्मरण हुआ संसार में कुछ नहीं है और वैराग्य हो गया।

महानुभाव ! एक सामान्य व्यक्ति, हो सकता है जिसने संसार के वैभव को तत्काल में तो नहीं भोगा किन्तु अनादिकाल से ये जीवात्मा संसार में परिभ्रमण कर रहा है उसने तब भोगा था, और आज वर्तमान में दूसरों को पुण्य के फल को भोगते हुये देख भी रहा है कि चक्रवर्ती, बलभद्र कामदेव आदि भी इस वैभव को छोड़कर के संयम को स्वीकार कर रहे हैं जिन्होंने उस सकल महानिधि संयम के लिये सर्वस्व छोड़ दिया, जिसके लिये सौधर्म इन्द्र भी तरस रहा है। उस संयम को मैं क्यों न स्वीकार करूँ।

''जो संसार विषैं सुख होता, तीर्थंकर क्यों त्यागे।
काहे को शिव साधन करते संयम सों अनुरागे॥

तो फिर मैं तो सामान्य से परिवार में जन्म लेकर के मुनि बनकर के, साधना कर मोक्ष जा सकता हूँ। क्योंकि प्रारंभ में बताया था वैराग्य के दो कारण हैं-पहला आगम बोध से दूसरा तंत्र से अर्थात् पूर्व के अनुभव से। अनुभव से पाँच ब्रह्मचारी तीर्थंकर हुये उन्होंने भोग भोगे नहीं, उन्हें वैराग्य कैसे हुआ? उन्होंने जो पहले भोग भोगे थे उनकी स्मृति आ गयी। यहाँ पर बता रहे हैं-

आत्मा ही आत्मा का संसार का कारण है, आत्मा के अलावा कोई दूसरा उसे संसार में परिभ्रमण नहीं करा सकता है और 'निर्वाणं एव च' आत्मा ही आत्मा के लिये मोक्ष का कारण है। आत्मा ही साधना करती है, यदि वह आत्मा साधना न करे तो कोई दूसरा व्यक्ति इसे मोक्ष नहीं ले जा सकता। इस संसारी प्राणी को संसार में परिभ्रमण कराने के लिये कर्म कारण हैं, कर्म ही 84 लाख योनियों में भ्रमण कराते हैं किन्तु वे कर्म भी आत्मा के द्वारा आते हैं। इस शरीरधारी जीव को कोई अड़ौसी-पड़ौसी मित्रादि घुमाने ले जाये तो वह उसकी व्यवहारिकता से ले जाता है हर एक को हर व्यक्ति लेकर नहीं जाता किन्तु निश्चय से देखें कि मित्र भी ले जा रहा है तो आत्मा ही उसमें कारण है।

निश्चय से तो आत्मा ही साक्षात् कारण है व्यवहार में मित्र को फिर भी निमित्त मान लो कि हमारे कर्मों ने (मित्र) हमारा संसार भ्रमण कराया। व्यवहारिक जीवन में किसी मित्र ने कोई यात्रा करायी तो आप उसे धन्यवाद देते हो, तो कर्मों को भी धन्यवाद दो, कि तुमने हमें तीन लोक में भ्रमण कराया है, हमने देख लिया कि इस लोक में कुछ भी सार नहीं है अब छोड़ो इसे, अब इससे विरक्त होकर के मोक्ष में जाना है। तो मोक्ष के द्वार तक ले जाने के लिये तो पुण्य कर्म सहयोगी होते हैं किन्तु यथार्थ में देखा जाये तो पुण्य कर्म के साथ-साथ सहयोगी होता है रत्नत्रय।

रत्नत्रय के वाहन में बैठकर यह उस द्वार तक जाता है। पुण्य कर्म ज्यादा हो या कम इससे फर्क नहीं पड़ता है। कुछ प्रकृतियों का होना ज्यादा आवश्यक है मनुष्यायु, मनुष्य गति, उच्चकुल, ज्ञान का पर्याप्त क्षयोपशम, पुरुषवेदी, वज्रवृषभ नाराच संहनन व संस्थान आदि पुण्य प्रकृतियों की

आवश्यकता है। ये प्रकृतियाँ होंगी तो मोक्ष के द्वार तक ले जाने में सहयोगी हो सकती हैं। किन्तु मोक्ष में जब आत्मा जायेगी तो कर्मों को छोड़कर जायेगी। अब यूँ कह सकते हैं, कर्म जब जाते हैं तो जाते जाते भी धक्का देकर जाते हैं और आत्मा सीधी सिद्धालय में चली जाती है किन्तु वे कर्म भी आत्मा के द्वारा आये थे, उस आत्मा ने उन कर्मों को इकट्ठा किया था जिन कर्मों के माध्यम से आत्मा मोक्ष में जा सकती है। वे कर्म मोक्ष में ले जाने वाले वाहन हैं और ये कर्म संसार में ले जाने वाले वाहन किन्तु हैं आत्मा द्वारा ही निष्पादित।

इसलिये आत्मा के लिये कह रहे हैं-

परमार्थ से आत्मा ही आत्मा की गुरु है अन्य कोई नहीं है। यदि तुम स्वयं अपना कल्याण करना चाहते हो तो संसार की कोई वस्तु तुम्हें रोक नहीं सकती और तुम अपना कल्याण करना नहीं चाहते हो तो संसार की कोई शक्ति तुम्हारा कल्याण कर नहीं सकती।

यदि निमित्त का कथन करें तो इतना कह सकते हैं कि किसी की प्रेरणा से कोई प्रेरक निमित्त मिल जाये तो वह तुम्हें व्यवहार धर्म में संलग्न कर सकता है पापादि से छुड़ाने में कारण बन सकता है किन्तु वह तब जब तुम उससे छूटना चाहो।

मुख्यत: आचार्य महोदय यह कहना चाहते हैं कि आत्मा ही आत्मा का गुरु है। इसलिये किसी और को दोष देना उचित नहीं है। जब आत्मा ही गुरु है, सेवक है, शिष्य है, स्वामी है, नाव, नाविक, किनारा सब आत्मा ही है तो परमार्थ से देखने पर यह आत्मा किसी को दोष नहीं दे सकता। जो किसी को दोष दे रहा है, समझो वह अभी आध्यात्मिक नहीं है, जो किसी को श्रेय दे रहा है अच्छे का या बुरे का तब तक वह आध्यात्मिक नहीं है। आध्यात्मिक होने पर न तो उसके पास समय है दूसरों को श्रेय देने का, न समय है दूसरे से शिकायत करने का, वह तो बस शांति से बैठा है न अच्छा कहेगा न बुरा।

हम तो बैठे अपनी मौन सों, दिन दस के मेहमान जगत में।
बोल बिगारे कौन सों, हम तो बैठे अपनी मौन सों॥

वह बोलेगा तब भी यह नहीं कहेगा मैंने किया है। मैंने किया है यह तो निश्चय में है, अपने मुँह से नहीं कहेगा निश्चय में अनुभव की बात है। आत्मा ही मेरा कर्ता धर्ता है दूसरा कोई नहीं है, किन्तु बोलेगा तो स्वयं को श्रेय इसलिये नहीं देगा क्योंकि अपने आप को श्रेय देने से अहंकार आ सकता है, दुर्गति का कारण है। श्रेय अपने बड़ों को, गुरुजनों को, भगवान् को, इष्ट जनों को देगा। किन्तु जब बुरा होता है तो आध्यात्मिक कहेगा, तुम्हारी कोई गलती नहीं है। सीता जी भले ही आध्यात्मिक नहीं थी परन्तु व्यवहार धर्म का पालन करने वाली थीं, तभी उन्होंने रामचन्द्र जी को दोष न देते हुये कहा-मेरे ही पाप कर्म का उदय है उनका कोई दोष नहीं है। जो धर्म के प्रति

समर्पित व श्रद्धावान् होता है वह कभी दूसरों को दोषी नहीं ठहराता। स्वयं को देखने की चेष्टा करता है।

किन्तु बाद में जब कोई आत्मा, आत्मा में डूब जाये तब फिर अपने को भी दोषी नहीं मानता, जो हो रहा है सो हो रहा है। फिर तो कोई विकल्प ही नहीं है कि दोषी मैं हूँ या कोई और। वहाँ कुछ भी कहना शक्य नहीं है।

महानुभाव ! यहाँ इस श्लोक का तात्पर्य यही है-प्रत्येक पदार्थ अपने आप को परिणमा सकता है चाहे वह किसी भी रूप परिणमाये। जब वह पर की ओर अभिमुख होता है तब जन्म की परिपाटी करता है, संसार बढ़ाता है और सम्यग्ज्ञान के बल से बाह्य पदार्थों से हटकर निज सहज स्वरूप के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण में इसकी वृत्ति होती है तो निर्वाण हो जाता है। सो यह जीव ही अपनी वृत्ति से निर्वाण का यत्न करता है और मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। इस कारण परमार्थ से आत्मा का यह आत्मा ही गुरु है। अतः हे भव्य पुरुषो ! सर्व प्रयत्नपूर्वक इस विवक्त आत्मगुरु की शरण प्राप्त करो।

दृढात्मबुद्धिर्देहादा वुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च विभेति मरणाद् भृशम्॥७६॥

अन्वयार्थ-देहादौ दृढ़ात्मबुद्धिः-शरीरादिक में जिसकी आत्म बुद्धि दृढ़ हो रही है ऐसा बहिरात्मा **आत्मनः-नाशम्**-शरीर के छूटने रूप अपने मरण **च**-और **मित्रादिभिः वियोगं**-मित्रादि सम्बन्धियों के वियोग को **उत्पश्यन्**-देखता हुआ **मरणात्**-मरने से **भृशम्**-अत्यन्त **बिभेति**-डरता है।

शरीरादि में दृढ़ है आत्मा मानने की बुद्धि, ऐसा अज्ञानी जीव शरीर के वियोग को आत्मा का नाश मानता है जैसे किसी सोते व्यक्ति से पूछो सूर्योदय कहाँ से होता है तो वह तत्काल ही कहेगा पूरब से। क्योंकि यह युनीवर्सल ट्रुथ है ऐसे ही अनादि मिथ्यादृष्टि की यह धारणा चलती आ रही है कि मेरा शरीर ही आत्मा है, दूसरे का शरीर दूसरी आत्मा है। उसने कभी अलग से आत्मा का अनुभव किया ही नहीं है। उसकी यह बुद्धि बहुत दृढ़ हो गयी है।

इसलिए वह देहादि के वियोग होने पर बहुत दुःखी होता है। कहता है मेरा तो अब कुछ बचा ही नहीं। और सम्यग्दृष्टि कहता है अरे ! एक शरीर छूटा दूसरा मिलेगा क्या फर्क पड़ता है, हम तो शरीर से मुक्त ही होना चाहते हैं। अभव्य या मिथ्यादृष्टि कभी मोक्ष जाने की सोचता ही नहीं। वह चतुर्गति में राग-द्वेष कर भ्रमण तो करता रहेगा किन्तु डरता है यदि भूल से सिद्धालय में चले गये तो वहीं लटक के रह जायेंगे, अरे ! अनादि से निगोद में पड़े थे एकेन्द्रियों में एक शरीर में अनंत आत्मायें थी, अब सिद्धालय में पहुँच गये तो क्या हो गया ? हमें नहीं जाना सिद्धालय हमें

तो संसार में ही रहना है। वह तो मोक्ष चाहता ही नहीं। वहीं सम्यग्दृष्टि कहता है मैंने संसार की दशा देख ली, संसार के सप्तम नरक के दु:ख भी देख लिये, संसार के सर्वार्थसिद्धि आदि तक का वैभव भी देख लिया, संसार में कुछ भी सारभूत अवस्था नहीं है। यह जन्म-मरण का क्रम चलते-चलते पुण्य-पाप का फल भोगते-भोगते अनादिकाल बीत गया अब इसे तोड़कर के शांति से बैठना है। आत्मा का आनंद लेना है, पुद्गल का नहीं।

मुझे ज्ञाता दृष्टा बनना है, इन कर्मों के कारण शरीर मिलता है, मैं कर्म ही नष्ट कर दूँगा, इन कर्मों के कारण शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है, पाप के उदय से दु:ख पुण्योदय से सुख भोगना पड़ता है यह सुख-सुख नहीं है यह तो रोगी के लिये औषधि खाने के समान है। औषधि का सेवन सुख नहीं अपितु रोग दूर करने का उपाय है ऐसे ही संसार की दशा में व्यक्ति जो कुछ भी कर रहा है वह वास्तव में आत्मा का सुख नहीं है वह तो ऐसा ही है कीचड़ लगा कर धो रहा है, घाव पर मरहम लगाकर उसे ठीक कर रहा है यह तो पागलों जैसी क्रियायें हैं मुझे तो सबसे मुक्त होना है, शांति से सिद्धालय में बैठना है। तीन लोक के सभी दृश्य अदृश्य पदार्थ उनसे मुझे कोई लेना देना नहीं जिसे जो करना है वह करे, तो वह व्यक्ति भव्य है, सम्यग्दृष्टि है जो अनंतकाल के लिये शाश्वत शांति चाहता है।

आत्मा के अनंत गुणों से अपरिचित बहिरात्मा जब जानता ही नहीं तो मानेगा कहाँ से। शब्दों में पढ़ भी लेगा, तो उसका विश्वास ही नहीं करता। जो मैं चाहूँ इन्द्रिय शरीरादि भोग भोगता रहूँ, शरीरादि की पूर्ति करता रहूँ, कषायों की पुष्टि होती रहे इन्हीं को सुख मानता है किन्तु इन बाहरी सुखाभासों की पूर्ति कब तक होगी? जब तक पूर्व पुण्य का उदय है तब तक किन्तु बाद में उन्हें भोगते हुये पाप का ही बंध होगा, पुन: उनके उदय में रोयेगा।

एक व्यक्ति जंगल में फँस गया, अब उसे भूख लगी, उसने वृक्ष के फल देखे और खा लिये, फल खाते ही पेट में तेजी से दर्द हुआ रोने लगा-चिल्लाने लगा। संयोग से वहाँ का व्यन्तर देव आया पूछा-तो कहने लगा मुझे क्षमा कर दो अब ये फल नहीं खाऊँगा, व्यंतर ने उपाय बताया और एक दूसरा फल दिया जिससे दर्द ठीक हो गया, पुन: थोड़ी देर बाद फिर से भूख लगी उसने फिर वही वृक्ष का फल खा लिया, खाया तो पुन: रोने चिल्लाने लगा, पुन: देव आया ठीक कर दिया, ऐसा तीसरी-चौथी बार भी हुआ तो ऐसी ही दशा संसारी व्यक्ति की है कि वह मानता नहीं है उन्हीं भोगों को भोगता रहता है फिर पाप का बंध करता है, दु:ख आता है तो भगवान् का नाम लेकर चिल्लाता है, फिर पुण्य का उदय आया तो फिर पाप करने लगता है इसी तरह रोता चिल्लाता भगवान् की याद करता है, यह क्रम चलता रहता है। पुण्य-पाप के अलावा तीसरी कोई चीज उसके पास है ही नहीं कि वह पुण्य-पाप से रहित अवस्था को प्राप्त कर सके। यह अवस्था सिद्धों के पास ही है, संसारी प्राणियों के पास नहीं।

महानुभाव ! यहाँ कह रहे हैं मिथ्यादृष्टि देह में ही आत्मबुद्धि करके अपनी आत्मा का नाश देखता है व मित्रादिभिर्वियोगं-अपने मित्रादिकों के वियोग में डरता है। सम्यग्दृष्टि कहता है काहे का डरना? मरने से क्या मेरी आत्मा मर रही है, यह तो शरीर बदलना है जब चाहे बदल जाये इससे क्या फर्क पड़ता है। मिथ्यादृष्टि ट्रांसफर से डरता है अगर जॉब चली गयी तो, सैलरी नहीं मिली तो, वहीं अगला सम्यग्दृष्टि कहता है अरे प्रमोशन होकर ट्रांसफर होने में क्या दिक्कत है, डिमोशन थोड़े ही न हो रहा है यह शरीर बदल रहा यदि मैंने बुरा काम किया है तो डिमोशन हो सकता है, अच्छा किया है तो प्रमोशन हो सकता है वह सम्यग्दृष्टि मृत्यु से घबराता नहीं क्योंकि मृत्यु से आत्मा नहीं डरती।

महानुभाव ! मिथ्यादृष्टि मृत्यु आने पर रुदन करता है और सम्यग्दृष्टि महोत्सव मनाता है, आनंदित होता है, चलो इस शरीर से मुक्त तो हुये, इस शरीर से जो काम कर सकते थे वह तो कर लिया। वह कहता है-

''तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी।।''

इस श्लोक का यही तात्पर्य है-जो शरीर को अपना आपा समझता है ऐसे प्राणी की आत्मा का जब शरीर से वियोग होता है तब वह यही समझता है कि मैं नष्ट होने वाला हूँ तथा अब मेरा कुटुम्ब मित्रादि सब छूटा जा रहा है, ऐसी कल्पना करके यह मरण से बहुत अधिक डरता है और संक्लेश परिणामों से मरण करता है, किन्तु ज्ञानी जीव मरण से भय नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि जैसे कोई पुरुष फूटे घर से निकलकर नवीन भवन में प्रवेश करता है वैसे ही यह जीव पुराने शरीर से नवीन शरीर में प्रवेश करने जाता है। सम्यग्ज्ञानी जानता है जो मेरा तत्त्व है वह कभी नहीं छूटता। यह शरीर मेरा नहीं है, तथा न कभी होगा अतः सर्वसंकटों का मूल इस देह में आत्मबुद्धि जानकर इस मोह को छोड़ों और ज्ञानानंद स्वरूप अपनी आत्मा को आत्मा जानो।

३८. तत्त्वज्ञानी सदा निर्भीक

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तर ग्रहम्॥७७॥

अन्वयार्थ-आत्मनि: एव आत्मधी:-आत्म स्वरूप में ही जिसकी दृढ़ आत्म बुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा **शरीर गतिं**-शरीर के विनाश को अथवा बाल-युवा आदि रूप उसकी परिणति को **आत्मन: अन्यां**-अपने आत्मा से भिन्न **मन्यते**-मानता है-शरीर के उत्पाद विनाश में अपने आत्मा का उत्पाद-विनाश नहीं मानता-और इस तरह मरण के अवसर पर **वस्त्रंत्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहम् इव**-एक वस्त्र को छोड़कर दूसरा वस्त्र ग्रहण करने की तरह **निर्भयं मन्यते**-निर्भय रहता है।

आत्मा के अतिरिक्त आत्मा कहीं नहीं है। जो जहाँ है वह वहीं मिलेगा, जल की शीतलता जल में मिलेगी, घृत की स्निग्धता घृत में मिलेगी, अग्नि की उष्णता अग्नि में, लाल वर्ण लाल रंग में, आकाश का खालीपन आकाश में मिलेगा, धर्मद्रव्य की गतिशीलता धर्म द्रव्य में, अधर्म द्रव्य का स्थायीपना अधर्म द्रव्य में, पुद्गल के स्पर्शादि गुण पुद्गल में, जीव की चैतन्यता जीव में मिलेगी। इसलिये जिसमें जो है वह उसमें ही तो मिलेगा। जो जिसमें है ही नहीं वह कैसे मिलेगा ? कोई कहे झरते हुये झरने से अंगारे मिल जायें तो कहाँ से मिलेंगे उसमें है ही नहीं। तो आत्मा में ही आत्मा है ऐसी बुद्धि जिस ज्ञानी की है कि आत्मा के अतिरिक्त अन्य देहादि का संयोग वियोग नष्टादि होने से आत्मा का कुछ भी हित अहित नहीं हो रहा। यदि पिंजरे की एक शलाका टूट गयी तो पक्षी मर गया क्या? और पूरा पिंजरा भी टूट जाये तो भी पक्षी मर गया क्या ? पक्षी अलग है-पिंजरा अलग है। ऐसे ही शरीर के नष्ट होने से आत्मा नष्ट नहीं हो रही, आत्मा अलग है, शरीर अलग है। जिसने ये भेद जान लिया है उसका कोई बाल बांका नहीं कर सकता। इसे कहते हैं 'तत्त्वज्ञान'।

तत्त्व अर्थात् तत्-वह (नपुंसकलिंग में) और त्व-पना, उसका वह पना जिस वस्तु का हम नाम ले रहे हैं, उसका वह पना है कि नहीं है। जल में जलत्व है कि नहीं है, मानव में मानवत्व है कि नहीं है, रस में रसत्व है या नहीं, अपने व्यक्ति में अपनत्व है या नहीं है, तो जिसमें वह पना है या नहीं, उसमें वहपना होने का नाम ही तत्त्व है। तो आत्मा में आत्मापना है या नहीं। आत्मा में आत्मपने को जान लेना ही 'तत्त्वज्ञान' है। पुद्गल में पुद्गलपने को जान लेना तत्त्वज्ञान है। आत्मा में पुद्गल जानना, पुद्गल में आत्मा जानना ये अतत्त्व ज्ञान है। नीम का गुण कड़वापन है यह जान लेना तत्त्वज्ञान है किन्तु कोई कहे नीम मीठी, शक्कर कड़वी होती है तो यह कुतत्त्व ज्ञान/खोटा ज्ञान हो गया।

तो आत्मा में आत्मबुद्धि कि मेरी आत्मा के जितने आत्म प्रदेश हैं उनके अलावा मेरी आत्मा का अस्तित्व कहीं है ही नहीं उसमें ही आत्मा को जानना यह है तत्त्वज्ञान। आत्मा ही मेरी थी, है, रहेगी इसके अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। इस तीन लोक में विद्यमान परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है जो ऐसा मानता है वही ज्ञानी है इसके विपरीत मूढ़ है। पूरी विश्वशक्ति मिलकर भी मेरी आत्मा के एक प्रदेश को नष्ट नहीं कर सकती न बढ़ा सकती जितने उसके स्वाभाविक गुण हैं उनमें से कोई भी मेरे एक भी गुण को नष्ट नहीं कर सकता, जो गुण मेरी आत्मा के नहीं हैं वह एक भी गुण कोई उसमें डाल नहीं सकता, आत्म स्वरूप को जान लेना आत्मबुद्धि है।

मेरी आत्मा राग-द्वेष कर कर्म बंध के कारण संसार में परिभ्रमण कर रही है। कर्म सिद्धान्त जन्म मरण का गणित ऐसा है जिसने इसे समझ लिया पुनः वह घबराता नहीं है कि जो बोया है वही मिलेगा, उस किसान की तरह जो कहता है गेहूँ बोया था सो गेहूँ की फसल काट रहा हूँ, सरसों बोऊँगा तो सरसों काटूँगा इसमें रोने-धोने की क्या बात है। संसारी प्राणी शिकायत करता है तो लगता है इससे बड़ा मूर्ख और कौन हो सकता है यह तो किसान से भी ज्यादा गया बीता है। जो बोयेगा वही तो काटेगा। दूसरों पर दोषारोपण करना छोड़ दो कि अमुक-अमुक व्यक्ति ने मुझे परेशान कर दिया। बाप कहता है बेटे से-तूने मुझे जीते जी मार दिया, बेटे ने नहीं मारा तेरे कर्म ने तुझको मारा है। व्यक्ति कहता है-भगवान् से हे भगवान् ! तू कितना अन्यायी है, रहम नहीं खाता मुझे ऐसा दुःख दे दिया उसके लिये कहा है-

राम न मारें काहू को, न हत्यारे राम।
लोग स्वयं मर जात हैं, कर कर खोटे काम॥

अपने खोटे कार्यों से व्यक्ति स्वयं ही मर जाता है। राम किसी को तारते भी नहीं हैं (आध्यात्मिक दृष्टि से देखेंगे तो) यदि राम तारने वाले होते तो सभी को तार देते, रावण को क्यों नरक में जाना पड़ा ? हाँ राम के निमित्त से व्यक्ति पुण्य का आश्रव भी कर सकता है और पाप का आश्रव भी कर सकता है। भगवान् के, गुरु के निमित्त से व्यक्ति पाप भी कर सकता है और पुण्य भी कर सकता है इसलिये इससे दो श्लोक पूर्व कहा था-आत्मा ही आत्मा का गुरु है। यदि वह आत्मा अपना कल्याण करना चाहता है तो दूसरे पदार्थ उसके कल्याण में निमित्त बन सकते हैं, अकल्याण करना चाहता है तो उसमें निमित्त बन सकते हैं।

तुम्हारे हाथ में दिया सलाई है चाहो तो अपना दीपक जला कर अंधेरे घर को रोशनी से भर दो, चाहे घर में आग लगा दो। बात यह है कि शक्ति आपके पास है, उस शक्ति को किसी में भी निमित्त बनाकर प्रयोग कर सकते हो। यहाँ कह रहे हैं जिसने आत्मा में आत्मा को जान लिया है ऐसा व्यक्ति तत्त्वज्ञानी है। मेरी आत्मा, आत्मा के अतिरिक्त किंचित् भी नहीं है और न संसार

का एक भी परमाणु मेरी आत्मा में है, आत्मा जितनी है उतनी है 100% है। 1% भी कम नहीं। ऐसा तत्त्वज्ञान जिसके पास होता है उसे कोई दु:खी नहीं कर सकता।

आचार्य अजितसेन सूरि ने लिखा है-

तत्त्वज्ञान विहीनानां दु:खमेव ही शाश्वतम्।

जो व्यक्ति तत्त्वज्ञान से रहित है उसके जीवन में शाश्वत दु:ख ही दु:ख है, उसे कोई सुखी कर नहीं सकता। वह पुद्गल के संयोग-वियोग में दु:खी-सुखी होकर हँसता रोता है।

तत्त्वज्ञान हि जीवानां लोकद्वये सुखावहं

जिसके पास तत्त्वज्ञान है, उसके पास इस भव में भी सुख व अगले भव में भी सुख है। तत्त्वज्ञानी व्यक्ति को कोई दु:खी नहीं कर सकता व अतत्त्वज्ञानी को कोई सुखी नहीं कर सकता। सुख का कारण तत्त्वज्ञान है न कि पर वस्तु। चाहे एक चक्रवर्ती की नहीं, सैकड़ों चक्रवर्तियों की विभूति भी प्राप्त हो जाये तब भी तत्त्व ज्ञान नहीं है तो दु:खी के दु:खी रहोगे। जिसके पास विभूति हो न हो, पर तत्त्वज्ञान है तब भी वह आत्मा के आनंद को प्राप्त कर सकता है चाहे कोई उसके सिर पर जलती सिगड़ी रख दे, चाहे घानी में पेल दे, तलवार से काट दे, चाहे सर्प गले में डाल दे कुछ भी कर दे तत्त्वज्ञानी को दु:खी नहीं कर सकता। वह कहेगा यह सब मिलकर सिर्फ मेरे शरीर का ही घात कर सकते हैं मेरी आत्मा का तो कोई भी बाल-बांका नहीं कर सकता। शरीर तो कपड़ा है कपड़े को फाड़ने से मेरी आत्मा थोड़े ही न फट रही है वह तो अलग है। पार्श्वनाथ भगवान् पर कमठ ने कितना ही उपसर्ग किया किन्तु आत्मा का बिगाड़ न कर पाया वह आत्मा तो परमात्मा बन गयी।

''दस भव तक जिसने बैर किया, पीड़ायें देकर मन-मानी।
फिर हार मानकर चरणों में झुक गया स्वयं वह अभिमानी॥''

कहने का आशय यह है कि यह सत्य ही है कि सामने वाला कब तक बैर भाव करेगा, जब तुम ही शांति से बैठे रहोगे। उसकी भी एक सीमा है। वह अन्तत: यही कहेगा तुम जानो तुम्हारा काम, मैं तो तुमसे हार गया और चरणों में झुक गया। दो भाई भिखारी थे उनके पास एक चाँदी का कटोरा था, एक भाई ने लड़ने का विचार किया और बोला-अब हमारा तुम्हारा गुजारा ऐसे नहीं चलेगा, दूसरा बोला-फिर क्या करना है? हम अलग-अलग रहेंगे। बोला ठीक है हो जा भैया। पहला वाला बोला ये चाँदी का कटोरा है मैं तुम्हें ऐसे ही थोड़े ना दे दूँगा, वह दूसरा भाई बोला-जैसा उचित समझो, पहला पुन: बोला-मैं लूँगा-ठीक है जैसा उचित समझो। अरे! ये क्या उचित समझो-उचित समझो लगा रखा है बाद में तुम ही बाहर जाकर कहोगे कि मेरा कटोरा छीन लिया, चलो तुम ही रख लो, वह बोला-जैसा उचित समझो, वाह ! कितने होशियार हो कटोरा

रखना चाहते हो क्योंकि यह चाँदी का है, अब मैं इसके दो टुकड़ें करूँगा। दूसरा पुनः बोला-जैसा उचित समझो। वह भाई बोला-अरे ! आप मुझे ये बताओ क्या आप मुझसे लड़ नहीं सकते? हाँ सही कहा बस ये ही नहीं कर सकता और सब कुछ कर सकता हूँ। तू जिसमें संतुष्ट है मैं उसमें संतुष्ट हूँ। मेरे भाग्य का तू छीन नहीं सकता और तेरे भाग्य का मैं भोग नहीं सकता। तो मैं संतुष्ट क्यों नहीं रहूँ। मैं क्यों माँगू? क्यों छीना झपटी करूँ? जो कुछ है वह सब ठीक है।

तो महानुभाव ! यहाँ हम समझ रहे थे-आत्मा में ही जिसकी आत्म बुद्धि है अन्य देहादि के परिवर्तन से आत्मा में कुछ नहीं होता ऐसा जो मान लेता है वह निर्भय रहता है। चाहे उसके सामने कोई कितनी ही बड़ी तोप ले आये वह डरता नहीं है।

किसी व्यक्ति का महल (परकोटा) बहुत मजबूत हो, जिसे तोप के गोलों से भी नहीं तोड़ा जा सकता, फिर कोई व्यक्ति लड़ने के लिये झूमरा लेकर महल तोड़ने आया है, वह झूमरा भी लोहे का नहीं थर्माकोल का है, अब वह व्यक्ति जिंदगी भर भी लगा रहेगा तो उसके हाथ ही टूट जायेंगे महल टूटने वाला नहीं है, ऐसे ही आत्मज्ञानी कहता है कोई कितना ही लगा रहे मेरा कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं। कोई मुझसे दो अपशब्द कहेगा तो उसके ही कर्म बंध होगा। मैं आत्मा को तेरे हाथ की कठपुतली नहीं बना सकता तू जैसा गुस्सा करे तो मैं भी करूँ, तू मेरी स्तुति करे तो मैं फूल कर कुप्पा नहीं होऊँगा मैं कोई बंदरिया नहीं हूँ जो तू मुझे नचाता रहे, मैं तो आत्मा हूँ आत्मा के स्वरूप को पहचान चुका हूँ। मेरी खुशी मेरा दुःख मेरे ऊपर है तेरे ऊपर नहीं, चाहे आरती उतारो या वार करो मैं तो शांति से बैठा हूँ।

कल्याणमुनि से सिकन्दर ने कहा-मैं अभी तुम्हारे दो टुकड़े कर दूँगा, वे बोले-यही तो मैं देखना चाहता हूँ कि तुम किसके दो टुकड़े करोगे। जिसके करोगे वह तो पहले से ही मृत है, और आत्मा को मारने वाली तलवार आज तक बनी नहीं। कल्याण मुनि की ऐसी निर्भीकता देखकर सिकंदर दंग रह गया, ऐसा भी क्या कोई व्यक्ति है जो सम्राट सिकन्दर से, जो विश्वविजेता बनने का स्वप्न देखने वाला सम्राट है जिसके नाम से सभी कांपते हैं उसके सामने यह नग्न साधु निर्भीक खड़ा है और मुझसे कह रहा है-हट जा मेरे सामने से जिस धूप को तू मुझे दे नहीं सकता, उसे छीनने का तेरा कोई अधिकार नहीं, भाग जा यहाँ से। सिकंदर को लगा कह तो ठीक रहे हैं वह चरणों में झुक गया।

महानुभाव ! आत्मज्ञानी निर्भीक रहता है। भय उसे रहता है जो चोर हो। हमें आत्मा के अलावा पुद्गल का वैभव चाहिये नहीं और हमारे आत्मा के वैभव को कोई छीन नहीं सकता, तो डर किस बात का। यहाँ यही कहा-मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहं।

वस्त्र को उतारने में वस्त्र को ग्रहण करने में, शरीर का क्या बिगड़ा ? शरीर पर वस्त्र बदलने से शरीर का कुछ नहीं बदल रहा, शरीर गोरा-काला नहीं होता जैसा है वैसा ही रहता है ऐसे ही आत्मा भी जैसी है वैसी ही है, शरीर चाहे कैसे भी बदल लो इससे क्या फर्क पड़ रहा है।

जो पुरुष आत्मा को ही आत्मा मानता है वह मरण समय में यही सोचता है कि जैसे कोई पुरुष पुराने वस्त्र को छोड़कर नवीन वस्त्र को धारण करता है ऐसे ही यह मैं पुराने शरीर को छोड़कर नवीन शरीर को ग्रहण करने जा रहा हूँ इस शरीर के वियोग से मेरा विनाश नहीं होता। ज्ञानी जन वर्तमान भव की जीवित अवस्थाओं में भी बालपन युवापन आदि सबको अपने से भिन्न मानता है, इसी कारण वह निर्भय और प्रसन्न रहता है। अतः हे हितार्थी पुरुषों ! अपनी निर्भयता और प्रसन्नता के अर्थ शरीर की सब अवस्थाओं को अपने से भिन्न समझो। यही यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्ताश्चात्मगोचरे॥७८॥

अन्वयार्थ-यः-जो कोई **व्यवहारे**-प्रवृत्ति-निवृत्यादिक रूप लोक व्यवहार में **सुषुप्तः**-सोता है-अनासक्त एवं अप्रयत्नशील रहता है **सः**-वह **आत्मगोचरे**-आत्मा के विषय में **जागर्ति**-जागता है-आत्मानुभव में तत्पर रहता है **च**-और जो **अस्मिन् व्यवहारे**-इस लोक व्यवहार में **जागर्ति**-जागता है-उसकी साधना में तत्पर रहता है वह **आत्म गोचरे**-आत्मा के विषय में **सुषुप्तः**-सोता है-आत्मानुभव का कोई प्रयत्न नहीं करता है।

दो काम हैं, या तो बाहर की उठा-पटक कर लो या अंदर में शांति से बैठ जाओ। शांति से बैठ जाओगे तो बाहर की उठा-पटक नहीं कर पाओगे और यदि बाहर की उठा-पटक करोगे तो शांति से बैठ न पाओगे। मुँह फुलाना और अट्टाहास करके हँसना दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते। अमीरी और गरीबी दोनों एक साथ कैसे चलेंगी, जंगल व महल दोनों का आनंद कैसे भोग सकते हो। ये बातें फिर भी कदाचित हो जायें किन्तु व्यवहार और निश्चय एक साथ नहीं हो सकते। जब तुम व्यवहार की क्रियाओं में मस्त हो पुत्र-पुत्रवधु, मित्र, पिता, भाई बंधु आदि-आदि को संतुष्ट कर रहे हो तो समझो आत्मा को असंतुष्ट कर रहे हो किंतु जब आत्मा को संतुष्ट करने में लग जाओगे तो बाहर कौन संतुष्ट असंतुष्ट हो रहा है यह भी देख न पाओगे।

यदि व्यवहार की क्रिया में जागे हुये हो तो अंदर में जाग न पाओगे। अंदर में जागरण तब होता है जब शांति से बैठ जाओगे। साधु जब बाह्य प्रभावना में ज्यादा चलते चले जायेंगे तो समझो वह आध्यात्मिक जगत में उतने ही कम होते चले जा रहे हैं, जब आध्यात्मिक जगत में ज्यादा डूबते चले जायेंगे तो बाहर के व्यवहार के काम स्वयं कम होते ही चले जायेंगे। नीर उतना ही है चाहे बाहर के बगीचे सींच लो या घर के बगीचे सींच लो। बाहर के बगीचे सींचने से आशय है उस समय के नीर को व्यवहार में लगा देना और अंदर के बगीचे को सींचने का आशय है उस समय रूपी नीर को आध्यात्मिक जगत में लगा देना। इच्छा आपकी है क्या करना चाहते हैं।

व्यवहार में निपुण हो गये तो अध्यात्म में शून्य हो गये, अध्यात्म में निपुण हो गये तो व्यवहार में शून्यता आती चली जायेगी। दोनों में निपुणता एक साथ नहीं हो सकती, एक बार में एक में ही निपुणता आ सकती है। जब रात है तब दिन नहीं, दिन है तब रात नहीं दोनों को एक साथ कैसे मिलाकर रख सकते हैं। हिमपात व अग्नि लपट को एक साथ नहीं रख सकते, कोई भी विरोधी दो धर्म एक साथ ठहर नहीं सकते। ऐसे ही व्यवहार जगत में जाग जाना अंतरंग जगत में सो जाना है, और अंतरंग जगत में जाग जाना बाहर से सो जाना है।

घर में रहकर साधना क्यों नहीं होती ? क्योंकि जब तक वे आँखों के सामने दिखते रहेंगे मन में उन्हीं के संकल्प-विकल्प चलते रहेंगे, घर से बाहर निकल आओ, आँखों को ओझल कर लो अब क्या हो रहा है पीठ के पीछे उसकी चिंता छोड़ दो। महानुभाव ! यहाँ यही कहा-जो अभी पुद्गल का अन्वेषण कर रहा है उस समय आत्मा का अन्वेषण नहीं चल रहा, जब आत्मा का अन्वेषण चल रहा है तब पुद्गल का नहीं चल रहा।

जो जीव संकल्प, विकल्प, प्रवृत्ति, परिहार आदि व्यवहार की ओर से सोया है अर्थात् इन व्यवहारों में उलझता नहीं, इसमें प्रयत्न नहीं करता वह तो आत्मा के संवेदन में उद्यमी रहता है, आत्मा में जागता है ज्ञानमय स्वरूप का संवेदन करके निर्दोष सहज आनंद रस से तृप्त होकर वास्तविक सचेत जगा हुआ रहता है और जो जीव आत्मा के विषय में सोया हुआ है, अचेत है, कुछ जानता नहीं वह विकल्प प्रवृत्ति आदि के व्यवहार में जागता है, अर्थात् व्यवहार में लगकर दु:खी होता है। इस कारण हे भव्य जनों ! आत्म जगत् को ही परमानन्दमय अवस्था जानकर व्यवहार से हटकर आत्मा के ज्ञान श्रद्धान और रमण में यत्न करो।

३९. करत-करत अभ्यास के

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तर विज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत्॥७९॥

अन्वयार्थ-अन्तरे-अन्तरंग में **आत्मानम्**-आत्मा के वास्तविक स्वरूप को **दृष्ट्वा**-देखकर और **बहिः**-बाह्य में **देहादिकं**-शरीरादिक परभावों को **दृष्ट्वा**-देखकर **तयोः**-आत्मा और शरीरादिक दोनों के **अन्तरविज्ञानात्**-भेदविज्ञान से तथा **अभ्यासात्**-अभ्यास द्वारा उस भेद विज्ञान में दृढ़ता प्राप्त करने से **अच्युतो भवेत्**-यह जीव मुक्त हो जाता है।

यहाँ बता रहे हैं अभ्यास का फल। अभ्यास करने से आप जानते हैं-

करत-करत अभ्यास के जड़मति होय सुजान।
रस्सी आवत-जात हों सिल पर पड़त निसान॥
करत-करत अभ्यास से सहज कटे अज्ञान।
पनिहारी की लेज से सहज कटे पाषाण॥

पानी खींचने वाली पनिहारिन की रस्सी को लीज कहते हैं उस रस्सी से बाल्टी बांधकर जब खींचते हैं तो खींचते-खींचते पाषाण पर निशान पड़ जाते हैं। निरंतर किसी चीज की आवृत्ति से असंभव कार्य भी संभव जैसा हो जाता है। पाषाण में कई बार पानी की बूंद गिरने से उसमें भी छेद हो जाता है जबकि पानी की बूंद बहुत कोमल होती है किन्तु निरन्तर जब गिरती है तो पत्थर में भी छेद हो जाता है। जहाँ झरना झरता है वहाँ पत्थर भी बह जाता है और कट-कटकर बालू बनता चला जाता है। यहाँ पर अभ्यास की बात कह रहे हैं कि अभ्यास से जीवन में क्या-क्या सफलता प्राप्त हो सकती है-

महानुभाव ! संसार की अनंत अवस्थायें हैं यह जीव सभी से च्युत हो जाता है किन्तु मोक्ष ही एक ऐसी अवस्था है जिसे प्राप्त कर कोई च्युत नहीं होता। यह अवस्था कैसे प्राप्त होती है?

इस जीव ने संसार के सभी पदार्थों को देख लिया, एक-एक करके प्रत्येक शरीर को अनंतबार भोग कर देख लिया, पुद्गल का वैभव, स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु-कर्ण इन्द्रिय के विषयों को भी अनंत बार भोगकर देख लिया। वस्त्र, विमान, आभूषण, रत्न आदि सबको भोगकर देख लिया किन्तु सब कुछ देखने के उपरांत अंततः परिणाम शून्य ही आया। इनपुट कितना ही रहा किंतु आउटपुट शून्य ही रहा। अब अंतरंग में जाकर देखा तो इनपुट तो रहा कम पर आउटपुट बहुत सारा कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं। अंतरंग में जाने का थोड़ा प्रयास किया तो बहुत सुख मिला। यानि अभी तक तो मैं संसार में काँच का ढेर ही बीनता रहा अब जब रत्न को प्राप्त किया तो

हर्ष का पारावार न रहा ढेर भरे काँच को जब बेचा तो 1 कि. सोना भी नहीं आया, एक रत्न छोटा सा भी बेचा तो 1 क्विंटल सोना आ गया।

महानुभाव ! देहादिक का सुख तो काँच के समान है और आत्मा का सुख रत्न की तरह से है। किन्तु उस रत्न का अभ्यास अच्छी तरह हो जाना चाहिये अन्यथा कई बार भ्रांति हो जाती है। जौहरी भी काँच को रत्न समझकर ठगाया जाता है इसलिये रत्न की सही परख के लिये बहुत अभ्यास चाहिये अन्यथा मिथ्यादृष्टि की तरह जो काँच को रत्न मानकर बैठ गये हैं।

एक सेठ ने अपने जौहरी मित्र से कहा-मेरा बेटा कुछ करता नहीं, निठल्ला होता जा रहा है, मुझे लगता है वह भविष्य में कुछ भी नहीं कर पायेगा इसलिये उसके अच्छे भविष्य के लिये यह रत्न संभालकर रख लेता हूँ क्योंकि मेरे जीवन का भी भरोसा नहीं कब आँख बंद हो जाये और कहकर वह रत्नों का डिब्बा अपनी जमीन में गाढ़ दिया। यह सभी चर्चा जब हो रही थी तब बेटा भी वहीं पास में खड़ा सुन रहा था। कुछ दिन व्यतीत हुये सेठ जी मृत्यु को प्राप्त हो गये। पुत्र ने पिता के अंतिम संस्कार की सभी क्रिया विधि सम्पन्न की और 13-14 दिनों के पश्चात् सेठ जी के मित्र के यहाँ पहुँचा और कहने लगा-काका पिताजी जो मेरे बारे में आपसे कहते थे कि मैं कुछ नहीं कर सकता-ठीक ही था, आज घर में खाने के लिये भी कुछ नहीं है आप मुझे वह रत्न बता दो।

उसने जमीन से रत्नों का डिब्बा लिया और पुत्र को दे दिया। कुछ दिन पश्चात् पुत्र पहुँच गया उन्हीं काका जौहरी के पास रत्न बेचने जौहरी ने कहा-बेटा ! अभी रत्नों का भाव सस्ता है अभी अच्छी कीमत नहीं मिलेगी कुछ दिन ठहर जाओ मैं कुछ दिनों के लिये तुम्हारे परिवार की भोजन व्यवस्था कर देता हूँ तुम मेरी दुकान पर रहकर ही काम करो। वह बेटा उसकी दुकान पर सुबह से शाम तक काम करता रहा, वह काम करते-करते सीख गया कि ये कच्चा हीरा है, यह पक्का हीरा है, इसमें जाला है, नीलम, मूंगा, पुखराज आदि-आदि रत्नों को खूब करीबी से देखकर रत्न परीक्षा में माहिर हो गया। उस जौहरी मित्र को लगा ये बालक अब निपुण हो गया। उन्होंने उससे कहा बेटा अब बाजार में रत्नों का भाव ठीक है तुम अब वह रत्न ले आओ, उन्हें बिकवा देंगे-तेरे पास भी पिता की सम्पत्ति हो जायेगी तुझे फिर मेरे यहाँ नौकरी नहीं करनी पड़ेगी। वह घर गया, डिब्बा खोलकर देखा तो उसमें कोई रत्न ही नहीं, काँच के 5-6 टुकड़े रखे हुये थे। देखकर धक्का सा भी लगा, सोचने लगा-पिता जी ने मुझे सान्त्वना भी दे दी किन्तु मैं तो निठल्ला ही रहा।

वह पिता के मित्र के पास गया-वे बोले बेटा कहाँ हैं रत्न ? वह बोला काका ! आपने जो मेरे साथ किया वह बहुत ठीक किया। बोले क्यों ? कहने लगा यदि उस समय आप मुझसे कह देते कि उस डिब्बे में रत्न नहीं काँच के टुकड़े हैं तो मैं सोचता-आप मुझे ठगना चाहते हो, आपने मुझे सीख दे दी कि रत्न व कांच में क्या अंतर है।

महानुभाव ! जिसे एक बार सम्यक् समीचीन अभ्यास हो गया पुनः उसे कोई धोखा दे नहीं सकता। अभ्यास के विषय में एक बहुत अच्छी बात-

एक बार एक राजा ने अपनी रानी से कहा-देवी ! पुरुषों की शक्ति ज्यादा होती है नारी की शक्ति उसकी अपेक्षा से कम होती है। पुरुष पराक्रमी-धीर-वीर सहनशील होते हैं। रानी ने कहा-महाराज ! ऐसा नहीं है सर्वथा राजा ही शक्तिशाली हो, किसी-किसी क्षेत्र में स्त्री भी शक्तिशाली हो सकती है। राजा बोले-नहीं। रानी ने पुनः कहा-देखो युद्ध क्षेत्र में भी नारियों ने भाग लेकर विजय पताका फहरायी है ऐसा कौन सा कार्य है जहाँ वो पीछे हो।। राजा ने कहा ताकत की अपेक्षा स्त्रियाँ पीछे हैं। रानी ने कहा-महाराज ! मैं आपको सिद्ध करके बता दूँगी कि स्त्री पुरुष से इस संबंध में भी आगे है। मुझे कुछ समय की मौहलत दें। राजा ने भी 1 वर्ष का समय रानी को दिया।

रानी अब प्रतिदिन अश्वशाला में जाती थी, एक घोड़ी को चलाती, घोड़ी से स्नेह भी हो गया। घोड़ी ने कुछ दिनों बाद एक बच्चे को जन्म दिया, रानी ने उस बच्चे को गोद में उठाया, हाल ही का जन्मा बच्चा था, रानी उसे उठाकर अपने महल में ले गयी। शाम को नीचे छोड़ गयी। अगले दिन पुनः सुबह ले जाती कुछ देर बाद नीचे छोड़ जाती, इस तरह प्रतिदिन 2-3 बार रानी बच्चे को लेकर जाती थी। बच्चा भी दिन प्रतिदिन बड़ा होता चला जा रहा है किन्तु रानी प्रतिदिन लेकर जा रही है तो उसे बच्चे का वजन बढ़ता हुआ नहीं लग रहा था। जब 1 वर्ष पूर्ण हुआ तब रानी ने राजा से कहा-महाराज आपने 1 वर्ष पूर्व कहा था कि स्त्रियाँ कमजोर होती हैं, राजा ने कहा-हाँ ठीक कहा था, रानी ने कहा-आपसे मैंने कहा था सिद्ध करके बताऊँगी आज वह अवसर आ गया।

राजा ने पूछा-क्या अवसर है। रानी ने कहा-अवसर कुछ नहीं है मात्र ताकत की ही तो परीक्षा करनी है कैसे भी कर लो। ये घोड़ी का बच्चा है आप इसे उठाकर महल के ऊपर ले जाओ और लाकर यहीं उतार दो, मैं मान जाऊँगी। राजा ने घोड़ी का बच्चा उठाया, अब बच्चा तो हाथ-पैर फेंके, राजा ने जबरदस्ती उठाया, कोशिश की तो वह पसीना-पसीना हो गया, राजा पहली मंजिल में ही हाँफने लगा और बच्चे को छोड़ दिया। राजा ने कहा-रानी तुम उठा सकती हो? वह बोली-कोशिश कर सकती हूँ, शक्ति की ही तो परीक्षा करनी है, चलो इसी को उठाकर देख लेती हूँ। रानी ने बच्चे को सहलाया, बच्चा तुरंत उसके पास आ गया, उसने धीमे से बच्चे को लिया और उठाकर के चली गयी। न पसीना आया, न हॉफी। राजा बोला-महारानी हम मान गये, आपकी (स्त्री) शक्ति को। किंतु ऐसा हुआ कैसे ? इसका रहस्य क्या है-वह बोली महाराज रहस्य है अभ्यास।

अभ्यास बहुत बड़ी चीज होती है। उससे व्यक्ति किसी भी सफलता को प्राप्त कर सकता है। महानुभाव ! यहाँ पर भी यह बात कह रहे हैं-

आत्मानं अन्तरे दृष्ट्वा-आत्मा को अंतरंग में देखकर के, देहादिकं वहि: दृष्ट्वा-देहादिकों को बाह्य में देखकर के दोनों के अंतर का जो भेद विज्ञान हुआ है वह ज्ञान वह अंतर कहने में नहीं आता। कई बार कई अंतर शब्दों में कहने में नहीं आते। जैसे डालडा-शुद्ध घी में क्या अंतर है। अंतर तो बहुत है पर कहने में नहीं आता ऐसे ही शरीर और आत्मा में जो अंतर है हो सकता है वह कहने में नहीं आये किन्तु अभ्यास करते-करते वह समझ में ऐसा आ जाता है कि उस विषय में कभी भूल नहीं हो सकती। अंधा व्यक्ति भी अभ्यास करते-करते पहचान लेता है कि असली नोट कौन सा है, नकली नोट कौन सा है, हो सकता है एक बार को आँखों वाला व्यक्ति चकमा खा जाये।

जिसने देह और आत्मा अर्थात् बाह्य वस्तुओं से प्राप्त होने वाला सुख और आत्मा में मिलने वाला सुख दोनों को जानकर के, भोगकर, अनुभव करके सतत उसका अभ्यास किया है। वह इतना अभ्यस्त हो गया कि 'अच्युतो भवेत्, वह फिर अच्युत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। वह कभी आत्मा के सुख से वंचित नहीं होता।

अचानक यदि किसी ने आप से कहा आत्मा में बहुत बड़ा सुख होता है तो आप विश्वास नहीं करोगे। उन्होंने (आचार्य महाराज ने) कहा हम आपको दो चीज दे रहे हैं दोनों को सामने रख लो फिर अंतर करो। जैसे एक मूर्तिकार राजा के यहाँ तीन मूर्ति लेकर आया, तीनों बाहर से एक जैसी दिखाई देतीं किन्तु कीमत में अंतर था। एक की कीमत दो कोड़ी, दूसरी की 1 लाख और तीसरी तो अमूल्य थी। वे मूर्तियाँ सभी ने देखीं किंतु अंतर ज्ञात नहीं कर पाये। पुन: वृद्ध मंत्री ने बताया-महाराज ! एक धागा मंगाओ। धागा लिया और पहली मूर्ति के कान में डाला धागा दूसरे कान से निकल गया, दूसरी मूर्ति के कान में डाला धागा मुंह से निकल गया, तीसरी में डाला धागा न मुंह से निकला न कान से। वृद्ध मंत्री जो कि अंधा था, उसने कहा महाराज! जिस मूर्ति में धागा एक कान से दूसरे कान से निकल गया वह मूर्ति 2 कोड़ी की है जिसमें धागा मुंह से निकला, उसकी कीमत 1 लाख रु., जिसमें धागा डाला किन्तु निकला नहीं उस मूर्ति का कोई मूल्य नहीं आँका जा सकता। राजा ने कहा क्यों ?

क्योंकि पहली मूर्ति प्रतीक है ऐसा व्यक्ति जो एक कान से सुनता है दूसरे से निकाल देता है, उसकी कोई कीमत नहीं है दो कोड़ी का आदमी है। जो व्यक्ति सुनता है किन्तु बात को मुँह से निकाल देता है-विद्वान् बन गया, पंडित बन गया 1 लाख रुपया कमा सकता है कहीं प्रवचन देने जायेगा तो और तीसरा व्यक्ति जो सुनकर के गुनता रहता है वह योगी बन कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, उसका कौन मूल्यांकन कर सकता है।

तो दो वस्तु सामने होती हैं तभी तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। यदि देह के सुख को छोड़कर फिर आत्म सुख लो, ऐसा नहीं। पहले तुमने देह का सुख क्या भोगा था, उसे देख लो, अब ये आत्मसुख क्या है यह देख लो। गुड़ भी खाया-शक्कर भी खायी दोनों के स्वाद में क्या अंतर रहा? अरे अंतर क्या हुआ दोनों ही मीठे हैं। नहीं, खाकर देखो दोनों में अंतर है। कई बार बच्चों का खेल आता है 'अक्कड़-बक्कड़' या अंतर ढूंढो। दो चित्र बने होते हैं दोनों एक जैसे होते हैं और पूछा जाता है इनमें 10 अंतर ढूंढो-तो कोई 8, 9, 7, 6, 5 अंतर ढूंढ लेता है कोई एक भी नहीं ढूंढ पाता जो एक भी ना ढूंढ पाये वह मूर्ख, जो 10 के 10 ढूंढ ले तो वह जीनियस।

ऐसे ही आत्मा और शरीर दोनों के स्वभाव को जान कर, ऐसा जान लिया कि कभी भूले ही नहीं वह वास्तव में मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है। जिसे यह भेद ज्ञान ही नहीं होता वह संसार में पतित होने वाला मूर्ख ही रहता है।

तो महानुभाव ! यहाँ इस श्लोक में आचार्य महाराज यही कह रहे हैं जो आत्मा अपने भीतर आत्मा के स्वरूप का परिचय कर लेता है और बाहर स्थित शरीर आदिक पर पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा जान लेता है अर्थात् आत्मा और अनात्मा में भेद विज्ञान कर लेता है और भेद विज्ञान करके उसे भेद रूप से निरखने का अभ्यास कर लेता है और पर द्रव्य व पर भाव से हटकर विज्ञानघनैकरस आनंदमय निज आत्मा में दृढ़ उपयोगी हो जाता है वह अच्युत हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। हे हितार्थी जनों ! शुद्ध आत्म स्वरूप में और अन्य चेतन अचेतन पर द्रव्यों व रागादिक परभावों में भेदविज्ञान करके सब पर द्रव्यों से व परभावों से भिन्न आत्मा को जान लेने मात्र से मोक्ष नहीं होता है, किन्तु उसके पश्चात् आत्म स्वरूप की निरन्तर भावना होने से मोक्ष होता है। अतः सत्यानंद प्रदायिनी, शुद्धात्मभावना में निरन्तर उपयुक्त हो।

४०. सम्हालो योग व उपयोग

पूर्व दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्काष्ठपाषाण रूपवत्॥८०॥

अन्वयार्थ-दृष्टात्मतत्त्वस्य-जिसे आत्मदर्शन हो गया है ऐसे योगी जीव को **पूर्व**-योगाभ्यास की प्राथमिक अवस्था में **जगत्**-यह प्राणिसमूह **उन्मत्तवत्**-उन्मत्त सरीखा **विभाति**-मालूम होता है किन्तु **पश्चात्**-बाद में जब योग की निष्पन्नावस्था हो जाती है तब **स्वभ्यस्तात्मधियः**- आत्म स्वरूप के अभ्यास में परिपक्वबुद्धि हुए अन्तरात्मा को **काष्ठपाषाण रूपवत्**-यह जगत् काठ और पत्थर के समान चेष्टारहित मालूम होने लगता है।

प्रारंभ में ही जिसने आत्मतत्त्व देखा है, आत्मा का अभ्यास करते-करते जो बहुत अनुभवी हो गया है उसे लगता है ये पूरा संसार असार है। उसे संसार में किसी से शिकायत नहीं रहती। पहले तो वह संसारी प्राणियों को दुर्वचन भी कहता था, उनकी क्रिया कलापों पर प्रश्न चिह्न करता था किन्तु अब उसे किसी से कोई शिकायत नहीं।

एक जगह एक ग्रंथ में लिखा था कि-"सज्जनों से प्रेम करना चाहिये और दुष्टों से घृणा करना चाहिये।" एक व्यक्ति ने स्वाध्याय करते-करते उस पर अण्डर लाईन कर दी। पूछा क्यों किया-बोला ये गलत लिखा है, गलत क्यों है ? वह कहता है पहले ये बताओ संसार में दुष्ट है कौन ? मुझे संसार में कोई दुष्ट ही दिखाई नहीं देता, जब दुष्ट है ही नहीं तो इसमें लिखा क्यों ? आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है-"**सव्वत्थ सुंदरो लोए**" लोक में सब कुछ सुंदर ही सुंदर है, असुंदर तो कुछ है ही नहीं। तो जिसे संसार में दुष्ट दिखाई ही नहीं दे रहा, अब मैं कहाँ से भेद करूँ, दूसरी बात, चलो एक मिनट तुम्हारी बात मानी कि संसार में दो प्रकार के लोग हैं अच्छे और बुरे, अब मेरे मन में घृणा है ही नहीं तो उसके लिये घृणा कहाँ सै पैदा करूँ। मेरे कुयें में तो मीठा पानी है अब वहाँ चाहे दुष्ट आये या शिष्ट कुआँ पानी को कैसे बदले? दुष्ट के लिये खारा कैसे करे ? तो यहाँ कह रहे हैं-

जिस तरह कुआँ पानी नहीं बदल सकता, ऐसे ही जब व्यक्ति को प्रारंभ से शिकायत रहती है, ये ऐसा है-वैसा है बाद में कहता है सब ठीक चल रहा है उसकी आत्म बुद्धि ऐसी हो जाती है कि उसे फिर किसी से शिकायत नहीं रहती। राजनीति में भी व्यक्ति प्रारंभ में अपने विरोधियों से लड़ता है उसे डाउन करने की कोशिश करता है, बाद में ठीक है, जो करना है सो करता रहे मुझे कुछ फर्क नहीं पड़ता मुझे तो आगे बढ़ना है। ऐसे ही व्यक्ति जब स्वयं में इतना निष्ठ हो जाता है तब किसी के द्वारा निंदा करने से, बुराई करने से उसे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता।

यहाँ कह रहे हैं प्रारंभ में व्यक्ति जब धर्म के क्षेत्र में बढ़ता है, अच्छे कार्य-पुण्य के कार्य करता है, परोपकार, आत्मकल्याण करने के लिये वैराग्य को स्वीकार करता है, दीक्षा लेता है तब प्रारंभ में विचार करता है अरे ! देखो संसारी प्राणी की क्या दशा है संसार में फँसा है, कैसे पागल हैं हे भगवान् ! कोई इन्हें सद्बुद्धि दे। बाद में वही योगी जब आत्मतत्त्व की भावना का दृढ़ अभ्यासी हो जाता है तब कहता है ठीक है जो हो रहा है सो ठीक है।

महानुभाव ! आचार्य पूज्यपाद स्वामी इतने गूढ़ रहस्यों को बता रहे हैं। एक बात को समझाने के लिये इस समाधितंत्र ग्रंथ में लगभग 100 श्लोक लिखे। आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान को नये-नये दृष्टांत, श्लोक के माध्यम से समझाने की चेष्टा की। यहाँ कहा-

ये बात सत्य है प्रारंभ में व्यक्ति को शिकायत होती है। प्रारंभ में आत्मतत्त्व को देखकर के यह जगत पहले तो पागलों जैसा दिखता है किन्तु बाद में आत्मबुद्धि के माध्यम से बार-बार अभ्यास करने से इस संसार में फिर कुछ दिखता ही नहीं जो दिखता है तो मात्र काष्ठ/पाषाण रूप जैसा पुद्गल दिखाई देता है, इस पुद्गल से क्या शिकायत करें और जो आत्मा है वह मुझे दिखाई नहीं देती उससे क्या शिकायत करूँ। वह आत्मा जब कर्म का उदय कमजोर होगा तब स्वयं बोध को प्राप्त होकर के या किसी भी निमित्त से बोध को प्राप्त कर आत्म कल्याण कर लेगा, उसे किसी से शिकायत नहीं रहती, शिकायत उन्हीं को होती है जो थोड़े उथले होते हैं गहरे पानी में शिकायत नहीं होती।

अधजल गगरी छलकत जाये।
भरी गगरिया चुप्पी जाये॥

प्रारंभ में तो छोटा बालक भी जब स्कूल जाता है। तो यदि 100 तक गिनती सीख गया फिर तो घर को ही सिर पर उठा लेगा। माँ को, भाई को, दादा-दादी सबको अलग-अलग सुनायेगा। जब वही बालक बड़ा हो गया तो पिताजी ने पूछ भी लिया बेटा क्या पढ़कर आया है तो कहेगा-आप समझोगे क्या? यहाँ पर भी यही बात कह रहे हैं प्रारंभ में जब व्यक्ति आत्मकल्याण की ओर बढ़ता है तो ऐसा लगता है यह संसार तो पागल है। बाद में शिकायत की कोई आवश्यकता नहीं। जब दृष्टि आत्मतत्त्व की ओर हो जाती है तो बुरा कुछ भी नहीं लगता। संसारी प्राणी संसार में रहेंगे, जो आसन्न भव्य जीव हैं वे अपना कल्याण कर मोक्ष जायेंगे, जो निगोद में पड़े हैं वे निगोद में पड़े हैं, जिस द्रव्य का जैसा परिणमन होना है वैसा हो रहा है स्वयं के परिणमन को देखो। तुम पुरुषार्थ अपने लिये कर सकते हो, दूसरे के लिये क्या कर सकते हो, अहंकार का पोषण मत करो, जो चल रहा है चलने दो, इससे बड़ी शांति मिलती है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने ऐसा सूत्र दे दिया कि सारी भ्रांति को मिटा दिया, अपना कर्म जो कर सकते हो वह तो कर नहीं रहे अपनी खाट को धूप से हटाकर छाया में ले जाओ, दूसरे को

रोक-टोक रहे हैं। आ. कह रहे हैं दूसरों के चिराग को जलाने से पूर्व अपना बुझा दीपक जला लो। पर वह तो सोचता है घर का दिया चाहे बुझ जाये या टिमटिमाता रहे पर चौराहे के अंधेरे को तो दूर करके ही रहूँगा। जो घर का अँधेरा दूर नहीं कर पा रहा वह बाहर कैसे उजाला करेगा। पहले घर का चिराग बन, फिर समाज का चिराग बन, फिर देश व विश्व का चिराग स्वयं बन जायेगा। महानुभाव ! यहाँ तात्पर्य यही है-जिस आत्मा ने प्रथम ही आत्मा के स्वरूप को देहादिक पर पदार्थों से भिन्न रूप से जाना है ऐसे योगी को यह जगत् उन्मत्त सा मालूम होता है। वह कहता है देखो यह जगतवासी कैसी बाह्य में शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करके चैन और चतुराई मान रहा है कैसे-कैसे नाना विकल्पों में जकड़ा जा रहा है। यही योगी जब ज्ञानमय आत्मतत्त्व की भावना का दृढ़ अभ्यासी हो जाता है, निष्पन्न योग हो जाता है तब सारा जगत काष्ठ-पत्थर की तरह उपेक्ष्य और निष्चेष्ट मालूम होता है।

अतः हे भव्यों ! शीघ्रातिशीघ्र योग व उपयोग को सम्हालकर शुद्ध आत्मा की पहचान व भावना में यत्न करो।

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद् भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक्॥८१॥

अन्वयार्थ-आत्मा का स्वरूप **अन्यतः**-उपाध्याय आदि गुरुओं के मुख से **कामं**-खूब इच्छानुसार **शृण्वन्नपि**-सुनने पर तथा **कलेवरात्**-अपने मुख से **वदन्नपि**-दूसरों को बतलाते हुए भी, **यावत्**-जब तक **आत्मानं**-आत्म-स्वरूप की **भिन्नं**-शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न **न भावयेत्**-भावना नहीं की जाती **तावत्**-तब तक **मोक्षभाक् न**-यह जीव मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता।

यदि हमने आत्मा के बारे में गुरुजनों से आचार्यों, उपाध्याय, साधुओं आदि से खूब सुना और हमने भी शास्त्रों से पढ़-पढ़ कर खूब बोला लोगों को खूब सुनाया सुबह से शाम तक उपदेश देकर खूब प्रयास किया किन्तु जब तक हमने अपनी आत्मा व शरीर की अलग-अलग भावना नहीं भायी तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

महानुभाव ! संसार में जितने भी उपदेशक हैं उन उपदेशकों के माध्यम से किसी भी विषय में सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या सुनी जा सकती है किन्तु उस सूक्ष्म व्याख्या को सुनकर के, व उस सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या को सुनाकर के व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को प्राप्त होने में समर्थ नहीं होता। आत्मा का ध्यान करना एक अलग बात है और ध्यान के बारे में दूसरों को बताना एक अलग बात है, सुनना अलग बात है। यहाँ पर आत्मा के बारे में बता रहे हैं।

'आत्मानं भावयेत्'-आत्मा की भावना करनी चाहिये। जो आत्मा की भावना नहीं करता है वह चाहे आत्मा के बारे में कितने ही उपदेशकों से सुन ले और चाहे कितनों को भी सुना दे। कोई व्यक्ति किसी भी चीज का व्यापार करता है, माना कि मिठाई का व्यापार करता है, दुकानदार से कितनी भी मिठाई खरीद कर ले आये, कितनी ही बेच दे उससे मुँह मीठा नहीं होता, इत्र बेचने वाला व्यक्ति ट्रक के ट्रक इत्र की शीशियों के खरीदता है, बेचता है उसे रंच मात्र भी गंध नहीं आती, मुनीम करोड़ों रुपयों का हिसाब किताब करता है किन्तु उसे उसका आनंद नहीं मिलता उसे तो बंधी-बंधायी पगार ही मिलती है उसे उसी समय खुशी मिलती है जब माह के अंत में उसे उसका वेतन मिलता है या पर्व के दिनों में पुरस्कार आदि मिल जाये ऐसे ही आत्मा के बारे में हमने दूसरों से खूब सुना और मौका पड़ने पर खूब सुनाया भी किन्तु फिर भी आत्मा मोक्षमार्ग को या मोक्ष को प्राप्त नहीं हुयी। आत्मा में वह आनंद नहीं आया।

परिग्रह का त्याग करो, कषायों का शमन करो, विषयों से विरक्त हो जाओ, संसार-शरीर-भोगों से अनासक्त हो जाओ, महाव्रतों को स्वीकार लो, ध्यान-चिंतन करो, आत्मा में लीन हो जाओ इन शब्दों को सुनकर व सुनाकर भी आत्मा का रसास्वादन नहीं हो पाया। आचार्य महोदय इसी बात पर जोर दे रहे हैं। 'यावत्-तावत्' मोक्षभाक् जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। स्वयं अनुभव से ही मोक्षमार्ग मिलता है, स्वयं आत्मा जब कर्मों से मुक्त होती है तभी मोक्ष को प्राप्त होती है उसके लिये आत्मा में ही क्रियाशीलता होनी चाहिये। केवल कानों की या जुबान की क्रियाशीलता मोक्ष नहीं दिला सकती।

आत्मा में जब क्रियाशीलता होती है तब आत्मा में कर्मों का बंध रुकता है, संवर-निर्जरा होती है कई बार हम उदाहरण देते हैं किसी बर्तन में दूध या पानी कोई भी पेय रखा है, हम ढक्कन खोले बिना उसमें चाहे नमक रख दें तो उसका स्वाद उसमें आने वाला नहीं है। बाहर से कुछ भी होने वाला नहीं है। ऐसे ही जब तक हम स्वयं अपनी आत्मा में आत्मा का अनुभव नहीं करते, शरीर से भिन्न आत्मा अलग है यह मात्र कहते-सुनते हैं तब तक मोक्ष मार्ग नहीं मिलता। जब शरीर से भिन्न आत्मा को देख लेते हैं अर्थात् अनुभव में आ जाता है तभी से मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है तो वह मार्गी मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है।

महानुभाव ! यहाँ आचार्य महाराज यही समझा रहे हैं कि मोक्ष का मार्ग मात्र शब्दों का व्यापार नहीं है एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकालना या कान से सुनकर मुख से निकालना नहीं अपितु सुनकर अंदर में ले जायें व उनका अनुभव करें तभी उन शब्दों की सफलता है अन्यथा नहीं।

तथैव भावयेद्देहाद् व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥८२॥

अन्वयार्थ-अन्तरात्मा को चाहिए कि वह **देहात्**-शरीर से **आत्मानं**-आत्मा को **व्यावृत्य**-भिन्न अनुभव करके **आत्मनि**-आत्मा में ही **तथैव**-उस प्रकार से **भावयेत्**-भावना करे **यथापुनः**-जिस प्रकार से फिर **स्वप्नेऽपि**-स्वप्न में भी **देहे**-शरीर की उपलब्धि होने पर उसमें **आत्मानं**-आत्मा को **न योजयेत्**-योजित न करे। अर्थात् शरीर को आत्मा न समझ बैठे।

इससे पूर्व के श्लोक में आत्मा के स्वयं अनुभव की बात कही इसी बात को पुष्ट करते हुये कह रहे हैं-

अपने मन में बार-बार यह भावना करना देह तो पड़ौसी है विजातीय है। विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से इसका चिंतवन करो जैसे यह देह तो मकान है, मैं उसमें रहने वाला व्यक्ति हूँ, देह तो कुटी है यह आत्मा उसमें रहने वाली संत-महात्मा है, देह तो वस्त्र की तरह से है आत्मा तो मात्र धारक है, देह तो बर्तन की तरह है आत्मा उसमें रहने वाला द्रव्य घी तेल आदि है। इस प्रकार का चिंतवन करना कि जैसी आत्मा है वैसी ही है यदि अन्यथा भावना भायी तो आत्मा के स्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाओगे। आत्मा के बारे में सोचते जाओ-सोचते जाओ और इतना डूब जाओ फिर आपको जो भी दिखेगा वह सब पुद्गल दिखेगा। संस्कार ऐसे दृढ़ हो जायेंगे कि बाह्य वस्तुओं में आत्मा की कल्पना कर ही न सकोगे। धोखे से भी आपको कोई छल न पायेगा। यहाँ तक कि स्वप्न में भी शरीर में आत्मा की कल्पना न कर पायेगा। बस यही कहेगा देह में आत्मा है, देह आत्मा नहीं है।

दूध में घी है, दूध घी नहीं है। घी में चिकनाई है पर घी चिकनाई नहीं है। अग्नि में उष्णता है पर अग्नि उष्णता नहीं है। अग्नि में उष्णता के अलावा कई गुण पाये जा सकते हैं, ऐसे ही देह में आत्मा है पर आत्मा व देह अलग-अलग हैं। कदाचित् अग्नि में उष्णता कोई कह भी दे क्योंकि गुण और गुणी कभी भेद और अभेद भी होते हैं, घी में चिकनाई कह भी दें, जल व जल की शीतलता कह भी दें किन्तु फिर भी यह प्रसंग शरीर व देह के साथ नहीं जोड़ सकते क्योंकि देह विजातीय है। ऐसा कैसे हो सकता है कि कोई क्षत्रिय यदि चाण्डाल के घर में रह रहा है तो वह क्षत्रिय चाण्डाल हो जाये? क्षत्रिय तो क्षत्रिय है। ऐसे ही यह शरीर तो चाण्डाल की तरह से है उसमें रहने वाली आत्मा चाण्डाल कैसे हो सकती है।

यदि किसी काँच के बर्तन में हीरा रखा है तो बर्तन काँच का कहलायेगा हीरा नहीं। हीरा अंदर है उस हीरे को तो जौहरी ही जान सकता है। सामान्य व्यक्ति तो उस पात्र (काँच) को ही हीरा समझता है। महानुभाव ! दैनिक जीवन में कई शब्द ऐसे प्रयोग कर लेते हैं-तेल की शीशी ले आओ, अरे ! शीशी तेल की नहीं है शीशी में तेल है, या घी का कनस्तर तो कनस्तर तो टीन का है घी तो उसमें रखा है। कनस्तर कभी घी नहीं हो सकता, घी कभी कनस्तर नहीं हो सकता

ऐसे ही जो आत्मा है वह कभी देह नहीं हो सकती, जो देह है वह कभी आत्मा नहीं हो सकती। दोनों के स्वरूप, लक्षण, उपयोग आदि अलग-अलग हैं एक नहीं हो सकते।

यहाँ यही कह रहे हैं, ऐसी धारणा मन में बिठा लो स्वप्न में भी अनुभव यही करो देह अलग है, आत्मा अलग दोनों कभी एक हो ही नहीं सकते। शरीर पुद्गल स्कन्ध है, अचेतन है और आत्मा चेतन पदार्थ है इस प्रकार इन दोनों में भेद विज्ञान करके फिर ज्ञानानन्दमय आत्मा को ऐसी दृढ़ भावना से भावें कि फिर स्वप्न में भी यदि देह उपलब्ध हो, उपयोग के सामने आवे तो भी देह को आत्मा न मान सकें अर्थात् स्वप्न में भी ज्ञान भावना बनी रहे।

४१. उत्कृष्ट आनंद

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयो र्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥८३॥

अन्वयार्थ-अव्रतैः-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप पाँच अव्रतों के अनुष्ठान से **अपुण्यम्**-पाप का बंध होता है और **व्रतैः**-अहिंसादिक पाँच व्रतों के पालने से **पुण्यं**-पुण्य का बंध होता है **तयोः**-पुण्य और पाप दोनों कर्मों का **व्ययः**-जो विनाश है वही **मोक्षः**-मोक्ष है **ततः**-इसलिये **मोक्षार्थी**-मोक्ष के इच्छुक भव्य पुरुष को चाहिए कि **अव्रतानि इव**-अव्रतों की तरह **व्रतानि अपि**-व्रतों को भी **त्यजेत्**-छोड़ देवें।

जीव जब तक संकल्पपूर्वक व्रतों को प्राप्त नहीं होता अर्थात् अव्रती अवस्था में रहता है। उन अव्रतों के द्वारा उसके जीवन में अपुण्य का संचय होता है पाप बढ़ता चला जाता है। कोई व्यक्ति कहता है मैं तो पाप करता ही नहीं किन्तु अव्रत अवस्था स्वयमेव पाप की अवस्था है। चाहे वह अपुण्य कर रहा है या नहीं जैसे कोई व्यक्ति प्रमाद पूर्वक प्रवृत्ति करता है तो चाहे पाप हो रहा हो या नहीं हो रहा हो, जीव हिंसा हो या न हो फिर भी पाप का संचय ही होगा। यहाँ यही बता रहे हैं। इसके विपरीत व्रतैपुण्यं-व्रतों के द्वारा पुण्य की प्राप्ति होती है। किसी ने बुद्धिपूर्वक संकल्प लिया है कि मैं पाँचों पापों का त्याग करता हूँ इस संकल्प से पुण्य का आश्रव होता है। क्योंकि जो व्रत है उनमें शुभ प्रवृत्ति होती है। सावधानी पूर्वक की गयी क्रिया, गुप्ति-समिति आदि में प्रवृत्ति जो होती है वह मन-वचन-काय की होती है और जब अच्छी प्रवृत्ति है तो अच्छा कर्म आयेगा बुरी प्रवृत्ति है तो बुरा कर्म आयेगा। अच्छे कर्म का नाम होता है पुण्य, बुरे कर्म का नाम होता है पाप।

अव्रती अवस्था में अव्रती रहते हुये जो जीव प्रवृत्ति करता है, उसके द्वारा पाप का संचय किया जाता है, व्रती अवस्था में करी गयी प्रवृत्ति द्वारा पुण्य का संचय किया जा रहा है। प्रवृत्ति से कर्म आयेगा ही आयेगा। योग तो हैं, योगों का कार्य है कर्मों को बुलाना। ''काय वाङ्मनः कर्मयोगः'', ''स आश्रवः''। काय-वचन-मन इन तीनों के माध्यम से कर्मों का आश्रव होता है, इनके निमित्त से आत्म प्रदेशों में जो परिस्पन्दन हो रहा है वह परिस्पन्दन कर्मों को बुला रहा है और बुलाते समय उसके परिणाम कैसे हैं ? कषाय जन्य हैं, कषाय की मंदता लिये हुये हैं, पाप रूप हैं या पापों के त्याग रूप (पुण्यरूप) हैं।

अव्रत तो काला है, इसलिये जब आश्रव आता है तो अव्रत की कालिमा छा जाती है और व्रत धवलता है जब वह आता है तो उसका रंग पड़ जाता है। या यूँ कहें कि जैसे कहीं पानी का झरना झर रहा है ऊपर से पानी बहता चला जा रहा है, ऊपर पहाड़ पर मिट्टी का ढेर लगा हुआ

है हवा चलती है तो मिट्टी पानी के साथ मिलकर आती है तो पानी गंदा हो जाता है, उसी झरने के ऊपर पहाड़ पर मिट्टी साफ कर फूलों का ढेर लगा दिया और यदि हवा चलती है तो फूल पानी के साथ गिरते हैं वह पानी भी सुगंधित हो जाता है। पुण्य पुष्प की तरह पानी को सुगंधित करने वाला है और पाप दुर्गंधित करने वाला है। ऐसे ही अव्रत के द्वारा जो आश्रव हो रहा है वह आश्रव पाप रूप हो जाता है और व्रती द्वारा जो आश्रव होता है वह पुण्य रूप हो जाता है।

पाप रूप आश्रव एकान्तत: संसार परिभ्रमण का कारण बनता है और पुण्य का आश्रव होता है वह परम्परा से मोक्ष का कारण बन जाता है।

किन्तु मोक्ष किसे कहते हैं ? जिसमें पुण्य-पाप दोनों नष्ट हो जाते हैं। यदि यह कहें कि पुण्य के रहते हुये मोक्ष की प्राप्ति हो जाये तो नहीं क्योंकि यदि पुण्य रहेगा तो पुण्य का ही फल भोगना पड़ेगा और फल भोगने के लिये संसार में रहना पड़ेगा। पाप जब तक सत्ता में पड़ा रहेगा तब तक उसके फल को भोगने के लिये भी संसार में रहना पड़ेगा। तो फल चाहे पुण्य का हो या पाप का हो दोनों का फल संसार में ही भोगा जा सकता है मोक्ष में पुण्य-पाप का फल नहीं भोगा जा सकता। जब पुण्य-पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं तब इस आत्मा का मोक्ष होता है।

आचार्य महाराज कितनी गहरी बात कह रहे हैं, आध्यात्मिकता की चोटी पर ले जाकर रख दिया-मोक्ष प्राप्त करने के लिये, अपना कल्याण करने के लिये व्यक्ति अव्रतों का त्याग कर देता है। अव्रतों का त्याग कर वह व्रती, अणुव्रती बनता है। अब कह रहे हैं इन व्रतों का त्याग करने का विकल्प भी मत रखो यदि ये विकल्प रखोगे तो तुम कभी निर्विकल्प नहीं हो पाओगे। अत: मोक्षार्थी को अव्रतों की तरह से व्रतों का विकल्प भी छोड़ देना चाहिये। क्योंकि व्रत आत्मा तक ले जाने के लिये साधन थे, आत्मा में निमग्न करने के साधन थे, जब आत्मा आत्मा में निमग्न हो गयी तो अब वहाँ न कोई व्रत है न अव्रत।

महानुभाव ! अव्रतों को छोड़ना पड़ता है व्रत छूट जाते हैं। किसी वृक्ष पर काँटे लगे हैं उन्हें तोड़कर अलग करना पड़ता है, जबकि पुष्प अपने आप झड़ जाते हैं, उन्हें तोड़ना नहीं पड़ता है। पुण्य तो पुष्प की तरह से है जब तक पुष्प बना रहेगा तब तक फल नहीं आयेगा। आम का बौर आता है लगभग माघ और फाल्गुन के माह में, बौर तो बना रहे, आम भी आ जाये तो क्या ऐसा हो सकता है? नहीं जब बौर झड़ने लगता है तब फल आना शुरू होता है। जब तक वृक्ष पर फूल हैं तब तक फल आना शुरू नहीं होता। वह पुण्य फूल की तरह है। यदि पुण्य को बुद्धि पूर्वक तोड़कर फेंक दिया तो फल नहीं लगेंगे, फल के लिये फूलों का आना जरूरी है।

यहाँ कहा-उस पुष्प को ही फल मत मानो, क्योंकि उसे छोड़ना भी जरूरी है। मोक्षार्थी जिस तरह अव्रतों को छोड़ता है वैसे आगे बढ़ता हुआ व्रतों में भी लीन न रहे। भगवान् महावीर स्वामी

ने इन्द्रभूति गौतम गणधर से कहा-गौतम ! तू संसार को पार करके तो आ गया तूने संसार के सब पदार्थों से मोह छोड़ दिया किन्तु तेरा जो मेरे प्रति राग है उस राग को भी छोड़ दे, तभी तू मोक्ष प्राप्त कर सकेगा। यदि राग एक परमाणु मात्र के प्रति भी रखेगा तो मोक्ष प्राप्त न कर सकेगा।

महानुभाव ! नाव एक किनारे से दूसरे किनारे तक ले जाने के लिये है जब इस किनारे से उस किनारे पर तू पहुँच गया तो अब नाव से उतर जा, उसे छोड़ दे। ये व्रत तुझे संसार के विकल्पों से निकालकर, वहाँ तक ले जाने वाले थे, संकल्प ने तुझे वहाँ तक ले जाकर पहुँचा दिया जहाँ तू आत्मा में लीन हो सकता है, अब तू आत्मा में लीन क्यों नहीं हो रहा इन विकल्पों में क्यों पड़ा हुआ है।

यहाँ तात्पर्य यही है कि कोई पुरुष हिंसा झूठ आदि अशुभ परिणाम करे तो उससे पाप होता है और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, गुरु सेवा आदि परिणामों से पुण्य होता है। यदि पुण्य-पाप दोनों का अभाव हो जाये तो मोक्ष होता है। मोक्ष ही उत्कृष्ट आनंद स्वरूप सर्वथा शुद्ध विकास है। इस कारण मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को चाहिये कि जैसे वह पाप छोड़ने का यत्न करता है वैसे ही पापों को छोड़कर फिर पुण्य भाव से भी निवृत्त होने का यत्न करे।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥८४॥

अन्वयार्थ-अव्रतानि-हिंसादिक पंच अव्रतों को **परित्यज्य**-छोड़कर के **व्रतेषु**-अहिंसादिक व्रतों में **परिनिष्ठितः**-निष्ठावान् रहे अर्थात् उनका दृढ़ता के साथ पालन करे, बाद में **आत्मनः**-आत्मा के **परमंपदं**-रागद्वेषादिरहित परम वीतराग पद को **प्राप्य**-प्राप्त करके **तानि अपि**-उन व्रतों को भी **त्यजेत्**-छोड़ देवे।

पहले किनारे खड़ा था अतः किनारे का त्याग कर दे नाव में बैठ जा। नाव में ऐसे नहीं बैठना कि मुझे तो उतरना ही है इसलिये किनारे पर बैठ गये, नहीं। अन्यथा लहर आयेगी नीचे गिर जाओगे इसलिये नाव में अच्छे से बैठ जाओ। यात्रा तक अच्छे से बैठ जाओ यह मत सोचो मुझे उतरना तो है ही तो लटक ही जाओ, नहीं। तो पहले आप जहाँ खड़े थे उस भूमि का त्याग किया फिर जहाँ बैठना है वहाँ अच्छे से बैठ गये। तो पहले अव्रतों का त्याग किया उन्हें पूर्णतः परित्याग किया यदि थोड़ा भी पकड़े रहे तो व्रत समीचीन रूप से ग्रहण नहीं हो पायेंगे। देखो-

एक व्यक्ति शिखर जी जाना चाहता है उसे स्टेशन पर ले गये, और कहा गाड़ी में बैठो। अब वह कहता है नहीं भाई मैं गाड़ी में नहीं बैठूँगा। उससे बहुत कहा गाड़ी में बैठ जा। वह बोला पहले ये बताओ गाड़ी में से मुझे उतारोगे तो नहीं, वे बोले हाँ जब स्टेशन आयेगा तो उतारेंगे। वह बोला गर उतारोगे तो मैं बैठूँगा ही नहीं। ट्रेन आयी उसके चारों मित्रों ने उसे पकड़कर ट्रेन में बिठा दिया।

(अर्थात् व्रतों में स्थापित कर दिया।) अब वह रोने लगा, रूठने लगा। मैं उतरूँगा नहीं। मित्रों ने कहा स्टेशन आयेगा तब की तब देखेंगे अभी तो अच्छे से बिठा ही दो। स्टेशन आया तो वह उतरने का नाम ही न ले मैंने पहले ही कहा था कि बैठाओगे तो उतरूँगा नहीं। मित्रों ने समझाया-भाई ! बैठना भी जरूरी था, उतरना भी जरूरी है, बैठे-बैठे शिखर जी थोड़े ही न आ जायेगा। वहाँ से यहाँ तक की दूरी पार करने के लिये ट्रेन में बैठना जरूरी था और यहाँ उतरना भी जरूरी है यहाँ उतरे बिना हम शिखर जी न पहुँच पायेंगे। ऐसे ही अव्रतों को छोड़कर व्रतों की गाड़ी में बैठना जरूरी है जिसके माध्यम से आत्मा को आत्मा में लीन कर सकें।

महानुभाव ! जब तक व्रतों को ग्रहण नहीं किया जायेगा तब तक आत्मा को आत्मा में लीन नहीं किया जा सकता। अतः महाव्रतों की गाड़ी में बैठना जरूरी है किन्तु जब आत्मा आत्मा में लीन हो जाये तब व्रतों का कोई विकल्प नहीं आता, फिर तो आत्मा में आत्मा की सहज प्रवृत्ति हो रही है सहजता में न कोई पुण्य हो रहा है न पाप हो रहा है बस सयोग केवली अवस्था है अब मात्र मोक्ष की प्राप्ति शेष है।

यहाँ पर यही बताया है कि हे भव्य जीव ! अव्रतों को बुद्धिपूर्वक संकल्पपूर्वक अच्छी तरह छोड़ दे, कहीं अव्रतों की गंदगी तेरे साथ रह नहीं जाये उसे छोड़ना जरूरी है, उसे पानी से साफ करना जरूरी है अब शरीर गीला है तो उसे पोंछना भी जरूरी है अतः पहले व्रतों का जल डालकर कीचड़ धोयी जा रही है जब कीचड़ धुल गयी पानी से शरीर गीला है उस शरीर का प्रक्षालन भी आवश्यक है। इस प्रकार आत्मा के परमपद को प्राप्त करने के लिये उन व्रतों का विकल्प भी छोड़ देना चाहिये, जब तक वह आत्मा शुद्ध ध्यान में लीन नहीं हुआ है। आत्मा को परम पद प्राप्त नहीं हुआ तब तक व्रतों का त्याग नहीं करना चाहिये।

वीतरागी प्रभु के मन में कोई विकल्प नहीं आता, विरागी के मन में ही विकल्प आता है जब तक विकल्प आता है तो अच्छे विकल्प रखो, जहाँ विकल्प आता ही नहीं तो कोई बात ही नहीं। जब तक व्यक्ति खा रहा है तब तक यह सोचो कि भक्ष्य खाना है, अभक्ष्य नहीं खाना किन्तु जिसने खाने का ही त्याग कर दिया तो भक्ष्य अभक्ष्य का भेद कहाँ रहा। जिसे चलना है उसे चुनना पड़ेगा कि यह रास्ता सही है या गलत किन्तु जिसे चलना ही नहीं है तो उसे अच्छे-बुरे रास्ते का विकल्प ही क्यों ? जिसे देखना है उसे ही अच्छे-बुरे दृश्यों का विकल्प आयेगा किन्तु जिसे देखना ही नहीं आँख बंद है। स्वयं अपनी अंतरात्मा को देख रहा है उसके लिये संसार में क्या अच्छा क्या बुरा। जिसे मन से सोचना है वह कहेगा मन से बुरा सोचूँगा तो पाप पड़ेगा और अच्छा सोचूँगा तो पुण्य। किन्तु जिसने मन को अर्थात् मन के क्षायोपशमिक भाव को क्षायिक में बदल दिया और सोचना ही बंद कर दिया, सब कुछ झलक रहा है उसके ज्ञान में, उसके लिये क्या अच्छा-क्या

बुरा। इस प्रकार यहाँ कहा अव्रतों को छोड़कर व्रतों को स्वीकार करें और आत्मा जब परम पद को प्राप्त कर ले तब आत्मा व्रतों को भी त्याग देती है अर्थात् वे छूट जाते हैं।

महानुभाव ! तात्पर्य यही है हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा आदि अव्रत भावों को छोड़ना और अहिंसादि व्रतों का पालना कल्याण में बढ़ने में प्रथम आवश्यक है, किन्तु ज्ञानी पुरुष ने चूंकि शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का लक्ष्य किया है अत: उस लक्ष्य में बढ़ते-बढ़ते वीतरागता, आत्म स्वरूप परम समाधि का पद प्राप्त हो जाये तब व्रत भाव भी छूट जाते हैं।

विणा धम्मेण णो को वि, कस्स वि पावदे सुहं।
पालेज्जा सव्वदा धम्मं, सव्वस्स संति-कारगं॥२॥

अर्थ-बिनाधर्म के कोई भी, किसी भी प्रकार के सुख को प्राप्त नहीं करता इसलिए सर्व शान्तिकारक धर्म का पालन करना चाहिए।

जदि-किदि-कम्मं
(यति कृति कर्म)
आचार्य श्री वसुनंदी मुनि

४२. दुःख का मूल

यदन्तर्जल्प संपृक्तमुत्प्रेक्षाजाल मात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्ट मिष्टं परं पदम्॥८५॥

अन्वयार्थ-अन्तर्जल्पसंपृक्तं-अंतरंग में वचन व्यापार को लिये हुए **यत् उत्प्रेक्षाजालं**-जो अनेक प्रकार की कल्पनाओं का जाल है वही **आत्मनः**-आत्मा के **दुःखस्य**-दुःख का **मूलं**-मूल कारण है **तन्नाशे**-उस विविध संकल्प विकल्परूप कल्पना जाल के विनाश होने पर **इष्टं**-अपने प्रिय हितकारी **परं पदं शिष्टं**-परमपद की प्राप्ति कही गई है।

यहाँ बता रहे हैं-अन्तर्जल्प सहित जो कल्पना जाल है। जल्प शब्द के दो अर्थ हैं। एक जल्प अर्थात्-विकल्प, एक जल्प अर्थात् अंदर में अस्पष्ट बोले गये शब्द। जिसे जम्पन भी कहते हैं। जो अंदर ही अंदर मन में कुछ चल रहा है, कई बार शब्द होठों द्वारा निकलते हैं (बाहर आवाज नहीं आती) और कई बार मन में ही कहता रहता है उससे यह कहूँगा, यह करूँगा तो शब्द बाहर ही नहीं आ रहे। तो इन शब्दों को भी जल्प कहते हैं और जो नहीं बोल रहा है सोच रहा है उनको भी जल्प कहते हैं।

विकल्प और संकल्प में थोड़ा अन्तर है एक ही विकल्प में उपयोग की स्थिरता हो जाना संकल्प है। और अनेक प्रकार के संकल्परूप भाव विकल्प हैं। संकल्प भी विकल्प है, विकल्प भी संकल्प है। जब समस्त विकल्पों को छोड़कर के एक ही रह गया उसे संकल्प कहते हैं और जब संकल्प ज्यादा हैं मैं ये भी करूँगा वो भी करूँगा वे सब संकल्प नहीं विकल्प हैं।

संकल्प एक ऐसा मनस्वी शब्द है कि वह अन्य विकल्पों के साथ रहता ही नहीं वह अकेला ही रहता है। जैसे तीर्थंकर सदैव एक अकेले रहते हैं वे स्वयं में सक्षम हैं इसलिये अन्य तीर्थंकरों के साथ नहीं रहते ऐसे ही संकल्प स्वयं में स्पेशल है। संकल्प के साथ जो नाना विकल्प होते हैं वे छूट जाते हैं। संकल्प एक सतत प्रवाही नदी की तरह से है जो पर्वत से प्रारंभ होकर समुद्र पर्यंत बीच में कहीं बिखरती नहीं है और विकल्प उस नाले की तरह है जो कहीं से भी बहकर आ जाता है।

महानुभाव ! जीवन में विकल्प बहुत सारे होते हैं और संकल्प एक होता है। दूसरी बात मैं ऐसा हूँ, अर्थात् मैं चैतन्य रूप ही हूँ यह संकल्प रूप है। ममेदं-यह मेरा है यह विकल्प है। मेरा मकान, मेरी दुकान, मेरा पुत्र आदि-आदि मेरे-मेरे विकल्प हैं किन्तु मैं ऐसा हूँ इसमें सौ विकल्प नहीं हो सकते मैं तो चैतन्य स्वरूपी हूँ, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हूँ, मैं तो चिन्मय आत्मा हूँ, मैं शक्ति अपेक्षा परमात्मा हूँ यह संकल्प है और यदि नाना प्रकार के गुण लिये तो ये विकल्प हो गये कि मेरे अंदर ज्ञान भी है, मेरे अंदर दर्शन भी है, मेरे अंदर अनंत शक्ति भी है आदि ये सब विकल्प हैं व्यवहार की भाषा हो गयी।

व्यवहार की भाषा में जब एक में उपयोग लग जाता है तो उसे संकल्प कहते हैं अनेक में हो जाता है तो विकल्प कहते हैं। संकल्प के मायने समझें ध्यान। कैसे ? उत्तम संहनन वाला व्यक्ति एक ही वस्तु में, एक ही वस्तु के लक्षण या गुण विशेषता में अपने उपयोग को एकाग्र कर दे तो ध्यान है।

एकाग्र, एक अर्थात् एक 'अग्र' का अर्थ होता है 'प्रधान'। किसी वस्तु में अनेक गुण हो सकते हैं अनेक गुणों पर विचार कर रहे हैं तो ध्यान नहीं बनेगा, वह बनेगा चिंतन। किन्तु उस एक मुख्य में जो प्रधान है उसमें उपयोग को स्थिर कर देना वह ध्यान बनता है। ध्यान में ज्ञाता-दृष्टा बनकर देख रहा है ऐसा भी है वैसा भी है। कोई वस्तु आपके सामने रखी है माना कि टमाटर आपने देखा, उसे जब आप देखते जा रहे हैं तब यदि मात्र देख रहे हैं कोई विकल्प नहीं बस जो दृष्टि लगी है। वह क्षण का उपयोग ध्यान है। अब जब आप ये सोचने लगे कि यह तो लाल है, कच्चा टमाटर भी होता है वह थोड़ा सा हरा सा होता है खट्टा भी बहुत होता है, देख तो उसी को रहे हैं पर देखते-देखते नाना बातें उसही के संबंध में सोच रहे हों तो यह चिंतन हो गया, यह विकल्प होते हैं।

तत्त्व चिंतन में विकल्प होते हैं ध्यान में एकाग्रता होती है। ध्यान में तो चाहे दिन हो या रात बस एक ही धुन सवार होती है। वह अरुणिमा जिसे एवरेस्ट की चोटी चढ़नी है तो चढ़नी है, विल्मा रुडोल्फ जो बचपन में ही पोलियो का शिकार हो गयी किन्तु दृढ़ संकल्प लिया कि मैं बिना बैसाखी के भी दौड़ लगाऊंगी और लगातार तीन स्वर्ण पदक जीते। जैसे कोई-कोई गृहस्थ सोचते हैं मुझे मुनि तो बनना है चाहे कुछ भी हो जाये तो उनका यह संकल्प उन्हें मुनि बना ही देता है। जिसके मन में जो एक ही चिंता लगी है वही उसे दिन-रात दिखायी देती है तो समझो वह अपने संकल्प को प्राप्त कर लेगा। जिसका संकल्प शिथिल हो जाता है वह विकल्पों के झूलों में झूलता रहता है और एक संकल्प के साथ सागर भी हो तब भी तैर कर पार हो जायेगा, विकल्पों के साथ छोटा सा गड्ढा भी पार न कर पायेगा।

महानुभाव ! यहाँ बता रहे हैं जो अन्तर्जल्पों से संपृक्त है। संपृक्त का अर्थ होता है स्वभाव रूप से उसमें मिला हुआ। संयुक्त का अर्थ होता है बाहर से मिला हुआ। संपृक्त कहें तो व्याप्त शब्द ज्यादा उचित रहेगा। जैसे घी में चिकनाई संपृक्त है (व्याप्त है), दूध में घी संपृक्त है, रक्त में श्वेत रुधिर कणिकायें व लाल रुधिर कणिकायें संपृक्त हैं, जल में ऑक्सीजन-हाइड्रोजन के परमाणु संपृक्त हैं इसके विपरीत दूध में शक्कर वह संयुक्त है अर्थात् संयोगी भाव है। संपृक्त और संयुक्त में यही अन्तर है।

अन्तर्जल्प बाहर से नहीं डाले वे अंदर से ही स्वयं पैदा हो गये, तो जहाँ मन है वहाँ वे स्वयं पैदा हो रहे हैं मन में विकल्प स्वतः ही उत्पन्न हुये हैं। कुयें में पानी जो पैदा हुआ है वह संपृक्त

है किसी हद में पानी डाला जाये तो वह संयुक्त हो गया। किसी कपड़े का सहज रंग श्वेत रंग यह उसमें संयुक्त है कभी कबार बाहर से डाला हुआ भी इतना मिक्स हो जाता है कि संपृक्त जैसा लगता है। जैसे किसी वस्त्र को गर्म पानी में रंग डालकर के ओंटा दिया हो तो वस्त्र का रंग सहजता से नहीं जाता।

तो कह रहे हैं उन अन्तर्जल्पों के कारण 'उत्प्रेक्षाजालमात्मन:' इस आत्मा में विभिन्न प्रकार की कल्पनायें, विभिन्न प्रकार का व्यापार, वचनों का व्यापार, मन का व्यापार, शरीर का व्यापार सब चलता रहता है। जैसे आचार्य महाराज पूरे ग्रंथ में एक ही बात कह रहे हैं आत्मा अलग है शरीर अलग इसे अच्छे से जान लो किन्तु जिसके मन में एक ही व्यापार चल रहा है कि मैं शरीर रूप हूँ, मैं मन रूप हूँ, मैं ही वचनों का व्यापार हूँ ऐसा जो मान रहा है वह मिथ्यादृष्टि है और जिसने अपनी आत्मा को मन से, वचन से, काय से तीनों से भिन्न कर लिया, मैं मन नहीं हूँ यह तो क्षायोपशमिक भाव है, मैं वचन नहीं हूँ ये शब्द तो पौद्गलिक हैं और ये इस देह से निष्पन्न होते हैं आत्मा से नहीं और मैं शरीर भी नहीं हूँ क्योंकि ये तो नोकर्म है ये तो मेरी आत्मा से अत्यंत पृथक है ऐसा जो जानता है वह इष्ट परमपद को प्राप्त करता है।

यह जो व्यापार है कि देह-आत्मा को एक रूप मानना ये दु:ख का मूल है। उसके नाश होने पर उस धारणा के खत्म होने पर इष्ट परम पद की प्राप्ति होती है। कब ? जब यह धारणा नाश होती है कि अनात्मा में आत्मा का भाव है, जो वचन व्यापार है और शरीर से चेष्टा रूप जो धारणा बनी थी उसके नाश होने पर फिर यह आत्मा परम पद को प्राप्त हो जाती है। जब तक धारणा नष्ट नहीं होती तब तक कितना ही तप कर लो, वचनों से कितना ही कहे मैं परमात्मा हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्धात्मा हूँ या मन में कितना ही विचार करता रहे कि सिद्धों के अनंत गुण होते हैं किन्तु जब तक ये धारणा नहीं गयी तब तक परम पद की प्राप्ति असंभव है।

महानुभाव ! आचार्य महाराज बस यही समझाने का समीचीन पुरुषार्थ कर रहे हैं कि-

कल्पनायें जो उठती हैं वे अंदर में कुछ अव्यक्त रूप से शब्दों की गुनगुनाहट करती हुयी उठती हैं। यह तो कल्पनाओं का स्वरूप है ये कल्पनायें ही आत्मा को क्लेश पहुँचाने की कारण हैं अन्यथा आनन्दमय आत्मा को क्लेश कहाँ से हो सकता है। उन जालों के नाश होने पर जो इष्ट है ऐसा आनंदमय परम पद तो उपलब्ध है ही अत: इष्ट अविनाशी आनंद की प्राप्ति के लिये निर्विकल्प ज्ञायक स्वरूप भावना करके इन अन्तर्जल्पों का विनाश कर देना चाहिये।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायण:।
परात्मज्ञानसंपन्न: स्वयमेव परो भवेत्॥८६॥

अन्वयार्थ-अव्रती-हिंसादिक पंच अव्रतों-पापों में अनुरक्त हुआ मानव **व्रतं आदाय**-व्रतों को ग्रहण करके, अव्रतावस्था में होने वाले विकल्पों का नाश करे, तथा **व्रती**-अहिंसादिक व्रतों का

धारक **ज्ञान-परायणः**-ज्ञान भावना में लीन होकर, व्रतावस्था में होने वाले विकल्पों का नाश करे और फिर अरहंत अवस्था में **परात्मज्ञानसम्पन्नः**-केवलज्ञान-से युक्त होकर **स्वयमेव**-स्वयं ही बिना किसी के उपदेश के **परः भवेत्**-परत्मात्मा होवे-सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करे।

यहाँ श्लोक 83-84 का जो भाव है उसी को पुष्ट करते हुये कह रहे हैं-

जो अव्रती है हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापों को करता है, पापों में लिप्त है वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों को स्वीकार करे। पुनः जो व्रती बन गया अणुव्रती है तो महाव्रती बने, महाव्रती बन सविकल्प सराग व्यवहार चारित्र को प्राप्त कर लिया है तो निर्विकल्प वीतराग और निश्चय चारित्र को प्राप्त करे। व्यवहार से निश्चय में पहुँचे जब वहाँ पहुँच गया तो अब चारित्र मोहनीय कर्म को नष्ट करे 10वें से 12वें गुणस्थान में पहुँच जाये, अन्तर्मुहूर्त में ही ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अंतराय व मोहनीय कर्मों को क्षय कर 13वें गुणस्थान को प्राप्त करे अर्थात् अब सयोग केवली बन गया। जब केवल ज्ञानी बन गया तो 'ज्ञान परायणा' ज्ञान से संयुक्त हो गया फिर जब वह उत्कृष्ट आत्मा से सम्पन्न हो गया तो वह स्वयं ही परमात्मा हो जाता है फिर उसे व्रतों का विकल्प नहीं रहता है। पहले अव्रती अवस्था को प्राप्त करता है, अव्रती से व्रती अवस्था को प्राप्त करता है, व्रती अवस्था से महाव्रती और पुनः वीतराग चारित्र को प्राप्त कर लेता है तब ज्ञान से सम्पन्न आत्मा ही उत्कृष्ट आत्मा कहा जाता है। यह एक क्रम दिया।

अव्रतों का त्याग करना भी जरूरी है जैसे कोई व्यक्ति घर से निकला, फिर बैठा टैक्सी में, फिर टैक्सी भी छोड़ी तो स्टेशन पहुँचा पुनः ट्रेन में बैठा पुनः उसने वह भी छोड़ा और अपने गंतव्य तक पहुँचा। पहले घर को छोड़ो घर को छोड़े बिना अन्य-अन्य को प्राप्त नहीं कर पायेगा।

अव्रतों का त्याग माना घर का त्याग किया, अणुव्रतों को ग्रहण किया माना टैक्सी में बैठ गया, वह तो सामान्य दूरी को ही पार कर सकता है किन्तु अणुव्रतों में भी उत्कृष्ट व्रत क्षुल्लक जी ऐलक जी हो गये और ट्रेन में बैठ गये। महाव्रत प्राप्त करने हैं तो एयरपोर्ट पहुँच गये हेलीकॉप्टर में बैठ गया वह भी कम दूरी तक ले जा सकता है अर्थात् महाव्रत तो है पर चारित्र सराग या व्यवहार चारित्र है विकल्पों से सहित प्रमादों से सहित है किन्तु जब निश्चय चारित्र को प्राप्त कर लिया तो ऐसे भी एरोप्लेन हो सकते हैं जो बीच में कहीं भी न रुकें सीधे जहाँ से बैठे तो गन्तव्य पर ही उतरें। बीच में रुके ही नहीं। हमें सीधा सिद्धालय में जाना है। अयोग केवली अवस्था से उठे और सिद्धों में पहुँच गये।

यहाँ बताया-सर्वप्रथम वह पाक्षिक बने अर्थात् धर्म का पक्ष ले। वह कहे हाँ पाप तो पाप है वह ठीक नहीं, इतनी आत्मा से आवाज आ जाये कि गलत तो गलत है चाहे मैं करूँ या दूसरा।

जो पाप को पाप मान लेता है वह भविष्य का परमात्मा होता है। क्यों ? क्योंकि पाप को पाप जानने वाले तो संसार के बहुत प्राणी होते हैं किन्तु पाप को पाप मानने वाला विरला व्यक्ति ही होता है। हो सकता है आज वह चारित्र मोहनीय के उदय से पाप नहीं छोड़ पा रहा है अतिचार लग रहे हैं किन्तु वह निश्चित रूप से परमात्मा बनेगा जरूर। जिसने मान लिया ये जहर है और ये अमृत तो भले ही आज जहर खा रहा है किन्तु आज नहीं तो कल निश्चय से छोड़ ही देगा। अमृत कल प्राप्त करके ही रहेगा। तो जो पाप को पाप मानकर धर्म के पक्ष में रहने वाला है वह पाक्षिक श्रावक भी भविष्य का परमात्मा है।

दूसरा है नैष्ठिक श्रावक जो निष्ठा के साथ कहता है धर्म ही ऐसा है उसके बिना किसी और से भला हो ही नहीं सकता। जब निष्ठा कमजोर थी तब तक तो मात्र वचनों से कह रहा था, कुछ दबाव पड़ा तो अलग हो गया किन्तु अब गहरी आस्था, श्रद्धा हो गयी अब उसकी अन्तरात्मा बोल रही है। जब पक्ष ले रहा था तब जीभ बोल रही थी अब अन्तरात्मा बोल रही है कोई कह दे कि छोटे-छोटे पाप तो चलते रहते हैं बलि दे दो पुण्य तो मिलता ही है तो वह कहता है भैया कैसी बात करते हो किसी जीवात्मा की बलि पुण्य कैसे हो सकती है। वह अहिंसा के प्रति बहुत जागरूक होता है। कोई कह दे उन्होंने तो बिना गृह त्याग किये मोक्ष प्राप्त कर लिया तो वह कहेगा यह तीन काल में असंभव है उसे निष्ठा है अहिंसा के प्रति, वीतरागता के प्रति, आत्मा के प्रति वह अंतरंग की निष्ठा की आवाज ही अलग होती है।

अगला है साधक-साधक जिसने पहले अणुव्रत लिये, थोड़ा-थोड़ा बढ़ा। एक-एक कदम के साथ पहले गुणव्रत लिये फिर शिक्षाव्रत लिये। पहले अणुव्रतों में तो स्थूल पापों का त्याग किया, गुणव्रतों से अणुव्रतों की वृद्धि की शिक्षाव्रतों से मुनि बनने की शिक्षा ग्रहण की फिर सीढ़ी चढ़ना प्रारंभ किया दूसरी-तीसरी-चौथी प्रतिमा ग्रहण की। चढ़ते-चढ़ते ग्यारह प्रतिमा तक पहुँच गया। अब कहता है मैं महाव्रती बनूँगा। मैं तो अमृत जैसे सुख का भी पान करूँगा अब पुनः भावना बढ़ती है अप्रमत्त गुणस्थान में पहुँच गया आगे-आगे बढ़ता ही जाता है।

इस प्रकार यहाँ बताया कि अव्रती अवस्था को छोड़कर व्रतों को ग्रहण करना चाहिये पुनः व्रती को जब तक सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो जाये तब तक वह व्रतों का परित्याग न करे। केवलज्ञान के उपरांत तो व्यवहार चारित्र से रहित है निश्चय में तो दौड़ने की आवश्यकता ही नहीं। व्रत तो परात्मज्ञान की (केवलज्ञान) प्राप्ति के लिये हैं। वहाँ तक पहुँच कर कुछ नहीं करना सब प्रक्रिया स्वयमेव होगी। पहले पुरुषार्थ करना पड़ता है फिर तो सहज ही उपलब्धि होती है।

आचार्य महाराज कह रहे हैं-इस आत्मा की प्रथम अव्रत अवस्था रहती है तब तो यह कर्त्तव्य है कि व्रत को ग्रहण कर अव्रत अवस्था में होने वाले विकल्प जालों का विनाश कर दे फिर ज्ञान

भावना में रत होकर व्रत अवस्था में होने वाले विकल्प जाल का विनाश करे। इस उपाय से यह आत्मा उत्कृष्ट शुद्ध निर्मल आत्म ज्ञान से सम्पन्न होता हुआ स्वयं ही परमात्मा हो जाता है। आत्म विकास की यह प्रक्रिया है। इसी उपाय से चरम आत्मविकास करके कृतकृत्यता प्राप्त करो।

शंका-चित्त को स्थिर करने का क्या उपाय है ?

समाधान-ज्ञान आत्मा का स्वभाव है उस स्वाभाविक ज्ञान को प्राप्त करने के लिये वह उसमें लीन हो जाये। ज्ञान में लीनता ध्यान कहलाता है और ध्यान से अनंत ज्ञान की प्राप्ति होती है और ध्यान की प्राप्ति अल्प ज्ञान से होती है। अल्प ज्ञान समझो माचिस की डिब्बी में रखी एक तिल्ली जिससे दीपक जलाया। तिली जलाना अल्पज्ञान है तिल्ली से दीपक जलाया वह लौ जल रही है। ज्ञान की कणिका क्षणभर के लिये है तिली से दीपक जलाकर कौन उस तिली को रखता है? जलाकर फेंक देते हैं। जब तक दीपक न जले तब तक ही तिली को जलाते हैं उसके पश्चात् उसकी क्या आवश्यकता ? ऐसे ही अल्पज्ञान (श्रुतज्ञान) के माध्यम से आत्मध्यान को प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसा ध्यान जो कभी बुझे नहीं। छटवें-सातवें में आ रहा है जा रहा है, फिर श्रेणी चढ़ी हवा का झोंका आया कभी गिरे कभी उठे। हवा से दीपक की लौ हिल रही है कभी बुझ भी जाती है 11वें गुणस्थान से नीचे गिर जाता है किन्तु 12वें में पहुँच गये तो ज्योति स्थिर हो गयी अब बुझने का नाम नहीं और 13वें गुणस्थान में तो बिल्कुल स्थिर हो गयी। तो ज्ञान की भावना अर्थात् माचिस की तिली से दीपक को जलाकर दीपक के चारों ओर हम हाथ की ओट लगाते हैं अर्थात् तत्त्व चिंतन ध्यान की ओट करते हैं तब सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ किया जाता है। उस सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने वाली आत्मा ही पराआत्मा कहलाती है, परमात्मा कहलाती है।

४३. मात्र भेष से नहीं मुक्ति

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात् ते ये लिङ्गकृताग्रहाः॥८७॥

अन्वयार्थ-लिङ्गं-जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदि वेष **देहाश्रितं दृष्टं**-शरीर के आश्रित देखा जाता है **देह एव**-और शरीर ही **आत्मनः**-आत्मा का **भवः**-संसार है **तस्मात्**-इसलिये **ये लिङ्गकृताग्रहाः**-जिनको लिंग का ही आग्रह है-बाह्य वेष धारण करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है ऐसी हठ है **ते**-वे पुरुष **भवात्**-संसार से **न मुच्यन्ते**-नहीं छूटते हैं।

महानुभाव ! लिंग का अर्थ होता है पहचान, लिंग का एक अर्थ होता है भेष। साधु अवस्था जब कोई धारण करता है तब वह नाना प्रकार के भेषों को धारण करता है। कोई व्यक्ति पीत वस्त्र पहनता है, कोई भगवा वस्त्र पहनता है, कोई लाल-काले-नीले वस्त्र पहनता है तो कोई दिगम्बर अवस्था को भी धारण करता है। कोई जटा रखता है, कोई मुण्डन कराता है तो कोई लोंच करता है, तो कोई शरीर से भस्म लगाता है। **लिंगं देहाश्रितं**-यह जो अवस्था धारण की वह देहाश्रित है। देह के आश्रित अवस्था को धारण करने से यदि वह सोचे कि लिंग मात्र से कल्याण हो जायेगा तो ऐसा नहीं है। अन्यथा संसार में जितने पक्षी हैं, पशु आदि हैं वे सभी बिना वस्त्र के हैं उन पर वस्त्र है हीं नहीं।

दिगम्बर होने का आशय है जिसने समस्त विकारों को जीत करके बुद्धि पूर्वक वस्त्रों का परित्याग करके निर्विकारी अवस्था को प्राप्त कर लिया। केवल चिह्न होना आत्म कल्याण का साधन नहीं है न ही कोई नियामक कारण है। **देह एव आत्मनो भव** जो देह को ही आत्मा मानता है उसके लिये वह देह ही संसार है। क्योंकि ये चिह्नादि देह के आश्रित हैं और जो देह को ही आत्मा मानकर बैठ गया है तो यही संसार का कारण है। आत्मा को देह मानना ही संसार है। वह सोचता है शरीर की दीक्षा हो गयी तो मेरा कल्याण हो गया किन्तु नहीं, दीक्षा का आशय होता है आत्मा में ज्ञान का प्रकाश होना व परपदार्थों से विरक्त होकर आत्मा-आत्मा में लीन हो गयी। जब तक आत्मा पर पदार्थों में लीन थी, आत्मा में अज्ञान का अंधकार था तब तक वह अदीक्षित था। दीक्षा तो वह कहलाती है जिसने 'दी'-यानि दी है पापों को तिलांजलि और 'क्षा' यानि क्षांति आदि गुणों को अपनी आत्मा में प्रकट किया है।

महानुभाव ! बाह्य में पापों का त्याग अंतरंग में गुणों का प्रकटीकरण करना ही दीक्षा है केवल देह को दीक्षित करने से आत्मा का कल्याण नहीं होता। देह को आत्मा मानकर कितनी ही कठोर तपस्या करें, योगी, व्रती, ऋषि आदि शब्दों को धारण करने वाला हो जाये इन सबसे आत्मा का कल्याण होने वाला नहीं है। वे संसार से नहीं छूटते क्योंकि उनकी हठ उस लिंग (भेष) में ही है।

यदि संसार से मुक्त होना है तो मात्र देहाश्रित दीक्षा नहीं लेना है, वह दीक्षा आत्माश्रित भी होना चाहिये। क्योंकि मात्र देह से साधना करने से देह को सुख मिल सकता है, यदि वचनों की दीक्षा ले ली कि मैं कठोर, निंद्य, परशु वचन नहीं बोलूँगा सदैव हित मित प्रिय सत्य वचन बोलूँगा यदि ऐसी दीक्षा ली है तो तुम्हारी वचनों से प्रशंसा होगी और यदि मन में अच्छा भाव रखते हैं सबके हित का भाव रखते हैं तो लोग तुम्हें अपने मन में धारण करेंगे। किन्तु जब आप आत्मा से साधना करेंगे, आत्मा की दीक्षा हो जायेगी तो तुम्हारी आत्मा परमात्मा बन जायेगी।

महानुभाव ! आप स्वयं देख लें कि शरीर की दीक्षा का फल है इस देह की पूजा, वचनों की दीक्षा का फल है आपकी वचनों से प्रशंसा, मन से दीक्षा का फल है लोग आपको अपने मन में स्थापित करेंगे और आत्मा से दीक्षा ली है तो आत्मा परमात्मा बन जायेगी। जहाँ पर आप काम कर रहे हैं जहाँ कारण है कार्य तो वहीं होगा। हाँ यदि दीक्षा चारों प्रकार से ग्रहण की है तो शरीर की पूजा भी करेंगे, वचनों से प्रशंसा भी करेंगे, मन में धारण भी करेंगे यहाँ तक कि आपके शरीर से आत्मा निकल भी गयी तब भी उस पार्थिव शरीर का संस्कार करेंगे उसकी भी पूजा करेंगे।

यहाँ आचार्य पूज्यपाद स्वामी यही कह रहे हैं कि यह लिंग जो बाह्य वेष है वह देह के आश्रित है, वह यदि देह को ही आत्मा मान लेता है तो इससे संसार का वर्धन ही होता है संसार से मुक्ति नहीं होती इसलिये जो लोग ऐसा करते हैं तो वे संसार से नहीं छूटते हैं। जटा धारण करना, खड़े-खड़े ही रहना आदि नाना वेष शरीर के धर्म हैं और शरीर ही जीव का भव है, तब जो पुरुष इन भेषों से मुक्ति मानने की हठ में हैं, उन्होंने यही मान लिया समझिये कि शरीर से मोक्ष होता है। शरीर ही तो संसार है शरीर से मोक्ष कैसे होगा? जो भेष के आग्रही हैं वे संसार के ही आग्रही समझिये। अतः हे कल्याणार्थियों ! भेष को मुक्ति का कारण मानकर भेष का लक्ष्य व आग्रह मत करो, आत्म साधना की धुन में किसी परिग्रह के रखने का यत्न नहीं होता है अतः परिग्रह का छूटना ही अनिवार्य है, सो समस्त परिग्रह का परिहार होने से जो स्थिति बने सो बनो, किंतु मोक्ष को कैवल्य परिणमन से ही मानकर केवल स्वभाव का आलम्बन करो।

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात् ते ये जातिकृताग्रहाः॥८८॥

अन्वयार्थ-जातिः-ब्राह्मण आदि जाति **देहाश्रिता दृष्टा**-शरीर के आश्रित देखी गई है **देह एव**-और शरीर ही **आत्मनः भवः**-आत्मा का संसार है **तस्मात्**-इसलिए **ये**-जो जीव **जातिकृताग्रहाः**-मुक्ति की प्राप्ति के लिये जाति का हठ पकड़े हुए हैं **तेऽपि**-वे भी **भवात्**-संसार से **न मुच्यन्ते**-नहीं छूट सकते हैं।

यहाँ भी पिछले श्लोक की भाँति कह रहे हैं-

जाति आदि भी देह के आश्रित ही देखी जाती हैं और देह ही आत्मा का संसार है, इस कारण जो जाति में ही आग्रह किये हुये हैं वे भव से नहीं छूटते। पिछले कई श्लोकों में देखा कि मोटा कपड़ा पहनने से आत्मा मोटी नहीं होती उनसे जब शरीर ही मोटा नहीं हो पाता तो आत्मा कहाँ से होगी, जीर्ण वस्त्र पहनने से आत्मा जीर्ण नहीं होती, लाल रंग आदि वस्त्रों से आत्मा लाल नहीं होती ये सब देहाश्रित हैं। ऐसे ही शरीर का कोई वस्त्र नहीं शरीर ही आत्मा का वस्त्र है। शरीर के मोटे होने से, जीर्ण होने से गोरे काले रंगों से आत्मा में ये सब धर्म नहीं आते क्योंकि ये सब देहाश्रित धर्म हैं। जो इन देह के धर्मों को ही आत्मधर्म मान लेता है वह कभी संसार सागर से पार नहीं हो पाता।

महानुभाव ! देह अलग है आत्मा अलग दोनों विजातीय हैं। आचार्य महाराज का एक ही अभिप्राय है वे जितनी प्रकार से समझा सकते हैं, अनेक प्रकार के दृष्टांतों के माध्यम से समझाने की चेष्टा कर रहे हैं। वे कह रहे हैं जो आपको अग्नि में तपा हुआ कोयला दिख रहा है, जो पूर्ण रूप से लाल दिख रहा है वह क्या है तो आप कहेंगे कोयला है किंतु आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी कह रहे हैं अग्नि अलग है कोयला अलग है। उस पर पानी डाल दो तो अग्नि तो बुझ गयी कोयला रह गया। वे कहना चाह रहे हैं दोनों एक नहीं हैं व्यवहार में दिखाई दे रहा है कि वह कोयला अग्नि है किन्तु वे कह रहे हैं अग्नि इसमें है किन्तु कोयला अग्नि नहीं है। कोयला में यदि अग्नि ज्यादा समय तक रहेगी तो वह कोयले को जलाकर राख कर देगी तो भी राख अलग है अग्नि अलग है।

महानुभाव ! दूध में घी है पर वह दूध घी नहीं है, जल में शीतलता है पर जल शीतलता नहीं है जल को गर्म भी किया जा सकता है शीतलपना उसका गुण हो सकता है उसका अंश हो सकता है। मकान में कमरा है पर पूरे कमरे में मकान नहीं हो सकता ये एक अंश-अंशी की अपेक्षा हो गया यह तो फिर भी आप अंशत: कह सकते हैं किन्तु आत्मा और शरीर तो विजातीय हैं उनका अंशपना भी आपस में नहीं है। जैसे कुआँ अलग है पानी अलग है। कुआँ किसे कहते हैं? जिसमें पानी हो, यदि कुऐं में पानी न हो तो क्या उसे कुआँ नहीं कहोगे? कहोगे सूखा कुआँ कहोगे। पानी हो न हो कुआँ तो कुआँ है। कोई व्यक्ति बहुत प्यासा है तो कहता है भाई ! कुआँ देखकर ही जान आ गयी, श्वांस लौट कर आ गयी वह श्वांस कुआँ देखकर नहीं पानी देखकर लौट आयी।

आप अभी कुयें व पानी को एक कह रहे हैं किन्तु आचार्य महाराज दोनों को अलग कह रहे हैं। किसी बगीचे में बहुत सारे वृक्ष हैं जिन पर फल लगे हुये हैं वे फल अलग हैं बगीचा अलग है फल बगीचे में है ये बात सत्य है किन्तु फिर भी वृक्ष पर फल नहीं भी होगा तब भी उसे बगीचा ही कहेंगे उसे ऐसा नहीं कि श्मशान कह दें।

महानुभाव ! यहाँ इस प्रकार बताया कि लिंग और जाति देह के आश्रित हैं और देह के आश्रित जो भी चीज है वह आत्मा नहीं है। पुद्गल के आश्रित आत्मा का गुण नहीं रहता, आत्मा का गुण आत्मा में ही रहेगा। जो गुण आम में पाया जाता है उसका स्वाद, वर्ण, स्पर्श, गंध आदि वह गुण गन्ने में नहीं पाया जा सकता, गन्ना तो छोड़ो आम के पेड़ में भी नहीं पाया जायेगा, ऐसे ही जो गुण लक्षण धर्म आत्मा का है वह आत्मा की संज्ञा है। उस संज्ञा स्वरूप गुण लक्षण की अपेक्षा से यह आत्मा अलग है यह पुद्गल के नहीं कह सकते। किसी की जाति विशेष को कहना कि अमुक व्यक्ति क्षत्रिय, ब्राह्मण, शूद्र, वैश्य है, तो ये तो शरीर की जाति है, एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदि जाति भी शरीर की हैं आत्मा की कोई जाति नहीं होती।

'जातिर्देहाश्रिता दृष्टा' देह के आश्रित जाति विशेष को देखकर 'देह एवात्मनोभवः' देह को आत्मा मान लेना ही उसका संसार होता है। कोई कहे मैं क्षत्रिय हूँ। तो भईया ! तेरा जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ है आत्मा का कोई कुल नहीं है। एक मातंग भी धर्म को धारण करके अपना कल्याण कर सकता है, क्षत्रिय भी पाप करके अपना अकल्याण कर सकता है। जाति कुल वंश कल्याण के लिये कार्यकारी नहीं है। ये सब तो पुद्गल के धर्म हैं।

ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनसे नाहिं हमारो मेल॥

तो महानुभाव ! जो जाति के आग्रह से अपना कल्याण मानते हैं इसलिये वे संसार से मुक्त नहीं होते। जाति संसार से मुक्ति में कारण नहीं है। आप कहेंगे महाराज उच्च जाति वाला ही दीक्षा ले सकता है नीच जाति वाला दीक्षा नहीं ले सकता? तो हम कहेंगे यदि उच्च जाति ही कल्याण में कारण है तो सभी उच्च जाति वालों का ही कल्याण हो जाना चाहिये पर सबका तो नहीं होता। बात ये है जाति कल्याण में कारण नहीं है, कारण कुछ और है।

व्यक्ति कहता है शांति के लिये धन चाहिये, मित्र परिवारी जन चाहिये, भवन-वाहन-नौकर चाकर चाहिये यदि शांति इससे ही मिलती है तो जिनके पास ये सब है, अपार धन सम्पदा है फिर भी दुःखी क्यों है? पद प्रतिष्ठा प्राप्त करके भी दुःखी क्यों है! छः खण्ड का राज्य, 96 हजार रानियाँ, 32 हजार मुकुटबद्ध राजा चक्रवर्ती के चरणों में नमते हैं तब भी वह दुःखी क्यों इसका आशय है इन सबमें सुख नहीं है, इन सबमें आत्मा की शांति नहीं है। दूसरी ओर जिसके पास ये सब कुछ नहीं है पर्णकुटी में पड़ा हुआ है फिर भी सुख का अनुभव कर रहा है। वह स्वयं को राजा समझता है कहता है वह राजा मेरी दृष्टि में गरीब है जो इतना सब कुछ होते हुये भी दूसरे राज्य पर चढ़ाई करने जा रहा है। राजा तो मैं हूँ मुझे कुछ न चाहिये। जो मेरे पास माँगने आया है कि महात्मा जी मुझे शांति मिल जाये ऐसा आशीर्वाद या वरदान दे दो। जो माँगने आता है वह भिखारी होता है और देने वाला तो सम्राटों का सम्राट होता है।

यहाँ कह रहे हैं जातिकृत आत्म कल्याण नहीं है आत्मा का कल्याण तो आत्माश्रित होने पर है। यहाँ आचार्य महाराज यही स्वीकारने के लिये समझा रहे हैं। यद्यपि उच्चता और नीचता का सम्बन्ध अन्तरंग आचरण से संबंधित है तथापि लोक व्यवहार में जाति के भेद का संबंध देह पर आधारित है। मुक्ति के लिये जातित्व का अध्यवसाय करना कि मैं अमुक श्रेष्ठ जाति का हूँ मेरा मोक्ष होगा ही, ऐसा आग्रह (हठ) जिनको है उनको मोक्ष नहीं होता। अत: यद्यपि अन्तरंग शुद्ध आचरण करने वाले जीव का शुद्ध आचरण वाले कुल में जन्म होता है फिर भी जाति के विकल्प में मोक्ष असंभव है, इस कारण जाति का आग्रह छोड़कर ज्ञानानन्द मात्र निज सहजस्वरूप का निज सत्य का आग्रह करो।

जातिलिङ्ग विकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥८९॥

अन्वयार्थ-येषां-जिन जीवों का **जातिलिंग विकल्पेन**-जाति और वेष के विकल्प से मुक्ति होती है ऐसा **समयाग्रहः**-आगम-संबंधी आग्रह है-ब्राह्मण आदि जाति में उत्पन्न होकर अमुक वेष धारण करने से ही मुक्ति है ऐसा आगमानुबन्धि हठ है **ते अपि**-वे पुरुष भी **आत्मनः**-आत्मा के **परमं पदं**-परम पद को **न प्राप्नुवन्त्येव**-प्राप्त नहीं कर सकते हैं-संसार से मुक्त नहीं हो सकते हैं।

यहाँ पूर्वोक्त दोनों गाथाओं को एक में लिख दिया।

महानुभाव ! आपने सरसों की फली देखी होगी जिसमें सरसों भरी रहती है, तिल की फली या चने की घेंटी जिसमें अंदर तिल व चना रहता है या नारियल, बादाम, मूंगफली जिनके ऊपर का खोल चाहे सफेद है, हरा, नीला-पीला जैसे भी रंग का बना रहे उससे कोई अंतर नहीं पड़ रहा, उस फली (खोल) में से सरसों जो निकलेगी वह वैसी ही निकलेगी। चाहे किसी भी फली का रंग ऊपर का वक्कल हरा भी हो सकता है अथवा सूखकर सफेद सा भी हो सकता है किंतु उसके वर्ण से अंदर के द्रव्य में कोई फर्क नहीं पड़ता। क्वालिटी चाहे कोई भी हो पेलने पर वह सरसों का तेल पीला ही निकलेगा। जो जिस जाति का है उसमें से उसी का अर्क निकलेगा। ऐसे ही शरीर की जाति कोई भी हो, यह शरीर छोटा हो या बड़ा, गोरा हो या श्याम या देहासक्त जो धर्म हैं जो भी वेश धारण किया जाये उस शरीर के धर्म से आत्मा के धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

इस शरीर का धर्म अलग है, आत्मा का धर्म अलग है। मुक्ति आत्मा को चाहिये शरीर को नहीं। शरीर अपराध करता है तो राजा उसे कारागार में डाल देता है। उस अपराध के लिये वह क्षमा शरीर से माँगता है, जुर्माना देता है या दण्ड भोगता है किन्तु आत्मा कर्मों की जेल में पड़ा हुआ है, कर्मों के बंधन में पड़ी है उस आत्मा की मुक्ति तब होगी जब वह उन कर्मों को काटने का

कार्य करेगी, और कर्म को काटने का कार्य शरीर वचन नही आत्मा ही करेगा। आत्मा में जो राग-द्वेष हुये थे जिनसे कर्मों का बंध हुआ अब आत्मा वीतरागता की तलवार लेकर के उन कर्मों को काटने का जो साहस करेगा तो कर्म कटते चले जायेंगे। आत्मा ही आत्मा के कर्मों को काट सकती है। बिना आत्मा के कर्म नहीं काटे जा सकते। कोई भी व्यक्ति शरीर से कितना ही तप करे यदि आत्मा में उसे बोध नहीं है कि यह शरीर अलग है आत्मा अलग है तो यह आत्मा मुक्ति को प्राप्त नहीं करता। वचनों की कितनी ही साधना कर ले किन्तु जब तक अंतरंग में बोध नहीं है, भेद विज्ञान के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। मन के उच्च विचार, भगवान् के अनंत गुणों का चिंतवन कर ले, लिख-लिखकर रख ले किन्तु जब तक अन्तरात्मा में श्रद्धा नहीं है कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है तब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यहाँ पर यही बता रहे हैं कि जाति-लिंग ये सब देहाश्रित धर्म हैं। गन्ना देखने में चाहे छोटा हो या बड़ा, रंग हरा हो या लाल ऊपरी चमक दमक रूप वर्ण से उसके रस का कोई संबंध नहीं है जो रस है वह तो मीठा है। रस गन्ने में पाया जाता है उसकी छाई में नहीं सबके गुण धर्म अलग-अलग हैं। ऊपर से चाहे नारियल का रंग बदल भी दो किन्तु अंतरंग का गोला तो जैसा है वैसा है। ऊपरी अदला-बदली से अंदर में कोई फर्क नहीं पड़ता ऐसे ही शरीर के अनुकूल प्रतिकूल होने से आत्मा में कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। जाति लिंग सब देहाश्रित है इसलिये जिनका ऐसा आग्रह है कि इनसे हमें मुक्ति मिल जायेगी तो उनका यह दुराग्रह भ्रम है, मिथ्या है उसके माध्यम से कभी भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं मिल सकती।

कोई कहे हमारे शास्त्रों में अमुक-अमुक जाति वाले को, अमुक-अमुक वेष वाले को मोक्ष बताया है इस कारण से हम मोक्ष पायेंगे ही पायेंगे, इस आग्रह को समयाग्रह कहते हैं। ये जाति लिंग कोई भी मुक्ति का नियामक कारण नहीं है। यदि अश्वशाला में किसी चुहिया ने अपने बच्चों को जन्म दिया तो वे बच्चे घोड़ी के बच्चे नहीं कहलायेंगे चूहा का बच्चा चूहा ही कहलायेगा। अस्पताल तो एक ही है उस अस्पताल में ब्राह्मणी भी जाती है, क्षत्राणि भी जाती है, शूद्राणि भी जाती है, वैश्यस्त्री भी जाती है तो वहाँ पैदा होने वाला बच्चा कौन कहलायेगा? जिससे जिसका जन्म हुआ वह ही कहलायेगा स्थान से जन्म का फर्क नहीं पड़ता। स्थान कोई वर्ण विशेष नहीं है जो जन्म देने वाली माँ प्रसूता है उससे जिसका जन्म हुआ है वही वर्ण उस बालक का होगा।

यहाँ पर यही कहा कि जिसका आग्रह भेष में है कि दिगम्बर हो गये तो मोक्ष हो ही गया, या जाति की हठ कि ब्राह्मण जाति है तो ही मोक्ष होगा या क्षत्रिय वैश्य का ही मोक्ष होगा तो ऐसे आग्रह वाले का मोक्ष कदापि संभव नहीं इसलिये किसी जाति के आग्रह में नहीं पड़ना आचार्य महोदय कह रहे हैं आत्मा को ही जानो जिसकी सामर्थ्य आत्मा को जानने की नहीं है वह

मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। एक चाण्डाल भी अपनी आत्मा को जान सकता है भेद विज्ञान हो सकता है, और एक देव भी हो सकता है न जान पाये, क्षत्रिय या ब्राह्मण भी न जान पाये। तो ये बोध किसी भी आत्मा को हो सकता है और कोई भेष धारण करने से या कोई सोचे किसी तीर्थ में स्नान करने से मुक्ति होती है तो मछली-मेढ़क कछुआ जलचर आदि सब जल में ही रहते हैं सब मोक्ष चले जाते, वे तो सदैव नहाते रहते हैं। यदि दिगम्बर रहने से ही मोक्ष होता तो जितने भी पशु-पक्षी हैं सब दिगम्बर ही रहते हैं वस्त्र रहित रहते हैं तो ऐसा नहीं, आत्मा के बोध से मुक्ति होती है, ज्ञान से, त्याग से, संयम से रत्नत्रय से मुक्ति होती है। इन भेष से, इन जातियों से मुक्ति नहीं होती है।

४४. कटु अमृत या मीठा जहर

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः॥९०॥

अन्वयार्थ-यत्त्यागाय-जिस शरीर के त्याग के लिये-उससे ममत्व दूर करने के लिए और **यद् अवाप्तये**-जिस परम वीतराग पद को प्राप्त करने के लिए **भोगेभ्यः**-इन्द्रियों के भोगों से **निवर्तन्ते**-निवृत्त होते हैं अर्थात् उनका त्याग करते हैं **तत्रैव**-उसी शरीर और इन्द्रियों के विषयों में **मोहिनः**-मोही जीव **प्रीतिं कुर्वन्ति**-प्रीति करते हैं और **अन्यत्र**-वीतरागता आदि के साधनों में **द्वेषं कुर्वन्ति**-द्वेष करते हैं।

महानुभाव ! मोही जीव परमात्मा की दशा को प्राप्त करना तो चाहता है। वह उस दशा को प्राप्त करने के लिये जिन भोगों को छोड़ता है फिर भी उन्हीं भोगों के प्रति प्रीति करता है। कोई गृह त्याग कर भोगों को छोड़कर तो आ गया किन्तु शरीर से फिर भी प्रीति है। वह प्रीति कैसी है? कि अभी भी शरीर और आत्मा को एक मानकर बैठा है। भोगों का त्याग किया कर्मों से मुक्ति के लिये फिर भी प्रीति उसी में है कि तपस्या करके मुझे इन्द्रासन मिलेगा, मैं आगे राजा बन जाऊँगा, चक्रवर्ती के भोग मिल जायेंगे, देवगति के सुरम्य भोगों की प्राप्ति होगी तो बार-बार पर तत्त्वों में ही प्रीति कर रहा है और जब देह से या देह से भोगे जाने वाले भोगों से प्रीति करता है अर्थात् जब किसी एक से प्रीति करता है तो दूसरे से अप्रीति सहज ही होती है वास्तविक परमात्म दशा से उसका द्वेष हो जाता है।

जिसका मोह विगलित नहीं हुआ ऐसा मोही प्राणी विषय भोगों से तो निवृत्ति लेता है आत्मा की शुद्ध दशा को परमात्म दशा को प्राप्त करने के लिये किन्तु शरीर के धर्म में ही प्रीति करता है, इसलिये उसका वीतराग दशा के प्रति द्वेष हो जाता है, और जब वीतराग दशा के प्रति द्वेष हो जायेगा तो वीतराग दशा को भी प्राप्त नहीं कर पायेगा। वीतराग दशा परमात्म दशा की अविनाभावी है।

महानुभाव ! जिसके त्याग के लिये व जिसकी प्रीति के लिये ज्ञानी भोगों से निवृत्त होते हैं, मोही जन उस ही में प्रीति करते हैं अन्य में द्वेष करते हैं अर्थात् गुड़ खाये गुलगुले से परहेज करे। कि मेरा गुलगुले अर्थात् पूये का त्याग है किन्तु गुड़ खाता है। उसने भोगों का त्याग तो कर दिया किन्तु भोग की बुद्धि का त्याग नहीं किया, उसने शरीर की अशुभ चेष्टाओं का तो त्याग किया किन्तु उन अशुभ क्रियाओं का जो कारण है उस मिथ्यात्व आदि का त्याग नहीं किया। वह कुतप तो करता है शरीर को तपाता है आत्मा को शुद्ध करने के लिये किन्तु आत्मा की गंदगी को दूर नहीं करना चाहता। वह अच्छे वचनों को बोलने की चेष्टा तो करता है, किन्तु बोलता है

अहितकारी वह तो उसके पास मानो मीठा जहर है। मीठे के जहर से तो कड़वा अमृत अच्छा होता है। हितकारी यदि अप्रिय है तब भी चलेगा और अहितकारी प्रिय है तब भी नहीं चलेगा। शरीर की अच्छी चेष्टाओं से आशय है वह कुतप करता है, शरीर सुखाता है किन्तु फिर भी अब्रह्म का सेवन करता है अपने साथ पत्नी रखता है तो यह कुतप निर्जरा का कारण नहीं वरन् पापास्रव का ही कारण है।

वचनों की मंदता बहुत है कभी जोर से नहीं बोलता किन्तु बोलता ऐसा है जिसके बोलने से सामने वाला चैन से नहीं बैठ पायेगा वह दूसरों को समझायेगा भी तो कहेगा भईया! तुम कितने सहनशील हो शांत बैठे हो नपुंसक की तरह से, लगता है हाथों में चूड़ियाँ ही पहन रखी हों ये सारी बातें कहीं तो धीमे से किन्तु सामने वाले को बेचैन कर दिया इसलिये ऐसे धीमे से बोलने वाले व्यक्ति बड़े खतरनाक होते हैं।

अरकसिया के मुख नहीं, नहीं गौंच के दंत।
जे नर धीमे बोलत हैं, उनसे बचिये कंत॥

एक कहावत है कि अरकसिया के मुख नहीं होता वह फिर भी सबको काट लेता है, जोंक भी होती है जो एक बार चिपक जाये तो टूट भले ही जाये पर छूटती नहीं है। ऐसे ही जो व्यक्ति धीरे बोलता है यदि अच्छी बात बोलता है तो ग्राह्य है अन्यथा अग्राह्य है। ग्राह्य बात जोर से बोलकर या डांट-डपट द्वारा भी समझाया जाना स्वीकारने योग्य है एक तमाचा खाकर भी यदि तुम्हारी जिंदगी संवरती है, अंतर का परिणमन बदलता है तो वह डाँट अच्छी है और यदि कोई तुम्हारी हाँ में हाँ मिलाकर तुम्हें पतित करे तो वह अच्छा नहीं है, तत्काल में वह अच्छा लग सकता है किन्तु आगे बहुत खतरनाक होता है।

कई बार व्यक्ति नहीं समझ पाता है कौन मेरा मित्र है, कौन शत्रु गृहस्थों में ऐसा धोखा हो जाता है वह उनके साथ चला जाता है जिनके साथ नहीं जाना चाहिये। ऐसे मित्रों से सावधान रहें, ऐसे वचनों से भी सावधान रहें।

किसी के मन का क्षयोपशम बहुत अच्छा है, उससे बहुत अच्छी बात सोची जा सकती है किन्तु उस मन से वह किसी के विनाश की बात सोच रहा है कि ऐसा कौन सा उपाय हो सकता है कि एक बार में ज्यादा से ज्यादा लोग मारे जा सकें मैं ऐसा कौन सा अस्त्र-शस्त्र बनाऊँ जिससे पूरा नगर का नगर स्वाहा हो जाये, ऐसा कौन सा परमाणु बम बनाऊँ जो ज्यादा से ज्यादा घातक हो जिसका प्रभाव बहुत दूर तक जाये। तो ये क्या है? मन का क्षयोपशम तो अच्छा है, वह एक अच्छा वैज्ञानिक है किन्तु उसने अपने मन का दुरुपयोग किया। भले ही देश ने उसका सम्मान किया वाह! बहुत अच्छी खोज की, ऐसी शक्ति का निर्माण किया कि एक बार में कई हजार व्यक्तियों को मारा जा सकता है किन्तु यह मन का दुरुपयोग कहलायेगा।

जब उससे कहा जायेगा तुम्हारे द्वारा निर्मित शस्त्र से कितने घर बेघर हो गये, कितने वंश निर्वंश हो गये तो उसकी आत्मा रोयेगी। वह कहेगा इस बुद्धिमान होने से तो हे प्रभु! मैं मूर्ख होता तो अच्छा होता, मैंने अपनी बुद्धि का दुरुपयोग किया है।

महानुभाव ! इसलिये कहा पहले संयम का पालन करो तपस्या बाद में करना। यही कारण है कि दस धर्मों में तपस्या से पूर्व संयम धर्म रखा गया। संयम के बिना तपस्या वैसे ही है जैसे हाथी का स्नान, हाथी नदी में नहाया पुनः अपने ऊपर मिट्टी डाल दी। आप जानते हैं सात तत्त्वों में संवर तत्त्व पहले आता है निर्जरा तत्त्व बाद में आता है संवर का आशय है संयम को पहले स्वीकार करके कर्मों के आश्रव को रोको पुनः जो कर्म सत्ता में पड़े हैं उन्हें निर्जीण करो तब तो सार्थक है, जो आते कर्मों को नहीं रोकता है, निर्जरा करने के लिये उतारू हो जाता है वह मूर्ख है। ऐसे ही व्यक्ति जब शरीर से तपस्या कर रहा है किन्तु पापों को नहीं छोड़ता, वचनों की मधुरता तो है पर हितकारिता नहीं है, मन से तत्त्वों की सूक्ष्म व्याख्या कर सकता है किन्तु उसकी मनोभावना से कल्याणकारी भाव पैदा ही नहीं होते अशुभ-अशुभ भाव ही पैदा होते चले जा रहे हैं तो उसका मन भी अभिशाप स्वरूप है। ऐसे ही यहाँ पर कह रहे हैं-

जिस परमात्म दशा को शाश्वत स्वभाव को प्राप्त करने के लिये भोगों का त्याग किया है तो वह त्याग तो बाह्य में ही है क्योंकि प्रीति तो अभी भी उसी में है, आसक्ति उसी में है। कोई व्यक्ति गरीब है तो उसकी आसक्ति एक राजा से ज्यादा हो सकती है आचार्य महोदय कहते हैं प्रीति और आसक्ति कल्याण का कारण नहीं है क्योंकि आपने शरीर के धर्म का त्याग नहीं किया, शरीर को अपना मानना नहीं छोड़ा उसे आत्मा मान रहे हैं तो मात्र शरीर को तपाने से लाभ नहीं है। यदि कोई व्यक्ति सोने को तपाये और उसमें लगी किट्ट कालिमा को भी सोना कह रहा है तो तपाना बेकार है जब यह मान ले कि सोना अलग है किट्ट-कालिमा अलग है तब तो तपाना सफल है अन्यथा व्यर्थ है।

अतः यहाँ कह रहे हैं वह मोही जीव जहाँ प्रीति करना चाहिये उससे तो उसका द्वेष हो जाता है जिसके प्रति द्वेष या विराम होना चाहिये उनसे प्रीति बनी रहती है। बाह्य क्रियाओं का त्याग करने से आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। सत्य व झूठ का यथार्थ ज्ञान कर अपने शत्रु व मित्र की पहचान करो, माना मित्र का त्याग कर दिया, क्यों त्याग कर दिया ? तुमने ये सोचा कि ये मेरे लिये हानिकारक है, तो उससे संबंध तोड़ लिया, किन्तु वह वास्तव में तुम्हारा सच्चा मित्र है और किसी ने कहा-ये तुम्हारा शत्रु है तुमने उसको भी छोड़ दिया, छोड़ने के बाद भी तुम उसे मिल नहीं रहे किन्तु फिर भी उसके प्रति सोच रहे हो चाहे कुछ भी हो जाये वह भला आदमी है उसके लिये मैं अपने प्राण देने तैयार हो जाऊँगा। भईया ! मात्र छोड़ने से क्या होता है किन्तु

जानते हुये भी तुम उसके लिये कर रहे हो, ऐसे ही यदि विषयों से नाता तोड़ लिया तो पुनः उन्हीं को क्यों अपना मान रहे हो।

देह से नाता जोड़ रहे हो किन्तु मुक्ति तो देह से अलग होने का नाम है। नोकर्म-भावकर्म-द्रव्यकर्म से मुक्त होने का नाम मुक्ति है। इसको (देह को, कर्म को) जब पराया माना ही नहीं है तो मुक्ति कहाँ से संभव है।

कुव्वदि पइडी णायं, अण्णायं सा कया वि णो।
पइडी हु महाधम्मो, धरंति तं दियंबरा॥३८॥

अर्थ-प्रकृति न्याय करती है। वह कभी भी अन्याय नहीं करती। प्रकृत ही महाधर्म है। दिगंबर साधु उसको धारण करते हैं।

-अज्ज-सक्किदी
(आर्य संस्कृति)
आचार्य श्री वसुनंदी मुनि

४५. वस्तु स्वरूप की यथार्थता

अनंतरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पङ्गोर्यथान्धके।
संयोगाद् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः॥९१॥

अन्वयार्थ-अनन्तरज्ञः-भेदज्ञान न रखने वाला पुरुष **यथा**-जिस प्रकार **संयोगात्**-संयोग के कारण भ्रम में पड़कर-संयुक्त हुए लँगडे और अंधे की क्रियाओं को ठीक न समझकर **पंगोर्दृष्टि**-लंगड़े की दृष्टि को **अन्धके**-अन्ध पुरुष में **संधत्ते**-आरोपित करता है-यह समझता है कि अन्धा स्वयं देखकर चल रहा है **तद्वत्**-उसी प्रकार **आत्मनः दृष्टि**-आत्मा की दृष्टि को **अङ्गेऽपि**-शरीर में भी **सन्धत्ते**-आरोपित करता है-यह समझने लगता है कि यह शरीर ही देखता जानता है।

एक होता है 'अन्तर' अर्थात् अंतरंग, 'ज्ञ' यानि जानने वाला तो अन्तरज्ञ अर्थात्-अंदर को जानने वाला, रहस्य की बात को जानने वाला, भेद की बात को जानने वाला, गूढ़ बातों को जानने वाला, सूक्ष्म बातों को जानने वाला। यहाँ कह रहे हैं अनंतरज्ञ-जो अंतरंग की बात को जानने वाला नहीं है, जिसे भेद विज्ञान नहीं है जो शरीर को आत्मा मानकर बैठ गया है ऐसा व्यक्ति अनंतरज्ञ है, वह अंतरंग के ज्ञान से रहित अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, बहिरात्मा, पर्यायों को द्रव्य समझने वाला अथवा विजातीय पर्याय को स्व जातीय द्रव्य मानने वाला और ज्यादा मूढ़ हो गया।

ये देह तो पुद्गल की पर्याय है इस पुद्गल की पर्याय को आत्म द्रव्य मानने वाला बहिरात्मा रहस्य की बात नहीं जानता। जैसे राजनीति में कई बार होता है कुछ व्यक्ति बाह्य बातों को देखकर के जयकार करने लगे, तो एक व्यक्ति आकर कहता है तुम मात्र बाह्य दिखावा मत देखो, अंदर की बात को देखो क्या है क्या नहीं, मैं अंदर की बात जानता हूँ ये व्यक्ति तुझे बाहर से भगवान् जैसा लग रहा है अंदर में इससे बड़ा कोई कसाई नहीं है, यहाँ जो सबके सामने पगड़ी उतार कर रख रहा है, मीठा बोल रहा है, बड़े-बड़े वादे कर रहा है, उसकी बातों में न फँस जाना, ये जितनी ज्यादा चापलूसी कर रहा है उसका अंतरंग बहुत काला है यदि ये जीत गया तो तुम्हें जीने नहीं देगा। ज्यादा भावुकता में आकर इसकी बात न मानो। तो कहने का आशय ये है भेद की बात सब कोई नहीं जानता, भेद की बात जानने वाला होता है भेद विज्ञानी।

यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं तुम भेद की बात नहीं जानते हो हम तुमको भेद की बात बताते हैं जैसे आचार्य गुणभद्र स्वामी जी ने आत्मानुशासन ग्रंथ में कहा-

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्य तवप्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः॥११०॥

तुम अकिंचन रूप हो, तुम तीन लोक के नाथ हो यह योगीगम्य बात है कि तुम्हारा संसार में कुछ भी नहीं है ऐसा तुम स्वयं को मान लोगे तो तीन लोक के नाथ हो गये। ये बात योगी जानते हैं भोगी नहीं जानते हैं। मैं इस रहस्य की बात को आपके लिये कह रहा हूँ। रहस्य की बात तो संसार में विरले व्यक्ति ही जानते हैं ऐसे ही आचार्य पूज्यपाद स्वामी रहस्य की बात आपको बता रहे हैं दृष्टांत देते हुये-

'दृष्टिपङ्गोर्यथान्धके' कि एक लंगड़ा व्यक्ति और एक अंधा व्यक्ति दोनों जंगल में थे, और जंगल में आग लग गयी तो क्या करें ? क्योंकि लंगड़ा दौड़ नहीं सकता, अंधा देख नहीं सकता। लंगड़े ने अंधे को अपने पास बुलाया और कहा देख मैं लंगड़ा हूँ सो भाग नहीं सकता, तू अंधा है सो देख नहीं सकता हम दोनों यदि मिल जायें तो इस जंगल की अग्नि से पार हो जायेंगे। उन्होंने ये राह निकाली कि अंधे के कंधे पर लंगड़ा बैठ गया और उसे रास्ता बताता जा रहा है कि ऐसे चलो-ऐसे चलो, और दोनों पार हो गये।

यहाँ पर आ. महोदय कह रहे हैं कि जो अज्ञानी व्यक्ति है वह दोनों को एक मान रहा है, किन्तु यहाँ पर अंधा अलग है लंगड़ा अलग है दोनों एक नहीं हैं। रहस्य की बात ये है कि इस बात को अज्ञानी व्यक्ति देखकर कहेगा कि सामने से जो आ रहा है वह एक व्यक्ति है क्यों? क्योंकि उसके दो पैर हैं यहाँ से एक व्यक्ति के जाने के ही पैर के निशान दिखाई दे रहे हैं, दो व्यक्ति यदि जाते तो चार पैर के निशान दिखाई देते। ज्ञानी कहता है इसे तो सामान्य मनुष्य ही कहेगा कि एक व्यक्ति गया है किन्तु विशेष बात ये कि मैंने देख लिया एक व्यक्ति नहीं दो व्यक्ति थे। उसके कंधे पर लंगड़ा बैठा हुआ था। ऐसे ही जो रहस्य को नहीं जानता है वह कहता है शरीर और आत्मा एकमेक हैं ये शरीर भी आत्मा है किंतु नहीं शरीर आत्मा नहीं है शरीर को तो शरीर ही मानो, आत्मा को आत्मा मानो। जब दोनों के नाम अलग-अलग हैं, लक्षण अलग-अलग हैं, दोनों के गुण अलग-अलग हैं, धर्म अलग-अलग हैं तो दोनों एक कैसे हो सकते हैं।

शरीर पुद्गल का है उसी के लक्षण गुण धर्म वाला है, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण वाला है, आत्मा ज्ञान दर्शन वाला है। रहस्य की बात तो ये है कि जैसे अज्ञानी व्यक्ति उस लंगड़े और अंधे को एक मान लेता है ऐसे ही बहिरात्मा व्यक्ति आत्मा-शरीर को एक मान लेता है। किन्तु ज्ञानी दोनों को अलग-अलग मानता है।

इसी बात को अगली गाथा में भी कह रहे हैं-

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः॥९२॥

अन्वयार्थ-दृष्टभेदः-जो लँगड़े और अन्धे के भेद को उनकी क्रियाओं को समझता है वह **यथा**-जिस प्रकार **पंगोर्दृष्टिं**-लँगड़े की दृष्टि को अन्धे पुरुष में **न योजयेत्**-नहीं जोड़ता-अन्धे को मार्ग देखकर चलने वाला नहीं मानता **तथा**-उसी प्रकार **दृष्टात्मा**-आत्मा को शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न अनुभव करने वाला अन्तरात्मा **आत्मनः दृष्टिं**-आत्मा की दृष्टि को-उसके ज्ञान-दर्शन स्वभाव को **देहे**-शरीर में **न योजयेत्**-नहीं जोड़ता है-शरीर को ज्ञाता-दृष्टा नहीं मानता है।

महानुभाव ! अब दोनों व्यक्ति पास में आ गये, देख लिया कि अंधा अलग है, लंगड़ा अलग है ऐसे ही मृत्यु को देखा तो सामने शरीर पड़ा है आत्मा तो निकलकर चली गयी अतः शरीर अलग है आत्मा अलग है। मृत्यु क्या हुयी? मृत्यु हुयी कि आत्मा का वियोग हो गया। मरी आत्मा नहीं, और शरीर ज्यों की त्यों पुद्गल है। दोनों का संयोग था। व्यवहार में ये जीव दस प्राणों से जी रहा था निश्चय से ज्ञान-दर्शन से जी रहा था अब ज्ञान दर्शन स्वभावी आत्मा चली गयी बाहर के प्राण जो इस शरीर में थे 5 इन्द्रिय 3 बल, आयु और श्वांसोच्छ्वास ये प्राण अब इसके साथ नहीं रहे इसलिये उसकी मृत्यु हो गयी। प्रत्यक्ष में देखकर के भेद विज्ञान हो गया, अथवा केवली की मुक्ति हुयी शरीर बिखर गया आत्मा सिद्धालय में चली गयी तो यह देखकर के उसे भेद विज्ञान हो जाता है। ऐसे ही उस व्यक्ति को जो लंगड़े-अंधे को एक मान रहा था उसे ले जाकर दिखाया-उन दोनों (लंगड़ा-अंधा) से कहा रुको-दोनों को भोजन कराया-कहा देख दोनों अलग-अलग भोजन कर रहे हैं दो व्यक्ति हैं कि नहीं। एक के भोजन करने से दोनों का पेट नहीं भरेगा। ऐसे ही शरीर को भोजन देने से आत्मा की तृप्ति नहीं होगी, आत्मा को तृप्त करने से शरीर की तृप्ति नहीं होगी, ये दोनों अलग-अलग हैं। देह का भोजन अलग है, आत्मा का भोजन अलग है जब ये सब विस्तार से समझाया तो उसे समझ में आया।

तो यहाँ बता रहे हैं-जिसे भेद विज्ञान हो जाता है वह कहता है अब तो मैं आत्मा को भोजन दूँगा, शरीर को नहीं दूँगा और जिसे भेद विज्ञान नहीं हुआ वह कहता है क्या फर्क पड़ता है भोजन शरीर को दें या आत्मा को अलग-अलग थोड़े ही है। किन्तु नहीं, दोनों एक नहीं अलग-अलग हैं।

कोई कहे पैसा तो पैसा है चाहे धर्म के काम में खर्च करो या पाप के काम में बात तो एक ही है, किन्तु नहीं यदि धर्म के काम में एक पैसा खर्च किया है तो 1 करोड़ गुना होकर के आयेगा, और पाप में खर्च किया है तो पाप को देने वाला होगा। धर्म में खर्च करने से सुख शांति मिलेगी, पाप में खर्च करने से दुःख मिलेगा। यहाँ भी देह-आत्मा दोनों अलग-अलग बात हैं।

शरीर में विद्यमान मन-वचन की प्रवृत्ति से आत्मा प्रभावित तो होती है किन्तु उस प्रवृत्ति से आत्मा शरीर नहीं बन जाती। मन वचन काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दन होता

है, उससे आस्रव होता है, आश्रव होता है तो बंध भी होता है। बंध को प्राप्त हुआ जीव संसार में परिभ्रमण करता है। तो जिस व्यक्ति की दृष्टि में शरीर में आत्मबुद्धि हो चुकी है, ऐसा व्यक्ति शरीर के परिणमन को आत्मा का परिणमन समझ लेता है, दोनों अनादि काल से एक साथ मिले हुये हैं, एक साथ मिले होने से मूढ़ व्यक्ति उसमें भेद नहीं करता।

कोई बालक जा रहा है उसने अपने मित्र का मकान देखा और कहता है ये मेरा मित्र है, अरे ये मित्र नहीं है मित्र का घर है। चाहे घर में मित्र है या नहीं है किन्तु वह जब भी वहाँ से निकलता है तो उसे अपने मित्र का ख्याल आ रहा है, वह मकान किराये का था, मित्र दूसरे किराये के घर में रहने भी चला गया इसके बावजूद भी संस्कार ऐसे पड़े हुये हैं कि वह उसके घर के सामने से निकलता है तो मित्र की याद आ जाती है। उस मकान में तो कई किरायेदार आये और चले गये किन्तु उसका जब परिचय हुआ था तब उस मकान में उस मित्र के रूप में हुआ था ऐसे ही संसारी प्राणी जिस आत्मा से परिचय करता है वह शरीर के माध्यम से करता है, वह शरीर को आत्मा मानकर के बैठ जाता है, वह संसारी प्राणी आत्मा का परिचय आत्मा से नहीं कर पाता। जो स्वयं बहिरात्मा है, स्वयं के शरीर को आत्मा मानता है वह दूसरे के शरीर को आत्मा क्यों नहीं मानेगा।

किन्तु जो अन्तरात्मा है जिसने शरीर को शरीर आत्मा को आत्मा मान लिया वह कभी भी भूल नहीं करता, वह तत्त्वचिंतन करता हुआ सोचता है ये संसारी प्राणी संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं इस देह को आत्मा मानकर के। जैसे कोई व्यक्ति रंगीन वस्त्र पहनकर के अपनी प्रवृत्ति कर रहा है तो उसको उसी नाम से बुलाना ये अज्ञानी व्यक्ति के लिये व्यवहार में तो ठीक है किन्तु ज्ञानी व्यक्ति तो जानता है कि यह नाम वस्त्रधारी शरीर का है आत्मा का नहीं।

जैसे किसी राजा की सेना हरे वस्त्र पहनती है किसी की सेना लाल, पीले नीले आदि-आदि रंगों के वस्त्र पहनती है। अलग-अलग सेना को अलग-अलग रंगों के नाम से बुलाना, तो वे वस्त्र हैं वह सेना नहीं, सेना की पहचान वस्त्रों से बना दी, हमारी आत्मा की पहचान वस्त्रों से बना दी। हमारे पास मनुष्य का तो शरीर है, इसलिये व्यवहार से नाम लेकर बुलाया जा रहा है वैसे तो हम आत्मा हैं। देव के शरीर में जो है वह भी आत्मा है, वह आत्मा कभी नारकी के शरीर में भी गयी, तिर्यंच भी बनी, तो आत्मा नाना-पर्यायों में घूम रही है। वस्त्र आदमी नहीं होता, देह भी आत्मा नहीं होती वस्त्र अलग है, देह अलग है, शरीर अलग है आत्मा अलग है। किन्तु जो मूढ़ व्यक्ति होता है वह अंधे और पंगु व्यक्ति को एक जोड़ लेता है जबकि प्रत्यक्ष में वे अलग-अलग दिखाई दे रहे हैं। आप कह रहे हैं पानी की बाल्टी। पानी की बाल्टी व्यवहार में तो चलेगा किन्तु निश्चय में ये जानकर चलो कि पानी अलग है बाल्टी अलग है। पानी से बाल्टी नहीं बनी, बाल्टी तो लोहे से, प्लास्टिक से बनी है या अन्य किसी धातु से बनी है किन्तु उसमें पानी भरा हुआ है। ऐसे ही

इस शरीर का नाम ही मनुष्य है आत्मा का नाम तो मनुष्य है ही नहीं, तो ये सब हम व्यवहार में कह देते हैं।

मनुष्यात्मा कह दिया, तो मनुष्य के शरीर में आत्मा है इसलिये व्यवहार से कह दिया क्योंकि इस समय आत्मा मनुष्य के शरीर में है। पुण्य से सहित आत्मा पुण्यात्मा, पाप से सहित पापात्मा कह दिया। धर्म से सहित धर्मात्मा कह दिया बाह्य पदार्थों से सहित बहिरात्मा कह दिया, उत्कृष्ट सुख से सहित है तो परमात्मा कह दिया। ऐसे सब व्यवहार में कहा जाता है।

ऐसे ही सब आत्मायें शुद्ध हैं, चाहे चींटी के शरीर में आत्मा है या निगोदिया के शरीर में विद्यमान आत्मा है, चाहे त्रस-स्थावर के शरीर में विद्यमान आत्मा है, चाहे अहमिन्द्र आदि की आत्मा है सब आत्मायें एक जैसी हैं आत्मत्व की अपेक्षा से कहीं भेद नहीं है, किन्तु शरीर की अपेक्षा से भेद है शरीर में आत्मा को आरोपित करते हैं इसलिये शरीर को भी आत्मा कह कर संबोधित करते हैं। अब जो नाम रखे जाते हैं वे शरीर के नाम रखे जाते हैं। आत्मा का नाम नहीं होता। संबंध शरीर के होते हैं आत्मा जन्म के पहले भी थी, मृत्यु के बाद भी रहेगी किन्तु हम जन्म से लेकर मृत्यु के बीच के पड़ावों को पार करने के लिये शरीर का नाम रखते हैं व व्यवहार करते हैं। ये सब व्यवहार-व्यवहार तक ही है निश्चय में मत मान लेना। दूर से देखकर कह रहे हैं कि अंधा आ रहा है, अंधा लंगड़े के साथ आ रहा है और लंगड़ा अंधे के कंधे पर आ रहा है।

आत्मा ऐसे संसार में परिभ्रमण भी नहीं कर सकती और मोक्ष को भी प्राप्त नहीं कर सकती, उसके लिये शरीर की आवश्यकता है, संसार परिभ्रमण के लिये भी और कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करने के लिये भी।

दोनों गाथाओं में मात्र यही अंतर है कि 91 श्लोक में कह रहे हैं कि मिथ्यादृष्टि दोनों को (अंधे-पंगु) एक मानता है और 92 श्लोक में कह रहे हैं सम्यग्दृष्टि दोनों को अलग-अलग मानता है।

श्लोक 91 का तात्पर्य है-जिसको वस्तु स्वरूप सीमा का परिचय नहीं है ऐसा मूढ़ व्यक्ति संयोग संबंध के कारण शरीर का लक्ष्य करके मानता है कि यह मैं जानता देखता हूँ। किन्तु जानना-देखना दृष्टि तो आत्मा की है, पर आत्मा व देह का वर्तमान में संयोग संबंध है इससे सीमा का उल्लंघन कर आत्मा की क्रिया की खबर न होने से उस सब कार्य को शरीर में लगाता है। जैसे कि अंधे मनुष्य के कंधे पर लंगड़ा बैठा है, वह अंधा व्यक्ति उसी के संकेतानुसार तेज चलता है तो वर्तमान गति देखकर लोग समझते हैं कि अंधा देखकर भाग रहा है। आचार्य कह रहे हैं वे आपको दिख रहे हैं यथार्थ में दो ही हैं अज्ञान को मेटकर सत्य ज्ञान प्राप्त करो।

श्लोक 92 का तात्पर्य यह है कि जैसे जिस पुरुष ने लंगड़े और अंधे के स्वरूप को देखकर अलग-अलग तो समझ लिया, वह लंगड़े को अंधे में नहीं जोड़ता वह यथार्थ जानता है कि भले ही यह अंधा पैरों से खूब चल रहा है, किन्तु देखने वाला यह लंगड़ा ही है। इसी प्रकार जिसने सर्व विविक्त ज्ञानानन्द घन आत्मस्वरूप का परिचय कर लिया है वह पुरुष आत्मा की इस जानने देखने की कला को देह में नहीं जोड़ता है, वह यथार्थता जानता है कि जानना देखना आत्मा में ही है, यह देह प्रयोगवश भले ही चले। यथार्थ जानने से मोहभाव नहीं ठहरता है अतः वस्तु स्वरूप को यथार्थ अवगत करना ही चाहिये।

४६. कोटि जन्म तप तपे

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीण दोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः॥९३॥

अन्वयार्थ-अनात्मदर्शिनाम्-आत्मस्वरूप का वास्तविक परिज्ञान जिन्हें नहीं है ऐसे बहिरात्माओं का **सुप्तोन्मत्तादि अवस्था एव**-केवल सोने व उन्मत्त होने की अवस्था ही **विभ्रम**-भ्रमरूप मालूम होती है। किन्तु **आत्मदर्शिनः**-आत्मानुभवी अन्तरात्मा को **अक्षीणदोषस्य**-मोहाक्रान्त बहिरात्मा की **सर्वावस्थाः**-सर्व ही अवस्थाएँ-सुप्त और उन्मत्तादि अवस्थाओं की तरह जाग्रत, प्रबुद्ध और उन्मत्तादि अवस्थाएँ भी **विभ्रमः**-भ्रम रूप मालूम होती हैं।

सुप्त माने सोया हुआ, उन्मत्त अर्थात् पागल जैसी चेष्टा। उन्मत्तता किसी से भी आ सकती है शराब पीने से, गर्मी बढ़ने से या भूत प्रेत की बाधा से पागलपन आ जाता है। तो सुप्त उन्मत्त अवस्था में वह जीव विभ्रम को प्राप्त होता है, जिसकी दृष्टि अनात्मा में लगी हुयी है, जो शरीर को आत्मा मान बैठा है ऐसा व्यक्ति भ्रम को प्राप्त होता है। पर कब ? या तो वह सोया हुआ हो। सोता हुआ व्यक्ति स्वयं को कुछ भी माने चाहे चक्रवर्ती समझे, राजा समझे या जब वह पागल हो जाये तब वह स्वयं को इन्द्र समझे या अहमिन्द्र तो जिसकी दृष्टि अनात्मा में आत्मा रूप हो गयी है ऐसा व्यक्ति या तो पागल हो जाये या सो रहा है तब उसे भ्रम बुद्धि पैदा होती है। किन्तु जिसने आत्मदर्शन कर लिया है, जो आत्मा को जानने देखने वाला है वह संसारी प्राणियों के लिये कहता है, कि सभी संसारी प्राणी जो सभी अवस्थाओं में भ्रम में जी रहा है, जिसका दोष क्षीण नहीं हुआ है आत्मा व शरीर को एक मानने वाला दोष। जिस व्यक्ति की आँख में कमी है वह एक को दो, दो को चार देखता है, जब तक उसका दोष दूर नहीं होगा तब तक वस्तु का सही ज्ञान नहीं होगा।

एक व्यक्ति ऐसा होता है जिसे एक के दो दिखाई देते हैं, एक ऐसा होता है जिसे दो का एक दिखाई देता है। एक डॉक्टर के पास एक व्यक्ति अपनी आँख दिखाने गया, उसे ये दोष था कि एक के दो दिखाई देते थे, डॉक्टर के क्लीनिक में पहुँचकर देखता है दो डॉक्टर हैं किसे दिखाऊँ, उसे याद आया अरे ! मुझे तो एक के दो दिखाई देते हैं, डॉक्टर एक ही होगा। डॉक्टर से कहा-डॉ. साहब मेरी आँखों में दोष आ गया है, क्या दोष आ गया ? बताया एक के दो दिखते हैं। डॉक्टर बोला कोई बात नहीं है तुम चारों यहाँ बैठ जाओ मैं अभी ठीक कर दूँगा। मरीज आगे पीछे देखता है यहाँ तो अकेला मैं ही हूँ वह समझ गया डॉक्टर को एक के चार दिखाई देते हैं। तो जिसे एक के चार दिखाई देते हों वह मेरा क्या उपचार कर सकता है।

महानुभाव ! ये दोष तो अलग है हमारी अखण्ड आत्मा खण्ड-खण्ड रूप में दिखाई दे रही है। अनात्मा में भी हम आत्मा देख रहे हैं ये भी एक दोष है व्यक्ति मोह के आवेश में आकर के अपनी सम्पत्ति को तो अपनी मानता है, जो परायी है उसे भी अपनी मानता है आत्मा का वैभव तो अपना है ही, किन्तु पराये वैभव को भी अपना मान लेता है। यहाँ स्थिति और विचित्र है अपने वैभव को भूलकर के पराये वैभव को अपना मान बैठा है। ये मोह की विशेषता होती है। अनात्मा के वैभव में लीन हो जाना सबसे बड़ा दोष है। जिस व्यक्ति की आत्मा में ऐसा दोष लगा हुआ है, ये मोह के कारण संशय आदि दोष उत्पन्न हुये हैं अथवा मूढ़ बनकर आत्म कल्याण के संबंध में कोई प्रवृत्ति नहीं कर रहे, अध्यवसाय नहीं कर रहे।

तो इन दोषों से सहित आत्मा नि:संदेह आत्मवैभव को प्राप्त नहीं कर सकती। पर को अपना मान लेती है, वह तो 'सर्वावस्थात्मदर्शिन:' सभी अवस्थाओं में भ्रम रूप चेष्टा कर रही है। अज्ञानी व्यक्ति जो सो रहा हो या पागल हो गया हो, अज्ञानी से आशय बहिरात्मा सोते समय हँसते-रोते हुये, या पागल हो गया तो यद्वा-तद्वा चेष्टा करता है। तो अज्ञानी व्यक्ति ऐसा तब कहता है जब ऐसी अवस्थायें हो। ज्ञानी अर्थात् जिसे आत्मा-अनात्मा का भेद विज्ञान हो गया है उसे मोही जीव की सभी अवस्थाओं में भ्रम ही भ्रम रहता है चाहे सो रहा है या जाग रहा है। जैसे कोई व्यक्ति नहा-धोकर चौके में गया वह किसी अशुद्ध वस्तु से छू गया तो असोला हो गया किन्तु वह कह रहा है ये बात तो उसके लिये है जो सोला को मान रहा है। दूसरी ओर माना कि जो चाण्डाल है वह तो सर्वदा ही अशुद्ध है। ऐसे ही जिसकी दृष्टि में आत्मा-अनात्मा एक हो गयी वह सदा ही विभ्रम में जीने वाला है।

अज्ञानी भले ही कह ले कि जब व्यक्ति सोता है तो पागल जैसा हो जाता है, भ्रम में जीता है किन्तु ज्ञानी कहते हैं अरे अज्ञानी जीव ! तू सर्वदा ही भ्रम में जीता है चाहे सोओ या जाग। तेरे सोने-जागने से कोई फर्क नहीं पड़ रहा। सर्प चाहे काँचली छोड़े या न छोड़े जहर तो अंदर है ही सर्प जहरीला ही कहलायेगा। ऐसे ही मिथ्याधारणा को छोड़े बिना क्या फर्क पड़ता है जब सो रहे हो तब भी फर्क नहीं पड़ता, जाग रहे हो तब भी फर्क नहीं पड़ता किन्तु जो व्यक्ति जाग्रत है, जिसका भ्रम टूट गया है सो रहा है या जाग रहा है तब भी क्या फर्क पड़ रहा है, उसकी धारणा तो सही बनी है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा सोते हुये भी पाप से बच जाता है पुण्य का आश्रव कर लेता है और जागते हुये भी पुण्य का आश्रव कर रहा है। वहीं मिथ्यादृष्टि जीव जागते हुये भी पाप कर रहा है, मिथ्या धारणा में जी रहा है और सोते हुये भी मिथ्या धारणा में जी रहा है।

तात्पर्य यही है-जिन्हें आत्म स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान नहीं हुआ अतएव शरीर में ही जिनके आत्मबुद्धि लगी है, उनको तो सोये हुये की हालत व पागल हुये की हालत में मालूम देता है कि

ये अचेत या बेहोश है किंतु जिसने आत्मतत्त्व का अनुभव कर लिया है उसे बहिरात्मा की सुप्त उन्मत्त अवस्था की तरह जाग्रत, सुचेत, व्यवहार आदि सभी अवस्थाओं की क्रियाओं में मालूम देता है कि यह भ्रमरूप हो रहा है अचेत व बेहोश है क्योंकि इसे न स्व का न पर का किसी भी वस्तु का यथार्थ प्रतिभास नहीं है।

विदिता शेष शास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्म दृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते॥९४॥

अन्वयार्थ-देहात्मदृष्टिः-शरीर में आत्म बुद्धि रखने वाला बहिरात्मा **विदिताशेषशास्त्रः-अपि**-सम्पूर्ण शास्त्रों का जानने वाला होने पर भी तथा **जाग्रत् अपि**-जागता हुआ भी **न मुच्यते**-कर्म बन्धन से नहीं छूटता है। किन्तु **ज्ञातात्मा**-जिसने आत्मा के स्वरूप को देह से भिन्न अनुभव कर लिया है ऐसा विवेकी अन्तरात्मा **सुप्तोन्मत्तः अपिः**-सोता और उन्मत्त हुआ भी **मुच्यते**-कर्मबन्धन से मुक्त होता है-विशिष्ट रूप से कर्मों की निर्जरा करता है।

अनेक शास्त्रों को पढ़कर भी आत्मा के स्वरूप को जानता नहीं है कि आत्मा अलग है शरीर अलग है, वह कितने ही शास्त्र पढ़ ले मुक्त नहीं हो सकता। दूसरी ओर जिसे देह और आत्मा की दृष्टि अलग-अलग प्राप्त हो गयी है ऐसा ज्ञानी व्यक्ति चाहे सो रहा है या उन्मत्तवत् चेष्टा कर रहा है फिर भी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। सोते हुये भी उसकी मोक्षमार्गी क्रिया चल रही है ज्ञानी की कोई भी क्रिया कर्म छेद का कारण है अज्ञानी की कोई भी क्रिया कर्म बंध का कारण है। आप पढ़ते हैं **ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति ते सजह टरे तें** ज्ञानी क्षण मात्र में तीनों गुप्तियों के माध्यम से कर्मों को नष्ट कर सकता है और अज्ञानी **कोटि जन्म तप तपे ज्ञान बिन कर्म झरें जे** करोड़ों जन्मों तक खूब तपस्या कर भी एक भव के कर्म को नष्ट नहीं कर सकता और ज्ञानी एक क्षण में नष्ट कर देते हैं।

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय सहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सास मेत्तेण॥२३८॥ प्र. सा.

अज्ञानी जिन कर्मों को करोड़ों-हजारों वर्षों में नष्ट नहीं कर पाता है, ज्ञानी उतने कर्मों को उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर सकता है।

महानुभाव ! यहाँ कहा कि शास्त्रों को जानने से आत्मा जानने में आ जाये यह नियामक संबंध नहीं है। शास्त्रों के माध्यम से आत्मा को जाना जा सकता है किन्तु केवल शास्त्रों के माध्यम से आत्मा को नहीं जाना जा सकता है। शब्द, ज्ञान के लिये निमित्त बन सकते हैं वह ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है। वह आत्मा का लक्षण आत्मा में ही मिलेगा। उस ज्ञान के माध्यम से आत्मा को आत्मा के रूप में जानना है और शब्द ज्ञान के माध्यम से देह को देह रूप में जानो जो जैसा है उसे वैसा ही जानना चाहिये यह वास्तव में यथार्थ ज्ञान है।

एक व्यक्ति नहा-धोकर बैठ गया तब भी अपवित्र है, एक व्यक्ति बिना नहाये बैठा है तब भी पवित्र है। मुनिराज अस्नान गुणधारी, चौके में गये तब भी सोला के और श्रावक कहे हम सुबह से तीन बार नहा चुके थोड़ा-सा छुल गये तब भी असोला हो गये। महानुभाव! यहाँ शब्द ज्ञान को ज्यादा महत्त्व नहीं दे रहे। कह रहे हैं शब्द ज्ञान से आत्मा का संबंध नहीं है आत्म ज्ञान का संबंध आपके भाव ज्ञान से है। भाव श्रुत ज्ञान महत्त्वपूर्ण है।

शिवभूति मुनिराज को 12 वर्ष में शाब्दिक णमोकार मंत्र याद नहीं हुआ। वे सब जानते थे, श्रद्धान था भावश्रुत ज्ञान पूरा था, बस द्रव्य श्रुत उनका लुप्त हो गया, ज्ञानावरणी कर्म का ऐसा उदय आया कि भावों में जानते हुये भी वह कहने में नहीं आ रहा। आप लोग भी बहुत कुछ जानते हैं पर सब कुछ व्यक्त नहीं कर सकते, आप कहते हैं मेरे मन में जो है, मैं कह नहीं सकता। द्रव्य श्रुत के माध्यम से अपने भाव को व्यक्त करने की कोशिश की जाती है, जिसका द्रव्य श्रुत कमजोर होता है ऐसा व्यक्ति दूसरों को नहीं समझा पाता पर स्वयं समझने में समर्थ हो सकता है। कभी किसी का द्रव्यश्रुत ज्ञान अच्छा होता है, वह दूसरों को तो समझा देता है और स्वयं ($\frac{0}{0}$) कुछ नहीं जानता। जो बड़े-बड़े युद्धों को रोकने में सक्षम है जिसकी बात लोग मान भी लेते हैं किन्तु उसके जीवन में थोड़ी भी घटना घटित हो जाये वह फिर समझने से नहीं समझता न स्वयं को समझा पाता।

यहाँ यही कह रहे हैं सम्पूर्ण शास्त्रों को जानने वाला भी वह जागता हुआ भी कर्मों से मुक्त नहीं होता किन्तु जिनकी आत्म दृष्टि में आत्मा का देह का भेद विज्ञान हो गया है, जिसने ज्ञान के माध्यम से जान लिया है, दर्शन के माध्यम से अनुभव कर लिया है आत्मा स्वसंवेद्य है, अनुभव करने योग्य, शरीर मात्र है और व्यय से रहित अचलस्थिति वाली आत्मा है तो ऐसी आत्मा जब अनुभव गम्य आती है तो वह अकथनीय हो जाती है। जिस व्यक्ति ने कभी शेर नहीं देखा उस व्यक्ति को शेर का परिचय कराने के लिये बिल्ली को दिखाना पड़ता है कि शेर लगभग ऐसे ही बनावट वाला होता है। ये प्रतीकात्मक है। बिल्ली-बिल्ली है, शेर थोड़ी ही न हो जायेगी।

शास्त्र भी संकेत है, मील के पत्थर की तरह जहाँ कि.मी. लिखे हैं। वे साइन बोर्ड के चित्र लक्ष्य नहीं होते प्रतीक होते हैं। प्रतीक रास्ता/मंजिल नहीं है। वे तो मंजिल तक पहुँचने का उपाय हो सकता है। पहले शब्दों के माध्यम से आत्मा को जाना जा सकता है किन्तु आत्मा से उनका संबंध नहीं है। और जिसने देह-आत्मा को अलग-अलग जान लिया है फिर चाहे वह सो रहा हो या पागलों सी चेष्टा कर रहा हो, किन्तु फिर भी वह कर्मों से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य यही है जो शरीर में ही आत्मतत्त्व का अध्यवसाय किये हुये है वह यद्यपि समस्त शास्त्रों को भी परिज्ञान किये हुये है व निद्रा रहित है, व्यवहार में जगा लग रहा है तो भी वह कर्मों

से छुटकारा नहीं पा सकता है क्योंकि जिस निज को मुक्त होना है उसे यथार्थ व देह में भिन्न देखने की रुचि भी नहीं करता है। किन्तु जो आत्मज्ञानी पुरुष है वह इन्द्रियों से सोई हुयी व इन्द्रियों से बेहोश हुयी स्थिति में भी विशिष्ट कर्म निर्जरा को करता है, वे सुप्त उन्मत्त की स्थिति में भी आत्म स्वरूप के संवेदन से च्युत नहीं होते हैं। अतः स्वसंवेदन के दृढ़ अभ्यासी बनना चाहिये।

जो व्यक्ति अन्तरात्मा है वह जागा हुआ है, बहिरात्मा सोया हुआ है उसके पास शब्द ज्ञान हो या न हो। किन्तु अन्तरात्मा व्यक्ति निरन्तर मोक्षमार्ग में चल रहा है। जो व्यक्ति बहिरात्मा है वह चाहे जागा हुआ है या सोया है, तप कर रहा है या और भी कोई क्रिया कर रहा है किन्तु वह मोक्ष मार्गी नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्लोक लिखा है-

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोही नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥३३॥

वह गृहस्थ जो निर्मोही है वह मोक्षमार्गी है किन्तु वह मुनि जो मोही है वह मोक्षमार्गी नहीं है। क्योंकि मोक्षमार्ग भेष से नहीं चलता, मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से चलता है। गृहस्थ मोक्षमार्गी हो सकता है किन्तु तब, जब वह मोह से रहित हो जाये। मोह यहाँ लिया 'दर्शनमोह' साथ में चारित्र मोहनीय की अनंतानुबंधी प्रकृति। सात प्राकृतियों का जिसने क्षय, क्षयोपशम या उपशम कर दिया, ऐसा वह गृहस्थ एक देश मोक्षमार्गी हो गया। किन्तु जिस मुनि ने इन सात प्रकृतियों में से एक भी प्रकृति का क्षय उपशम या क्षयोपशम नहीं किया ऐसा मुनि द्रव्य भेष को धारण करके भी मोक्षमार्गी नहीं है। मात्र व्यवहार में पूज्यता को प्राप्त हो रहा है, बाह्यक्रियायें कर रहा है वह सब अलग चीज है, किन्तु निश्चय से देखा जाये तो मोक्षमार्गी नहीं है।

इसलिये जब मोक्षमार्ग का कथन आया तो यहाँ पर शब्दों की बात नहीं, जो व्यक्ति खूब भक्ति-पूजा करता है, खूब ज्ञान का उपदेश देता है, खूब कुतप करता है ऐसा करने के बावजूद भी, जब तक अंतरंग में मोह विलय को प्राप्त नहीं हुआ, उसका दर्शन मोह नष्ट नहीं हुआ, तब तक उसे मोक्षमार्गी नहीं कहा जाता। यहाँ मोक्षमार्ग के लिये नियामक शर्त दी है कि उस व्यक्ति को आत्मा-अनात्मा का भेद होना चाहिये, वह अन्तरात्मा होना चाहिये, अंतरात्मा हुये बिना मोक्ष मार्ग दिखता ही नहीं। बहिरात्मा तो संसार की अवस्था को ही श्रेष्ठ मानता है, उसे आत्मा का परिचय नहीं, आत्मा को जानने की कला-विद्या उसके पास है ही नहीं। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा होता है उसे यह समझ आ गया कि देह अलग है आत्मा अलग है। यह समझ आते ही मोक्ष मार्ग प्रारंभ हो गया, वह भले ही सात तत्त्वों के नाम न गिना पाये किंतु फिर भी वह

सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी है। क्रम से बढ़ते हुये वह देशव्रतों को स्वीकार करता है, महाव्रतों को स्वीकार करता है मोक्षमार्ग में धीमी-धीमी गति ही सही पर कछुएं की चाल से अंतिम लक्ष्य तक पहुँच ही जाता है।

एक व्यक्ति यदि उल्टी राह पर चलकर दौड़ भी लगा रहा है तब भी मोक्षमार्गी नहीं, बात गति की नहीं बात ये है कि समीचीन राह पर कौन चल रहा है। समीचीन राह का राही आत्महित करने वाला है, मिथ्या राह पर तीव्रगति से भी चलने वाला है तो संसार मार्गी है।

इस श्लोक से आचार्य महाराज का अभिप्राय यही है कि समस्त शास्त्रों को जानकर भी देह में आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा जाग्रत होता हुआ भी कर्म से नहीं छूटता। क्योंकि कर्मों से मुक्ति का उपाय जागरण नहीं है, न ही शास्त्रों का अध्ययन है। कर्मों से मुक्ति का उपाय तो यही है पहले मिथ्यात्वादि सभी को विगलित करें उसके उपरांत अन्य प्रकृतियों को नष्ट करने के लिये तैयार हो जायें। आत्मज्ञानी पुरुष सोया हुआ भी हो, उन्मुक्त भी हो तो भी कर्मों से मुक्त हो जायेगा, क्योंकि वह संसारी प्राणी जैसी चेष्टा नहीं करता।

'मुनिनां अलौकिकी वृत्तिं'-मुनियों की प्रवृत्ति अलौकिक होती है। उनकी कोई पूजा करे तो वे प्रसन्न नहीं होते, तलवार के प्रहार में रुष्ट नहीं होते। क्योंकि संसारी प्राणी तो अपनी रक्षा करने वालों के प्रति संतुष्ट होता है बुरा करने वालों से असंतुष्ट होता है। इसलिये मुनियों की प्रवृत्ति को देखकर के लोग यद्वा-तद्वा भी कह सकते हैं कि देखा हमने हित किया तब भी दो शब्द नहीं बोले और हो सकता है जब वह अहित कर रहा है तब उन्होंने कह दिया तेरा कल्याण हो, तो कहेगा देखो-उससे तो कह दिया कल्याण हो और जब हम उनकी पूजार्चना कर रहे थे तब कुछ बोले ही नहीं ये हैं कैसे। तो हाँ उनकी प्रवृत्ति अलौकिकी होती है। ये प्रवृत्ति उन्मत्तवत् दिखाई देती है बाहर देखने वालों को, किन्तु फिर भी मोक्षमार्गी हैं। वे शयन भी कर रहे हैं तब भी अंतरंग में आत्मा जागी हुयी है। जागी हुयी आत्मा मोक्षमार्ग में गतिशील है, मिथ्यादृष्टि की आत्मा सोयी हुयी है भले ही आँखें बाहर से खुल जायें।

४७. श्रद्धा से सब ही तिरे

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते॥९५॥

अन्वयार्थ-यत्र एव-जिस किसी विषय में **पुंसः**-पुरुष को **आहितधीः**-दत्तावधानरूप बुद्धि होती है **तत्रैव**-उसी विषय में उनको **श्रद्धा जायते**-श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और **यत्र एव**-जिस विषय में **श्रद्धा जायते**-श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है **तत्रैव**-उस विषय में ही **चित्तं लीयते**-उसका मन लीन हो जाता है-तन्मय बन जाता है।

जिस व्यक्ति ने अपनी बुद्धि से जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप जान लिया, उसकी श्रद्धा भी वैसी ही होगी। सामने वाला कुछ भी कहे किंतु मैं मानने वाला नहीं, इसको मैंने जान लिया है अपने अनुभव से जाना है। वैज्ञानिक कहते हैं पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगाती है वैज्ञानिकों की यह श्रद्धा/धारणा को कोई तोड़ नहीं सकता किंतु एक धर्मज्ञ कहता है कि पृथ्वी तो अखण्ड है ये चक्कर नहीं लगाती ये ज्योतिष ग्रह हैं, ढाईद्वीप में ज्योतिष ग्रह हैं जो पंचमेरुओं के क्रमशः चक्कर लगाते हैं। ढाईद्वीप के बाहर के ग्रह बाहर ही अवस्थित हैं वे चक्कर नहीं लगाते। जिसकी श्रद्धा धर्म के प्रति है वह ऐसा ही कहता है और जिसकी श्रद्धा विज्ञान के प्रति है वह वैसा कहता है। जो व्यक्ति जिसका सेवन करता है उसे उसी में रुचि आती है। एक किसान जो सूखी-मोटी-मोटी रोटी मट्ठा में डालकर खाता है और कहता है इससे बड़ा व्यंजन तो संसार में कुछ है ही नहीं उसे दुनिया भर की मिठाईयों से कोई प्रयोजन नहीं है। अथवा रोगी होने पर एक व्यक्ति तो सामान्य जड़ी-बूटी से ठीक हो जाता है दूसरा कोई एलोपैथिक दवाई से ठीक होता है, तीसरा इंजेक्शन लगवाकर ठीक होता है, अगला किसी एक्यूप्रेशर से ठीक हो जाता है तो जो जिस वस्तु को जानता है, जिस प्रकार का ज्ञान जिसके पास है उसकी उस ही में श्रद्धा हो जाती है।

किसी ने अपना अनुभव सामने बताते हुये कहा कि मैंने एक्यूप्रेशर का प्रयोग एक बार नहीं कई बार किया है, मैं ही नहीं कई लोग ठीक हुये हैं इससे अच्छी चिकित्सा तो और कोई है ही नहीं, एक कहता है भाई एलोपैथिक इस्तेमाल करो हाल लगाओ हाल फायदा तुरंत टेबलेट लेकर ठीक हो जाता है। कोई किसान कहता है कि किस चक्कर में पड़े हो अमुक पेड़ के पत्ते तोड़कर ले आओ उसका रस निकालकर पानी से ले लो तुरंत ठीक हो जायेगा। अगला व्यक्ति कहता है, अरे इतने काम न करो उसने एक फूँक मारी तो तुरंत ही ठीक हो गया, अरे ये कैसे ठीक हो गया मुझे तो बड़ी वेदना हो रही थी ये तुमने क्या जादू कर दिया। वह बोला कुछ नहीं सब मंत्रों की शक्ति है।

महानुभाव ! जो व्यक्ति जिस चीज को जानता है, जिसकी बुद्धि जिसमें लीन हो गयी है, बुद्धि ने जो चीज स्वीकार कर ली है, उसकी उसमें श्रद्धा हो जाती है। आचार्य वीरसेन स्वामी जी ने लिखा है धवला जी में-

''प्रतिष्ठा बुद्धि वाच्यास्यात्''

जिनबिम्बों की जो प्रतिष्ठायें की जाती हैं अर्थात् प्रतिष्ठा बुद्धि का वाच्य है। प्रतिष्ठाचार्य ने कितनी ही अच्छी विधि की किंतु तुम्हारे मन में नहीं आया, तुम्हें लगा कि उन्होंने प्रतिष्ठा ठीक नहीं की, मूर्ति प्रतिष्ठित नहीं हुयी। तुम्हारी बुद्धि ने स्वीकार नहीं किया तो प्रतिष्ठा होते हुये भी प्रतिष्ठित नहीं है। यदि बुद्धि में आ जाये तो तुम उनको नमस्कार करोगे। जो तुम्हारी बुद्धि में समा गया कि ऐसा ही है, इससे अन्यथा नहीं है। ऐसे ही यहाँ कह रहे हैं-'यत्रैवाहितधी' पुंसा' पुरुष की बुद्धि यदि जिसे जानता है उसमें लगी हुयी है उसकी श्रद्धा उसी रूप हो गयी, उसे अब कोई अन्यथा रूप करने में समर्थ नहीं है।

एक व्यक्ति कहता है धूल में चलने पर धूल के छोटे-छोटे कण पैरों में चुभते हैं, किसान कहता है धूल नहीं चुभती कंकड़-पत्थर चुभते हैं। अगला व्यक्ति कहता है मुझे कंकड़ पत्थर का भय नहीं है मुझे तो इतनी चिकनी-चिकनी सड़कों पर चलने में डर लगता है, एक कहता है मेरे लिये शूल पर चलना आसान है, फूल पर चलना कठिन है। सबकी अलग-अलग धारणायें सबके अलग-अलग अनुभव हैं, सबके अलग-अलग ज्ञान हैं उसी प्रकार सबकी मुद्रा भी अलग-अलग है। किंतु ये बात निश्चय है जिसकी बुद्धि में जो बात समा गयी है उसकी श्रद्धा उसी में दृढ़ हो जाती है।

चित्तं तत्रैव लीयते'-उसका चित्त भी उसी में लीन हो जाता है, वह मन उसे छोड़कर के अन्यत्र नहीं जाता है। कोई संसारी प्राणी सोचता है धन कमाने से सुख-शांति मिलेगी तो वह धन कमाने के पीछे लगा रहता है, प्रातःकाल से शाम तक खूब मेहनत करता है, लौट कर आया तो तिजोरी खूब भर गयी, किंतु थककर इतना चूर हो गया कि कहता है धन में कुछ भी नहीं रखा, शांति तो तब मिलती है जब शांति से बैठ जायें। एक व्यक्ति कहता है-पैसा तो मेरे पास बहुत है उसका क्या करूँगा, जब भूख लगे तभी यथेष्ट भोजन खाओ तब शांति मिलती है। अगला कहता है शांति तब मिलती है जब अपने साथ अपने प्रिय मित्र हों जिनके साथ बैठकर अपनी मन की बात कह सकूँ-कोठी महलों से क्या प्रयोजन जंगल में वृक्ष के नीचे अपने मित्रों के साथ बैठकर शांति मिलती है, आनंद आता है, तभी अगला कहता है काहे का आनंद, आनंद तो महलों में आता है, तभी बात काटते हुये एक कहता है हमने तो महलों में भी आँसू बहाते लोगों को देखा है भूखे के लिये भोजन शांति का कारण है आनंद का कारण है, तो आनंद किसी का किसी में है, शांति किसी की कहीं है।

महानुभाव ! किसी प्रतिकूलता में एक व्यक्ति ने सलाह दी णमोकार मंत्र की जाप करो उससे ठीक होगा, किसी ने सलाह दी उपवास करो, किसी ने कहा-मौन साधना करो, किसी ने सलाह दी-स्वाध्याय करो उपयोग अच्छे में जायेगा, किसी ने कहा-तन्मयता से भगवान् की भक्ति करो सभी अपनी-अपनी सलाह देने लगे। वर्णी जी के शरीर में फोड़ा हो गया डॉ. ने देखा यह तो बहुत बढ़ चुका है इसका तो ऑपरेशन करना पड़ेगा वर्णी जी से कहा-आपको एनसथीसिया देना पड़ेगा, बिना शून्य स्थान किये चीर-फाड़ नहीं कर सकते। वर्णी जी बोले इसकी आवश्यकता नहीं है आप मेरे पास समयसार ग्रंथ ले आओ, मैं उसे पढ़ने बैठ जाता हूँ, फिर आपको जो करना है सो करते रहना। उनका कहना था मेरा समयसार पढ़ने में एक बार उपयोग लग जाता है तो भटकता नहीं है शरीर अलग आत्मा अलग है। उस ग्रंथ के शब्दों का निचोड़ जब मेरी आत्मा में आयेगा, तब मुझे शरीर का कष्ट अनुभव में नहीं आयेगा।

महानुभाव ! ऐसे ही जिसकी जिसमें श्रद्धा होती है उसी से उसकी वेदना का परिहार होता है ऐसा आचार्यों ने लिखा है। एक व्यक्ति जिसे कई व्यक्ति मिलकर समझायें तो बात उसकी समझ नहीं आती है किन्तु जिस व्यक्ति के प्रति उसके मन में श्रद्धा है वह व्यक्ति यदि समझाने आ जाये तो बात एक बार में मान लेता है। अपने शास्त्रों में दिया 'वेदना समुद्घात, शरीर में यदि कोई वेदना हो रही है, उस समय अच्छी से अच्छी औषधि भी दी जाये तब भी वह ठीक नहीं होती किंतु उस समय आत्मा के प्रदेश उस वस्तु को छूकर आ जाये जिसमें उसकी बुद्धि लगी है कि अमुक वस्तु से मैं ठीक हो जाऊँगा, तब उसको शांति मिलती है। जो जिसमें लीन है वह व्यक्ति वस्तु पास हो या दूर हो उससे ही शांति मिलती है। वह कहता है मेरे प्राण उसी में बसते हैं।

यहाँ यही कहा पुरुष की जो भी बुद्धि है जो उसने ग्रहण कर लिया है, उसमें ही उसकी श्रद्धा दृढ़ हो जाती है, उसे कोई हिला-डुला नहीं सकता। जैसे अंजनचोर की श्रद्धा हुयी कि ये जिनदत्त सेठ का बटुक सोमदत्त झूठ नहीं बोल सकता-ये कह रहा है कि आकाशगामी विद्या सिद्ध हुयी है, मरना तो है ही, ये झूठ नहीं बोलेगा, सेठ के वचन प्रमाणित है, वह चढ़ गया छींके पर और एक बार में 108 रस्सी काट दी। पूरा मंत्र भी शुद्ध नहीं पढ़ा 'आणं ताणं कछु न जाणं सेठ वचन प्रमाणं'। उस चोर की श्रद्धा उन वचनों में हो गयी। श्रद्धा हो गयी इस कारण चित्त का पूरा उपयोग, आत्मा की पूरी शक्ति उसी में लग गयी। श्रद्धा के बल से व्यक्ति असंभव कार्य को भी संभव कर लेता है।

श्रद्धा से सब ही तिरे, क्या साधु क्या चोर।
अंजन भयो निरंजना, सेठ वचन के जोर॥

एक महिला 67 साल की, उसका पति व पुत्र ये तीन ही प्राणी थे, पारिवारिक स्थिति मध्यम से भी निम्न थी, फिर भी अपने बेटे को पढ़ा लिखाकर योग्य बनाया। बेटे की नौकरी लग गयी। वृद्धावस्था में उसके पति का स्वास्थ्य खराब हो गया, माँ ने पुत्र से सहायता माँगी, पुत्र ने पैसे भेज दिये किन्तु वे इतने अपर्याप्त थे कि टेस्टिंग भी न हो सके, उसने अडौस-पडौस से पैसे इकट्ठे किये, वह डॉक्टर के यहाँ पहुँची। डॉ. ने टेस्टिंग के बाद बताया बीमारी बहुत भयंकर है जिसमें बहुत ज्यादा पैसा खर्च होगा। वह बोली डॉक्टर साहब! चाहे कुछ भी हो जाये मैं अपने पति को अवश्य बचाऊँगी इसके लिये चाहे मुझे कुछ भी करना पड़े। उसने पूरा खर्चा पूछा और पूछकर वहाँ से निकली। एक स्थान पर उसने एक फॉर्म देखा महिलाओं की दौड़ होने वाली थी, उसने कहा मैं दौडूँगी। लोग उसे समझाते हैं, आप 67 साल की हैं प्रतियोगिता में जीत न पायेगीं। किन्तु वह नहीं मानी और प्रतियोगिता में भाग लेने चली गयी। दौड़ में शामिल हुये प्रतियोगियों में कोई 18 वर्ष के, 28, 30-32 वर्ष के प्रतियोगी थे परंतु ये 67 साल की। धोती पहनी हुयी थी धोती की काँच लगायी और दौड़ना प्रारंभ किया। पूरी शक्ति लगाकर दौड़ी चाहे कुछ भी हो जाये मेरे प्राण चले जायें पर अपने पति के प्राण बचाकर रहूँगी, दौड़ती चली जा रही है, पैरों से खून भी निकल रहा है, लोग देखते रह गये कि सबसे पहले पहुँचकर प्रथम पुरस्कार प्राप्त कर लिया और ज्यों ही पुरस्कार मिला सीधे अस्पताल चली गयी। लोगों ने पूछा-तुम्हारे अंदर कौन सी शक्ति थी जिससे तुम जीत गयी।

महानुभाव ! व्यक्ति शरीर की शक्ति से नहीं जीतता वह मन-आत्मा की शक्ति जब लगा देता है तब कोई उसे हरा नहीं सकता। मौत उनको तब तक नहीं मार सकती है जब तक आदमी मरना नहीं चाहता। मरने से पहले व्यक्ति अंदर से पहले मर जाता है, वह सोचता है अब बचूँगा नहीं, तुम कितना ही इलाज करा दो बचूँगा नहीं तो वह वास्तव में नहीं बचेगा और एक कहता है ये रोग मुझे क्या मारेगा ? ये तो मेरी फूँक से उड़ जायेगा मैं जीऊँगा 100 वर्ष। जिसकी जैसी धारणा होती है वैसी ही आवाज आत्मा से निकलती है।

जैन दर्शन की अपेक्षा से कहें जिस व्यक्ति को जहाँ जन्म लेना होता है उसके परिणाम उसी स्थान संबंधी होंगे, उसे स्वप्न भी वहीं का आयेगा। यदि मारणान्तिक समुद्घात भी करता है तो उसकी आत्मा के प्रदेश उस स्थान को छूकर आते हैं जहाँ उसे जन्म लेना होता है। कई बार मृत्यु से पूर्व बेहोशी सी होती है, पूछो कहाँ गये थे बोले-अभी देवों के साथ खेल रहा था या पशुओं के बीच था, इसका आशय उसके आत्मप्रदेश वहाँ तक गये थे।

महानुभाव ! व्यक्ति की प्रवृत्ति वैसी ही हो जाती है जैसी उसकी बुद्धि होती है, जैसी बुद्धि होती है वैसी श्रद्धा हो जाती है। इस जीव की जिस वस्तु में बुद्धि लग जाती है, रुचि आसक्ति

होती है उस ही वस्तु में उसकी श्रद्धा हो जाती है कि यही आत्महित रूप है यही सुखकारी है, यही सार है और जिस वस्तु में श्रद्धा हो जाती है चित्त उसी वस्तु में लीन हो जाता है। इस कारण हे भव्य पुरुषों ! यदि आनंद घन निज स्वरूप में लीन होना चाहते हो तो निरंतर इस आनंदघन प्रतिभासस्वरूप आत्मतत्त्व में अपनी बुद्धि लगाओ।

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः॥९६॥

अन्वयार्थ-यत्र-जिस विषय में **पुंसः**-पुरुष की **अनाहितधीः**-बुद्धि दत्तावधानरूप नहीं होती **तस्मात्**-उससे **श्रद्धा**-रुचि **निवर्तते**-हट जाती है-दूर हो जाती है **यस्मात्**-जिससे **श्रद्धा**-रुचि **निवर्तते**-हट जाती है **चित्तस्य**-चित्त की **तल्लयः कुतः**-उस विषय में लीनता कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं होती।

जिस चीज को व्यक्ति बुरा मानता है कि ठीक नहीं है, उसका चिंतन करना, वैसे शब्द बोलना, वैसे कार्य की प्रवृत्ति करने में बुद्धि प्रवृत्ति नहीं करती। व्यक्ति एक बार जान ले सही क्या है, गलत क्या है, जब तक हम गलत को गलत अपने मुंह से नहीं कहते, अपनी अन्तरात्मा से नहीं कहते हैं तब तक अपनी गलती से मुक्त नहीं होते। सामने वाला हम से हजार बार कहे, लाख बार कहे हम सुन लेते हैं और मौका पड़ने पर सुना भी देते हैं कि ये गलत है किन्तु जिस समय हमारी आत्मा इसे स्वीकार कर लेती है, तब वह आत्मा उस गलती से मुक्त हो जाती है।

जब तक तीर्थंकर प्रभु को आत्मज्ञान नहीं होता तब तक वे संसार-शरीर-भोगों से विरक्त नहीं होते। पंचकल्याणक धारी तीर्थंकर गर्भ से 3 ज्ञान के धारी होते हैं, गृहस्थ जीवन में रहते हुये वे क्या नहीं जानते ? अपना अतीत भी जान रहे, अनागत भी जान रहे, पूर्व भव में कहाँ-कहाँ कैसे साधना की, स्वर्ग में कैसे सुख भोगे और मेरी वर्तमान की कुल आयु कितनी है, मुझे कैसे कल्याण करना है कितना बोझ मेरी आत्मा पर रखा है यह सब जानते हुये भी किन्तु जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ, आत्मा से चिंगारी पैदा नहीं हुयी जिसे आचार्य गुणभद्र स्वामी ने 'आत्मबोध' शब्द से संबोधित किया। वह बात जब आत्मा से पैदा नहीं होती कि ये संसार-शरीर-भोग शाश्वत नहीं हैं सुख के कारण नहीं हैं। पहली बात ये शाश्वत नहीं हैं, दूसरी बात मेरे नहीं हैं, तीसरी बात सुख के कारण नहीं हैं चौथी बात दुःख देने वाले हैं, पांचवी बात ये रोग हैं। जब ये भाव मन में आता है तो व्यक्ति विरक्त हो जाता है, जब तक ये भाव नहीं आता तब तक आसक्ति बनी रहती है चाहे वे विषय पदार्थ मिलें या न मिलें।

विरक्ति होने पर सहजोपलब्ध पदार्थों के प्रति भी राग नहीं रहता और विरक्ति न हो तो जो दुर्गम्य हैं, दुःप्राप्य हैं उन पदार्थों के प्रति भी मन में लालसा बनी रहती है मुझे ये मिले-वो मिले।

जब आत्मा में ये बात समा जाये, पहले बात समायेगी बुद्धि में फिर समायेगी आत्मा में। व्यक्ति जिन्हें चाहता है उन्हें हृदय में रखता है और जिन्हें नहीं चाहता है उन्हें दिमाग में (बुद्धि) में रखता है।

''कुछ लोगों की कुछ बातों में बस इतना अंतर है-कुछ दिल में उतर जाते हैं, कुछ दिल से उतर जाते हैं।''

कुछ बातों से व्यक्ति मन में घर बना लेते हैं और कुछ बातों से घर से बेघर हो जाते हैं। यदि आपसे किसी ने कुछ कह दिया तो वह आपके इर्द-गिर्द ही रहेगा न बसाओ आँखों में, न बसाओ दिल में किन्तु चौबीसों घण्टों दिमाग में यही चलता रहेगा कि वह बहुत बुरा व्यक्ति है बुद्धि वही सोचती रहेगी और यदि आपने किसी से राग कर लिया तो वह तो आपके दिल में रहेगा, ख्वाबों में रहेगा।

इसलिये जिनशासन में कहा कि आप किसी व्यक्ति को अच्छा-बुरा ही मत कहो, अच्छा बुरा कहना ही हमारा राग-द्वेष करना है। अच्छा कहना मित्रता का प्रतीक है बुरा कहना शत्रुता का प्रतीक है। तो क्या करना चाहिये ?

जानो। ज्ञान के तीन कारण हैं ज्ञेय-उपादेय-हेय। ज्ञेय-अर्थात् जानना, कैसे जानना ? तो कहा माध्यस्थ भाव से जानना, यदि आपने किसी को उपादेय भाव से जान लिया तब भी संसार में फँसोगे, हेय भाव से जान लिया तब भी संसार में फँसोगे, क्योंकि वस्तु तो जैसी है, वैसी है एकांतत: कोई वस्तु हेय नहीं है, एकातंत: कोई वस्तु उपादेय नहीं है। जो उपादेय वस्तु है वह राग से प्राप्त नहीं होती, जो हेय वस्तु वह द्वेष करने दूर नहीं होती, फिर क्या करो ? मध्यस्थ हो जाओ क्योंकि मध्यस्थ रहने से ही उसका फल प्राप्त किया जा सकता है। कोई कहे मोक्ष सर्वथा उपादेय है तो सर्वथा उपादेय बुद्धि से मोक्ष किसी को नहीं मिला और सर्वथा हेय मानने की बुद्धि से संसार किसी का नहीं छूटा। ये हेय-उपादेय का विकल्प छोड़कर के जब ज्ञाता-दृष्टा आत्मा, ज्ञाता ज्ञेय को ज्ञप्ति रूप में करता हुआ अपने आप में लीन रहता है तब ये संसार से मुक्त हो पाता है मोक्ष प्राप्त कर पाता है।

यहाँ पर बता रहे हैं-'यत्रैवाहितधी:पुंस:'-पुरुषों की अहित वाली बुद्धि, जहाँ पर यह समझ आता है कि ये अहित वाली बुद्धि है उससे श्रद्धा छूट जाती है। दो मित्र किसी दुकान पर दूध पीने की इच्छा से गये, दोनों ने देखा दूध बहुत अच्छा है सुगंधि आ रही है उसमें मेवा-मिष्ठान्न पड़ा है किंतु संयोग की बात एक मित्र ने देखा कि उसी दूध में छिपकली ने अपना मल विसर्जित कर दिया, अब उस दूध को वह मित्र मना करने लगा कि मैं नहीं पीऊँगा, ये अहितकारक है। उसकी बुद्धि में ये बात घुस गयी कि अब ये भक्ष्य नहीं है, जब तक बुद्धि में नहीं घुसा था तब तक

दूध को पीना चाहता था। दूसरा मित्र कहता है दूध पीले न ! वो कहता है नहीं मैं नहीं पीऊँगा, अरे दुकान वाले को पैसे मैं दे दूँगा-वह बोला पैसा क्या, तू मुझे इनाम भी दे तब भी मैं नहीं पीऊँगा इस दूध में अशुद्धि है। वह बोला-तेरे दिमाग में अशुद्धि है इसलिये तू दूध को अशुद्ध कह रहा है और कहते हुये दूसरे मित्र ने दूध पी लिया।

महानुभाव ! जब तक दिमाग में गलत नहीं है तब तक दूध खराब होते हुये भी वह पीता चला जायेगा, जब दिमाग में घुस जायेगा कि गलत है फिर न पीयेगा। यहाँ बता रहे हैं-जब ये बात बुद्धि में आ जाती है कि ये आत्मा के प्रति अहितकारक है, उसके प्रति श्रद्धा हट जाती है। कोई पुरुष अपनी स्त्री में बहुत आसक्त है दिन-रात उसी का चिंतन करता रहता है, किन्तु यदि वह स्त्री किसी जार पुरुष से प्रेम करती है तो ? उसके प्रति तुरंत ही प्रेम नष्ट हो जायेगा जैसे किसी हवा के झोके से दीपक बुझ जाता है, वह प्रेम का दीपक वर्षों में नहीं बुझेगा क्षण भर में नष्ट हो जायेगा। जिस अंजना के लिये पवनंजय आकुल-व्याकुल थे, तीन दिन भी इंतजारी न कर पा रहे थे, बस जाकर इतना सुन लिया था-सखी ने कहा कि पवनंजय के अतिरिक्त दूसरे राजा से तुम्हारा विवाह हो रहा होता तो बात कुछ और होती, वह अंजना संकोच के कारण कुछ कह न सकी। पवनंजय ने सोचा ये मेरी उपेक्षा कर रही है, किसी और में आसक्त है, उन्हें ऐसी विरक्ति हुयी कि 22 वर्ष तक मुख भी न देखा।

महानुभाव ! ऐसे ही बुद्धि में जब बात आ जाती है कि ये मेरे लिये अहितकारक है तब उसके प्रति श्रद्धा हट जाती है। कोई व्यक्ति कह दे कि ये जहर है तो आप पुनः प्रैक्टीकल करके नहीं देखोगे। अच्छाई को व्यक्ति परख करके देखता है। जैसे किसी ने कहा गुड़ मीठा होता है-अरे ! चख कर देखेंगे कैसा है, घोड़ा खरीदना होगा तो सवारी करके देखेंगे, मटका भी खरीदेंगे तो बजाकर देखेंगे किन्तु जहर को खाकर नहीं देखता कि ये मारता है या नहीं। जब व्यक्ति जहर का प्रयोग करके नहीं देखता, तो बुराई का प्रैक्टीकल करके क्यों देखता है, अच्छाई का प्रैक्टीकल करके क्यों नहीं देखता कि किसी ने अच्छी बात कही तो वह मैं अपने जीवन में धारण करूँ। कभी निःस्वार्थ भाव से सेवा करके देखो, कभी किसी के पैर का काँटा निकालकर तो देखो तुम्हारी आँखों के आँसू सूख जायेंगे। किसी रोते को हँसाकर तो देखो तुम्हारे चेहरे पर मुस्कान स्वयं आ जायेगी, व्यक्ति ऐसे प्रैक्टीकल करके क्यों नहीं देखता। व्यक्ति उल्टा चलता है।

यहाँ बता रहे हैं-इसमें आत्मा का अहित होता है ऐसी बुद्धि हो जाये तो श्रद्धा भी छूट जाती है और जहाँ से श्रद्धा छूट जाती है उसमें चित्त कैसे लीन होगा, उसके प्रति आसक्ति कैसे हो सकती है? वह कहेगा इसका तो नाम भी नहीं सुनना चाहता, देखना नहीं चाहता, वरन् जो इस वस्तु का सेवन कर रहा होगा उसके पास भी नहीं बैठना चाहता। अंदर से इतनी विरक्ति हो जाती

है कि उसकी हवा भी खतरनाक लगती है। जिस व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन में द्वेष का भाव पैदा हो गया है तो कोई उसकी चर्चा भी कर रहा होगा तो आपको खराब लगेगा, उसके द्वार के सामने से निकलना भी पसंद नहीं करोगे, इतनी घृणा हो जाती है फिर वहाँ चित्त कैसे लीन हो सकता है ? नहीं हो सकता।

तात्पर्य यही है जीव की बुद्धि का जिस वस्तु की ओर रंचमात्र भी आकर्षण नहीं है, उस वस्तु से श्रद्धा हट जाती है। वह उस वस्तु में हितरूपता का, समीचीनता का रंचमात्र भी भाव नहीं रखता। जिस वस्तु से श्रद्धा हट जाती है, अनेकों उपाय करने पर भी चित्त उस वस्तु में लीन नहीं होता। इस लोक में प्राणी का प्रायः आकर्षण विपत्ति के स्थानभूत विषयों की ओर रहता है और श्रद्धा व चित्तलीनता भी विषय में रहती है। किन्तु इसमें रहकर जीवन भी समाप्त हो जायेगा, लाभ कुछ न मिलेगा बल्कि बहुत हानि ही उठानी पड़ेगी। अतः हे भव्यों ! यदि संसार के संकटों से, विपदाओं से दूर होना चाहते हो तो ऐसा विवेक करो जिससे विषयों की ओर बुद्धि न लगे।

४८. आत्मा में परमात्मा की छवि

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिदीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥९७॥

अन्वयार्थ-आत्मा-यह आत्मा **भिन्नात्मानं**-अपने से भिन्न अर्हन्त सिद्धरूप परमात्मा की **उपास्य**-उपासना-आराधना करके **तादृशः**-उन्हीं के समान **परः भवति**-परमात्मा हो जाता है **यथा**-जैसे **भिन्नावर्तिः**-दीपक से भिन्न अस्तित्व रखने वाली बत्ती भी **दीपं उपास्य**-दीपक की आराधना करके उसका सामीप्य प्राप्त करके **तादृशी**-दीपक स्वरूप **भवति**-हो जाती है।

यदि यह हमारी तुम्हारी आत्मा उत्कृष्ट (आत्मा) परमात्मा की उपासना करे तो हमारी-तुम्हारी आत्मा भी परमात्मा बन जायेगी। अरिहंतों की उपासना से अरिहंतात्मा, सिद्धों की उपासना से सिद्धात्मा, साधुओं की उपासना से साधु आत्मा बन जायेगी, जिसकी उपासना करती है वैसी आत्मा बन जाती है। ऐसा कैसे हो सकता है जैसे कपास की बत्ती दीपक की ज्योति की उपासना करती है तो वह भी दीपमय हो जाती है। एक लकड़ी अग्नि कुण्ड में जाकर उपासना करती है, उसका चरण स्पर्श करती है तो वह भी उसी रूप हो जाती है। यदि हमारी आत्मा परमात्मा का स्पर्श करे तो वह भी परमात्मा हो जाये। जैसे लोहा पारसमणी का स्पर्श करे तो लोहा सोना हो जाता है।

महानुभाव ! यहाँ पर भी आचार्य महाराज इसी बात को कह रहे हैं कि अभी तक हमने स्पर्श तो किया किन्तु परमात्मा का नहीं किया। परमात्मा की मूर्ति का स्पर्श किया, और वह भी हमने नहीं किया हमारे शरीर ने किया। परमात्मा के नाम का गुणगान किया तो हमने नहीं हमारी जिह्वा ने किया। परमात्मा के गुणों को जाना तो हमारे मन ने जाना आत्मा में वो बात नहीं आ पायी। यदि हमारी आत्मा एक बार परमात्मा का अवलोकन अंदर के नेत्रों से कर लेती, एक बार आत्मा-आत्मा की आवाज सुन लेती, बाहर के कानों से नहीं आत्मा के उपयोग से, यदि एक बार आत्मा-आत्मा का स्वाद ले लेती किंतु बाहर की जिह्वा से नहीं, एक बार-आत्मा-आत्मा का अनुभव कर लेती, वह अनुभव दूसरों के शब्दों से नहीं या किसी आकृति को देखकर नहीं अपितु अपने अंदर ही उस परमात्मा की आकृति को प्रकट करके, तो पुनः निःसंदेह यह आत्मा भी परमात्मा बन गयी होती।

अभी तक हमने उस परमात्मा का संस्पर्श इस आत्मा से नहीं किया, परमात्मा की ध्वनि को इस आत्मा ने नहीं सुना। यह जीव शरीर के माध्यम से तो परमात्मा को स्पर्श करता है, देखता है, किन्तु ये इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करना चाहता है, परमात्मा को आत्मा के माध्यम से ग्रहण नहीं करना चाहता, जिस समय ये परमात्मा को आत्मा से ग्रहण करना चाहेगा तब निःसंदेह आत्मा

परमात्मा बन जायेगा। यदि कोई लकड़ी दीपक के समीप जाये किंतु उस लकड़ी के ऊपर बर्फ जमी हुयी है, बर्फ अग्नि का स्पर्श कर रही है किंतु लकड़ी स्पर्श नहीं कर रही तो क्या लकड़ी अग्नि हो पायेगी? नहीं हो पायेगी। दीपक की बत्ती में यदि घृत लगा है तो दीपक बन जायेगी यदि दीपक की बत्ती में जल लगा हुआ है तो दीपक नहीं बन सकेगी क्योंकि जल के जलने में पहले देर लगेगी तब बाद में बत्ती जलेगी, किंतु वह दीपक बन सकती है। ऐसे ही हम मन वचन काय से परमात्मा का स्पर्श करते हैं फिर यदि आत्मा से भी स्पर्श कर लें तो आत्मा परमात्मा बन जायेगी। यह भी एक साधन है, पहले काया से किया, फिर वचनों से, फिर मन से किया किंतु अब आत्मा से कर लें।

जिस क्षण हम इस आत्मा से उस परमात्मा का संस्पर्श कर लेंगे उस क्षण हमारी आत्मा भी परमात्मा बन जायेगी। कोई सूखी मिट्टी काली चिकनी है उस मिट्टी में गर्म पानी की एक-एक बूंद जा रही है, पानी जाते-जाते उस डेले ने पानी पी लिया। जल का स्वभाव शीतल होता है। उस मिट्टी ने जल को ग्रहण किया, जल के स्वभाव को भी ग्रहण किया, अब मिट्टी का डेला जो गर्म हो रहा था, अब वह गीली मिट्टी पेट पर लगा लो तो वह अंदर की गर्मी को भी शांत कर देगी। जल के निमित्त से वह मिट्टी शीतल हो गयी। मिट्टी ने शीतलता को ग्रहण कर लिया। जल मिट्टी के संयोग से और ज्यादा ठंडा हो गया, वही जल यदि धूप के संयोग में आ जाता तो गर्म हो जाता। निमित्त का प्रभाव पड़ता है। हम अभी संसारी प्राणियों की सत्संगति में जा रहे हैं परमात्मा की संगति में हमारा शरीर तो चला जाता है, इन्द्रियाँ चली जाती हैं पर सत्यता यह है हम स्वयं नहीं जा पाते। जब तक हम परमात्मा की संगति न करेंगे तब तक परमात्मा कैसे बनेंगे।

यदि किसी दही के डिब्बे के चारों ओर 8-10 दूध के डिब्बे रखते चले जाओ, दही-दूध का मेल नहीं हुआ तो डिब्बे का दूध दही नहीं बनेगा, उसके लिये जामन जाना जरूरी है ऐसे ही हमारी आत्मा में परमात्मा रूपी जामन जाना जरूरी है तो हमारी आत्मा भी परमात्मा बन जायेगी। एक बार थोड़ा सा स्पर्श कर ले जैसे दूध दही के स्पर्श से दही बन जाता है। हम भी उस स्पर्श से परमात्मा के साँचे में ढल सकते हैं।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः॥९८॥

अन्वयार्थ-अथवा-अथवा **आत्मा**-यह आत्मा **आत्मानम्**-अपने चित्त स्वरूप को ही **उपास्य**-चिदानन्दमय रूप से आराधन करके **परमः**-परमात्मा **जायते**-हो जाता है **यथा**-जैसे **तरुः**-बांस का वृक्ष **आत्मानं**-अपने को **आत्मैव**-अपने से ही **मथित्वा**-रगड़कर **अग्निः**-अग्नि रूप **जायते**-हो जाता है।

जब आत्मा आत्मा की उपासना करता है तब आत्मा ही परमात्मा हो जाता है। उदाहरण भी अच्छा दिया जैसे वृक्ष की दो शाखायें आपस में टकरायें, बांस के पेड़ की दो शाखायें आपस में रगड़ खायें तो उनमें अग्नि पैदा हो जाती है। तो आत्मा भी आत्मा की उपासना कर सकती है। कैसे कर सकती है ?

वैसे तो व्यवहार में उपास्य अलग होता है, उपासक अलग होता है, दोनों एक नहीं होते किंतु निश्चय से उपासना दो की होती नहीं निश्चय एक में ही चलता है। दो में व्यवहार हो जाता है। हमारी आत्मा बाहर से कुछ ग्रहण कर नहीं सकती, हम किसी को अपनी आत्मा में से कुछ दे नहीं सकते, जो है वह हमारा हम में है, दूसरे का दूसरे में है। जमीन पर पड़ने वाली वृक्ष की छाया, वह जमीन की है या वृक्ष की ? वह पर्याय किसकी है? पर्याय जमीन की कहें, वृक्ष की कहें, प्रकाश की कहें किसकी कहें? यदि हम जमीन की पर्याय कहें तो वह जमीन में होना चाहिये, वृक्ष की मानें तो वृक्ष में होनी चाहिये, सूर्य की मानें तो सूर्य में होना चाहिये उसकी किरणों के प्रकाश में माने तो उसमें होना चाहिये।

किंतु इस आकाश में बहुत सारे पुद्गल परमाणु भरे पड़े हैं जो पुद्गल परमाणु प्रकाशमय हो सकते हैं वे पुद्गल परमाणु अंधकारमय भी हो सकते हैं। सूर्य की किरणों के माध्यम से कांच चमकता है तो उसकी किरणें निकलती हैं, और अंधकार हो जाये तो कांच की किरणें नहीं निकलती, वे किरणें कांच से निकल रही थी और अब कांच अंधकारमय हो गया, क्योंकि परमाणुओं में दोनों प्रकार की शक्ति है, जो परमाणु अंधकारमय थे वे प्रकाशमय हो गये और जो प्रकाशमय थे वे अंधकारमय हो गये।

जिस तरह जल अभी ज्यों की त्यों शीतल है, अग्नि के निमित्त से वही जल उष्ण हो गया, तो जल में भी इस प्रकार होने की शक्ति है, किसी निमित्त के माध्यम से। वह जल यदि बर्फ के निमित्त को प्राप्त करता है, ठंडा हो जाता है। जल में ठंडा-गर्म दोनों होने की शक्ति है ऐसे ही जो पुद्गल के परमाणु अभी प्रकाशमय परमाणु थे, और प्रकाशमय होने के कारण स्पष्ट दिखाई दे रहे थे, अब उस प्रकाश में वृक्ष बीच में आ गया तो उस कारण वहाँ प्रकाश स्पष्ट नहीं हो रहा, और प्रकाश स्पष्ट न होने के कारण उसकी परछाई पड़ गयी। परछाई किसी आधार से पड़ेगी। जमीन परछाई का आधार बन सकती है, कोई भी धरातल परछाई का आधार बन सकता है, और वृक्ष बन गया निमित्त, परछाई है मध्य में विद्यमान पौद्गलिक परमाणु।

पर्याय न तो वृक्ष की है क्योंकि जो जिसकी पर्याय होती है वह उसमें रहती है। मैं कहूँ कि मेरी पर्याय इस आत्मा के अलावा किसी और पर्याय में हो जाये नहीं होगी, यह शरीर मेरी आत्मा की पर्याय का आधार है। इस शरीर में जब आत्मा आती है तो आत्मा का आकार भी शरीर रूप

हो जाता है। आत्मा की पर्याय अलग है, शरीर की पर्याय अलग है। ये शरीर तो पुद्गल है। विकारी आत्मा, विभाव स्वरूप आत्मा, कर्म सहित आत्मा यह शरीर में रह रही है। शरीर छूटेगा तब भी आत्मा विभाव पर्याय से युक्त रहेगी, तब भी उसमें विकारी भाव रहेंगे, कर्म रहेंगे। तो आत्मा की पर्याय तो आत्मा में है किन्तु ये अभी कर्म के उदय से पुद्गल के पिण्ड में है।

आत्मा पुद्गल नहीं है, ये पुद्गल, आत्मा की पर्याय नहीं है। आलापपद्धति आदि ग्रंथों में दिया नरनारकादि पर्याय विभावव्यंजन पर्याय हैं। विभाव व्यंजन पर्याय अर्थात् नर-नरकादि पर्याय में विद्यमान आत्मा। उस समय आत्मा ने वह शरीर ग्रहण कर लिया तो वह पर्याय पुद्गल की ही रहेगी ये आत्मा की पर्याय नहीं हो गयी। जिस समय आत्मा जिस शरीर से युक्त है, उसकी जो पर्याय है वह आत्मा की विभाव व्यंजन पर्याय है। जब आत्मा शुद्ध हो जायेगी तो शुद्ध स्वभाव व्यंजन पर्याय कहलायेगी।

महानुभाव ! यहाँ पर कह रहे हैं-जो परछाई थी वह वृक्ष के निमित्त से पुद्गल की परछाई थी। क्योंकि पुद्गल सर्वत्र भरे पड़े हैं। ऐसे ही यहाँ कह रहे थे-उपास्य और उपासक। उपासक उपास्य की उपासना करके उपास्य बन जाता है। उपासक अलग है, उपास्य अलग है, उपासना की विधि अलग है, उपासना का फल अलग है। ये चार चीज अलग-अलग हैं किंतु जहाँ पर ये चार चीज अलग-अलग न होकर एक रूप हो जायें मैं ही उपासक, मैं ही उपास्य, मेरी आत्मा का जो परिणमन है वो ही उपासना और मेरी आत्मा में जो प्रवृत्ति शुद्ध हो गयी, जो कर्म नष्ट हो गये वो ही उपासना का फल है। तो आत्मा ही उपासक, आत्मा ही उपासना, आत्मा ही उपास्य और आत्मा ही उपासना का फल, तो अध्यात्म का फल ये ही होता है जहाँ निश्चय एक हो चारों अलग-अलग न हों।

'उपास्य आत्मान एव आत्मा' उपास्य आत्मा ही 'जायते परमोऽथवा' उत्कृष्ट परमात्म अवस्था को प्राप्त हो जाता है अथवा जैसे बाँस की रगड़ आपस में होती है तो आपस में रगड़ से ही अग्नि पैदा हो जाती है। ऐसे ही आत्मा-आत्मा में घर्षण करती है तो जो अनात्मा है वह नष्ट हो जाती है। आत्मा के आत्मा में घर्षण होने से ज्ञान की अग्नि, ध्यान की अग्नि जो भी अग्नि पैदा होती है उससे अनात्मा नष्ट हो जाता है, शुद्ध आत्मा-आत्मा ही रह जाता है और यह संभव है।

जैसे-दूध में पानी मिला हुआ है उस दूध में थोड़ा-सा दही का संयोग (जामन) हो गया तो दूध का दही बन गया और पानी उसमें से अलग हो गया, ऐसे ही आत्मा में से अनात्मा अलग हो सकती है। दूध में पानी तो विजातीय है वह अलग हो गया। उस दूध ने परमात्मा का (जामन का) आश्रय लिया था व्यवहार में, जब बाहर के परमात्मा का आश्रय लिया तब उस दूध में अपने आप क्रिया होने लगी। एक बार ही आश्रय लिया बार-बार नहीं कि 24 घंटे मिला ही रहे, नहीं!

बस एक क्षण के लिये दही उस दूध में पड़ गया तो दही जम गया। ऐसे ही हमारी आत्मा ने एक बार देख लिया कि परमात्मा का स्वरूप ऐसा होता है, उस परमात्म स्वरूप की छाया उसमें पड़ गयी अब उस परछाई को देखते रहो कार्य होता रहा। जैसे वह दूध ढका रखा है उसमें क्रिया अपने आप होती चली जा रही है दूध दही बन गया ऐसे ही जिसने अपनी आत्मा में परमात्मा की परछाई को एक बार देख लिया देखते-देखते अपनी आत्मा ही परमात्मा हो जायेगी। जैसे दूध दही बन जायेगा तो पानी अपने आप अलग हो जायेगा।

यहाँ यही बताया कि मैं ही मेरे द्वारा उपासना करने के योग्य हूँ। जब तक मैं अपने मैं को नहीं जानता हूँ तब तक मैं बाहर के परमात्मा की उपासना करता हूँ, एक बार उसकी झलक की आवश्यकता है।

जिस योगी ने अपनी आत्मा में एक बार परमात्मा की छवि को स्थापित कर लिया, अब बार-बार स्थापना करने की आवश्यकता नहीं है। जैसे कुम्भकार ने एक बार मटके की मिट्टी को चाक पर चढ़ाया अब बार-बार चाक पर रखने की आवश्यकता नहीं अब तो मटका को हाथ से ठोक पीटकर आकार देकर सुखाकर तपाकर पक्का करने की आवश्यकता है। ऐसे ही एक बार परमात्म स्वरूप को ग्रहण करने की आवश्यकता है फिर तो हम स्वयं में करते रहेंगे। आत्मा स्वयं ही परमात्मा बन जायेगी।

४९. परमात्म पद की भावना

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचां गोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः॥९९॥

अन्वयार्थ-इति-उक्त प्रकार से **इदं**-भेद-अभेद रूप आत्म स्वरूप की **नित्यं**-निरन्तर **भावयेत्**-भावना करनी चाहिए। ऐसा करने से **तत्**-उस **अवाचांगोचरं-पदं**-अनिर्वचनीय परमात्म पद को **स्वत एव**-स्वयं ही यह जीव **आप्नोति**-प्राप्त होता है **यतः**-जिस पद से **पुनः**-फिर **न आवर्तते**-लौटना नहीं होता है-पुनर्जन्म लेकर संसार में भ्रमण करना नहीं पड़ता है।

महानुभाव ! इस प्रकार परमात्म स्वरूप की नित्य प्रभावना करनी चाहिये वह परमात्मा कैसा है? अति निर्मल, विकारों से रहित, कर्मों से रहित, शुद्ध ज्ञान दर्शन, शाश्वत अविकारी-अविनाशी उस परमात्म पद की निरन्तर भावना भानी चाहिये। वह भावना जामन का काम करेगी। किन्तु भावना जा मन में पैदा करनी है, जा-मन में भावना भावो तो वह जामन का काम करती है। यदि दूसरे के मन की भावना है तो जामन का कार्य नहीं करेगी। ये भावना जब आत्मा में डाली जाती है जामन की तरह तो वह आत्मा रूपी दूध को परमात्मा रूपी दही बना देगी। इस प्रकार परमात्म स्वरूप को प्राप्त करने की नित्य अर्थात् अहर्निश भावना भानी चाहिये, ऐसा नहीं कि एक-दो दिन, बस हो गया काम, जब तक परमात्मा का बिम्ब आपकी आत्मा में न छा जा जाये।

एक बार किसी कैमरे में आपका नेगेटिव आ गया तो फिर बार-बार फोटो खिंचाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, किन्तु नेगेटिव को बार-बार धोकर पोजेटिव बनाने की आवश्यकता पड़ेगी। जब तक नेगेटिव साफ नहीं आया तब तक फोटो साफ नहीं आयेगा ऐसे ही जब तक हमारी आत्मा में परमात्मा का सही नेगेटिव नहीं बना है तब तक उसका सही स्वरूप नहीं आ पायेगा, यदि एक बार सही बन गया, तो पुनः अन्य की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

यह पाषाण खण्ड है इस पाषाण खण्ड को तब तक तराशो कि टूट भी न जाये और मूर्ति भी बन जाये। पाषाण में आउटलाईन खींची जाती है फिर मूर्ति बनाना प्रारंभ करते हैं, काँटते-छाँटते बेकार पत्थर अलग करते जाओ तो मूर्ति अपने आप निकल आयेगी। इंजीनियर जब कोई बिल्डिंग बनाता है तो पहले सामने उसका नक्शा बनाता है पुनः स्थान पर आटलाईन खींचता है, कहाँ कैसे पिलर खड़ा करना है, पुनः दीवार खींचना प्रारम्भ कर दी और नक्शा अलग रख दिया, बनाते चले जाओ। नक्शे की आवश्यकता तब तक रहती है जब तक जो बिल्डिंग बना रहे हैं उसकी आउटलाईन नहीं खींची। अपनी आत्मा में जब परमात्मा की आउटलाईन आ जाती है तो फिर जैसे इंजीनियर नक्शा लेकर साथ-साथ नहीं चलता, उसी प्रकार जब तक परमात्मा का अक्स और उनकी छाया हमारी आत्मा पर पूरी न छा जाये तब तक आवश्यक है।

आपने बचपन में देखा होगा जब चित्रकला बनाते थे, तब एक ट्रेस पेपर से किसी पुस्तक का चित्र लेकर उकेर लेते थे, इससे आउटलाईन उस पर आ गयी, फिर जहाँ चित्र बनाना है उस ड्रॉइंग शीट पर ज्यों की त्यों उकेर दिया फिर उसमें रंगादि भर कर तैयार कर लेते थे, ऐसे ही हम परमात्मा के उस रूप का चित्र अपनी भावना की वर्ण वर्तिका से अपनी आत्म के लिप्यासन पर एक बार खींच लें उसके उपरांत जब एक बार मन में वह चित्र छा जायेगा, तब धीमे-धीमे पूरा स्वरूप उकर आयेगा। यहाँ यही बता रहे हैं कि इस प्रकार आत्मस्वरूप की नित्य भावना करनी चाहिये। इससे आत्मा वचनागोचर उस पद को स्वत: प्राप्त कर लेता है।

अवाचा-अर्थात् वचनों के अगोचर जो पद है, उस परमपद की, सिद्धपद की, परमात्मपद को प्राप्त करने की नित्य भावना करनी चाहिये। एक व्यक्ति जब यात्रा के लिये जाता है तब समझ लेता है, मुझे कहाँ से कैसे जाना है, वह हाथ में मेप रखता है या जी.पी.आर.एस. के माध्यम से देख लेता है और उसी प्रकार चलता है। ऐसे ही हमें परमात्मपद को प्राप्त करने की भावना रूपी चार्ट/नक्शा लेकर चलना होगा। 'अवाचागोचरं पदं' जब उस वचनागोचर पद की भावना करते रहेंगे तब वह स्वत: ही आत्मपद की प्राप्ति कर लेता है। बस हमें तो जामन डालकर ढांककर रखना है शेष काम वह जामन करता रहेगा। तो निरंतर भावना करते रहना है और भावना कब होती है? भावना होती है संयम के साथ जब संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति हो गयी, जिस तरह से जामन गर्म दूध में कार्य करता है ठंडे में नहीं ऐसे ही जब आत्मा तप से तपित, संयम से सहित है उस समय भावना भाना है, वह भावना रूपी जामन पड़ गया तो अब वह अपना कार्य कर लेगा, उसके पहले नहीं।

यहाँ पर कह रहे हैं स्वत: ही वह आत्मपद को प्राप्त कर लेगा बार-बार खोलकर देखने की आवश्यकता नहीं। किसान ने खेत में बीज डाला उससे पहले खेत को जोता, जिससे मिट्टी मुलायम हो गयी, मिट्टी में वह नमी आ गयी जिसमें बीज डाला जा सके और डाल दिया। अब बीज स्वयं अंकुर पैदा कर लेगा। अब वह उसे बार-बार खोद कर देखेगा नहीं कि अंकुर पैदा हो रहा है या नहीं, वह काम अपने आप होता रहेगा। जितना पुरुषार्थ करना होता है वह पहले होता है बाद में सहज में ही काम होता है। पक्षी ने अण्डा दिया, अब वह उसे से रही है, वह बार-बार तोड़कर नहीं देखती बच्चा बड़ा हो रहा है या नहीं पुरुषार्थ किया अण्डा दिया, अब स्वत: ही अण्डे में बच्चा बड़ा होगा। ऐसे ही प्रारंभ में पुरुषार्थ पूर्वक भावना भानी चाहिये। फिर स्वत: ही आत्मा परमात्मा बन जाता है, और जब परमात्मा बन जाता है फिर पुन: लौट कर नहीं आता। जो बीज अंकुर बन गया, पेड़ बन गया वह अंकुर अब बीज नहीं बन सकता, उसमें से बीज बहुत सारे हो सकते हैं। जो दूध एक बार घी बन गया अब वह घी लौटकर दूध नहीं बन सकता। जो बच्चा अण्डे में से निकल गया वह बच्चा अब अण्डा नहीं हो सकता, जो आत्मा परमात्मा बन

गया वह पुनः संसारी आत्मा नहीं हो सकता। इसमें कोई मोड नहीं है सीधे ऋजु गति से जाता है पुनः कभी लौटकर नहीं आता।

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मात् न दुःखं योगिनां क्वचित्॥१००॥

अन्वयार्थ-चित्तत्त्वम्-चेतना लक्षणवाला यह जीव तत्त्व **यदि भूतजं**-यदि भूतज है तो **निर्वाणं**-मोक्ष **अयत्नसाध्यं**- यत्न से सिद्ध होने वाला नहीं रहेगा। **अन्यथा**-यदि चैतन्य आत्मा भूत चतुष्टयजन्य तथा सदा शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करने वाला नित्य मुक्त नहीं है। तो फिर **योगतः**-योग से स्वरूप संवेदना-चित्तवृत्ति के निरोध का दृढ़ अभ्यास करने से ही निर्वाण की प्राप्ति होगी **तस्मात्**-चूंकि वस्तुतत्त्व की ऐसी स्थिति है इसलिये **योगिनां**-निर्वाण के लिये प्रयत्नशील योगियों को **क्वचित्**-किसी भी अवस्था में-दुर्द्धरानुष्ठान के करने तथा छेदन-भेदनादिरूप उपसर्ग के उपस्थित होने पर **दुःखं न**-कोई दुःख नहीं होता है।

यदि आत्मा, आत्मा से उत्पन्न होने वाला है अर्थात् यदि शुद्ध आत्मपना, परमात्मा से उत्पन्न होने वाला है वह परमात्म दशा किसी पुद्गल से नहीं मिलेगी धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य से नहीं मिलेगी, काल से भी नहीं मिलेगी। कोई सोचे, बैठा हूँ भाग्य के भरोसे आज नहीं तो कल शुद्ध हो जाऊँगा, पर नहीं अथवा पुद्गल का ढेर सोना चाँदी जोड़-जोड़ कर परमात्मा बन जायें ऐसा भी नहीं आत्मा का आत्मपना वास्तव में आत्मा में ही पाया जाता है, वह दशा आत्मा में ही प्रकट होती है। तो वह निर्वाण की अवस्था अयत्नसाध्य है अर्थात् उसके लिये यत्न करने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा अपने आप परमात्मा बन जायेगी।

यदि किसी मिट्टी का कलश बनना है, और कलश मिट्टी से ही बनना है, तो फिर बाहर में पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं, वह तो अपने आप बन ही जायेगा ? आपके पास-सब्जी मसाला सब रखा है, भोजन उसी से बनना है, यदि अपने आप बनना है तो पुरुषार्थ करके क्या करोगे? दो बातें हो गयी। यदि कलश मिट्टी से बनना है तो कुम्हार क्या करेगा ? मिट्टी ही कलश बन जायेगी, और कलश मिट्टी से नहीं बनता है, कुम्हार ही कलश बनाता है तो मिट्टी क्या करेगी? किंतु कोई भी कुंभकार बिना मिट्टी के कलश बना नहीं सकता है? तो यहाँ कह रहे हैं यदि आत्मपना आत्मा से ही निष्पन्न होने वाला है तो फिर यही कहना चाहिये 'अयत्ननिर्वाणसाध्यं' वह निर्वाण अयत्न साध्य है।

निर्वाण पुरुषार्थ से नहीं होता, कोई भी आत्मा पुरुषार्थ करके, चाहे कभी निर्वाण को प्राप्त करे ले तो नहीं होगा जब निर्वाण होगा तब अयत्नसाध्य ही होगा किंतु हाँ निर्वाण के पहले पुरुषार्थ करना जरूरी है। सीढ़ियों को तो चढ़ना ही पड़ता है, अंतिम सीढ़ी के बाद छत अपने आप ही

आ जाती है, रास्ता चलना ही पड़ता है मंजिल अपने आप आ जाती है। मंजिल में मार्ग नहीं होता और मार्ग में मंजिल नहीं होती। मंजिल सहज है किंतु मार्ग सहज नहीं है। छत सहज है सीढ़ियाँ सहज नहीं हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र जिस समय प्राप्त हो रहे हैं उस समय सहज हैं, निश्चय सहज है किंतु व्यवहार सहज नहीं है उसके लिये पुरुषार्थ करना पड़ेगा। द्रव्य मोक्ष सहज है किंतु भाव मोक्ष को प्राप्त करना सहज नहीं है। अरिहंत अवस्था तक पहुँचना पड़ेगा पुरुषार्थ पूर्वक और जब नो संसारी किंचित् संसारी यानि जिन भावों से कर्मों का क्षय होना है उन भावों की प्राप्ति होगी तो फिर द्रव्य मोक्ष के लिये तुम्हें कुछ नहीं करना वे कर्म स्वतः ही आत्मा से छूट जायेंगे। निर्वाण अयत्न साध्य है।

तो यहाँ कह रहे हैं 'चित्तत्त्वं भूतजं' आत्मा का आत्मपना यदि आत्मा से उत्पन्न होने वाला है तो फिर तो यही कहना चाहिये कि निर्वाण अयत्न साध्य है। दूसरी बात कह रहे 'अन्यथा योग तस्मात्' अन्यथा योग से होता है तो 'न दुःख योगिनां क्वचित्' योगियों को दुःख कहाँ।

जैन दर्शन को मानने वाले मानते हैं आत्मा सहज है आत्मा को किसी ने उत्पन्न नहीं किया न कोई नष्ट कर सकता है। अन्य मत वाले मानते हैं कि आत्मा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुआ है। आत्मा भूत से बनी तो भूत से ही स्वयं नष्ट हो जायेगी उसमें कुछ करने की आवश्यकता नहीं है और यदि आत्मा उन भूत चतुष्टय से उत्पन्न नहीं हुयी है सहज आत्मा है, उसमें कर्म कालिमा लगी हुयी है, जब कर्म कालिमा लगी है तो पुरुषार्थ पूर्वक उसे धोने की आवश्यकता है। पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक् तप आदि के माध्यम से उन कर्मों को धोया जाता है। प्रारंभ में पुरुषार्थ जरूरी है, बाद में सहज अवस्था प्राप्त होती है किंतु बिना पुरुषार्थ के सहज अवस्था नहीं। मिट्टी रखी थी स्वयं कलश नहीं बना, भोजन सामग्री रखी थी किन्तु भोजन स्वयं नहीं बना, तो प्रारंभ में पुरुषार्थ आवश्यक है। हाँ ये बात सही है कि बिना भोजन सामग्री के भी महिला भोजन नहीं बना सकती, तो वह चीज भी चाहिये। जब भी हमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त हुआ तो पुरुषार्थ पूर्वक कषायों को मंद किया, शास्त्रादिकों का अध्ययन किया और संकल्पपूर्वक संयम को ग्रहण किया बाद में योगी जब आत्मा में लीन हो गया, तीनों एक रूप हो गये तब सहज साध्य।

जब योगी सहज अवस्था में पहुँचता है तो फिर शरीर पर आने वाले उपसर्ग आदि को सोचता है कि ये मेरी आत्मा को नष्ट नहीं कर सकते, इनसे आत्मा का किंचित् भी घात नहीं होता, ये नहीं आये तो भी आत्मा को कोई लाभ नहीं होता आत्मा तो आत्मा है। जो भी प्रतिकूलता आयी, ये उपसर्ग आदि उस कर्म को खींचने के निमित्त हैं जब वे कर्म चले जायेंगे तो मेरी आत्मा मुक्त

हो जायेगी। मेरे ऊपर कर्मों का जो भार है, कर्मों का ऋण जो मेरे पास है, पुद्गल को ग्रहण कर लिया है उस पुद्गल कर्म को मैं कैसे छोड़ूँ पुरुषार्थ करता जा रहा हूँ मैं तो फेंकता जा रहा हूँ सामने वाला सब खींचकर ले जा रहा है ये मेरा, ये मेरा, मैं भी कह रहा हूँ सब अपना-अपना ले जाओ, फिर जो रह जायेगा वह मेरा रह जायेगा।

जैसे केवली समुद्घात करते हैं तो सब प्रदेश आत्मा के फैल जाते हैं, सब कर्म एक साथ उदय में आ गये, अपना-अपना लेकर जाओ इस प्रकार करने से योगी दु:खी नहीं होता योगी खेद खिन्न अवस्था को प्राप्त नहीं होता, वह सोचता है इसके माध्यम से मेरी आत्मा में विद्यमान दु:ख का जो कारण था, उस दु:ख के कारण को ये निकाल रहे हैं, ये मेरे सुख के कारण को नहीं छीन सकते, मेरे स्वभाव को नहीं छीन सकते। ये तो मेरे विभाव को ले जा रहे हैं, ये उपसर्गादि तो भले हैं इनके माध्यम से मेरे पाप कर्म, जिनके कारण में संसार में परिभ्रमण कर रहा था, उन कर्मों को ये खींचकर ले जा रहे हैं ये इन कर्मों को ढोयेंगे। मेरे कर्मों को ले जाकर ये ढोना चाहते हैं तो ले जाने दो। मैं तो अलग ही कर रहा था, तुझे चाहिये तो ठीक है, तूने मुझ पर उपसर्ग करके मोक्ष जाने में सहायता कर दी अन्यथा मैं मोक्ष नहीं जा पाता।

एक परिवार में बेटे ने पिता जी से कुछ कह दिया पिताजी को वैराग्य हो गया। उन्होंने उससे कहा-बेटा-तुमने बहुत अच्छा किया, मेरी आँखें तुमने खोल दी मैं राग की कीचड़ में फंसा हुआ था अब मैं कल्याण करने जाता हूँ। बेटा-बहू क्षमा माँगते हैं-वह कहता है अरे क्षमा कैसी तुमने बुरा नहीं अच्छा किया जो मेरे कल्याण के निमित्त बने। वे ऋषभदेव भगवान् सौधर्म इन्द्र से कहें-तूने बुरा किया जो नीलांजना का नृत्य प्रस्तुत किया मेरा राज्य छुड़वा दिया, तो नहीं वे तो कहेंगे तूने बहुत अच्छा किया मैं तो मोह की नींद में सोया पड़ा था, 83 लाख पूर्व की आयु कब निकल गयी पता भी नहीं चला अच्छा किया जो नीलांजना की मृत्यु का प्रसंग तूने मेरे सामने प्रस्तुत कर दिया, उससे मेरी नींद टूट गयी। इन्द्र कहता है-मैंने आपके लिये अच्छा नहीं किया, हमने तो अपने लिये अच्छा किया है भरत क्षेत्र में धर्म की प्रवृत्ति कैसे होगी, आपका मोक्ष तो नियामक था ही, आप तो यदि पूरी आयु भी भोग लेते अंतिम 10 वर्षों में ही आप दीक्षा लेकर केवल ज्ञान प्राप्त करके वर्ष पृथक्त्व तक आपकी दिव्य ध्वनि खिर जाती व मोक्ष चले जाते किंतु संसारी प्राणियों का कल्याण कैसे होता। जो 18 कोड़ा कोड़ी सागर से यहाँ भोगभूमि चल रही है जहाँ धर्म का नाम निशान नहीं है तो धर्म की प्रवृत्ति कौन करता, उसके लिये दीर्घ काल का समय चाहिये, इसलिये हमने अपनी स्वार्थ भावना से आपके साथ ऐसा किया। आप छल कहो या अच्छा।

५०. सहनशीलता से प्रगति

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासा विशेषतः॥१०१॥

अन्वयार्थ-स्वप्ने-स्वप्न की अवस्था में **दृष्टे विनष्टे अपि**-प्रत्यक्ष देखे जाने वाले शरीरादिक विनाश होने पर भी **यथा**-जिस प्रकार **आत्मनः**-आत्मा का **नाशः न-अस्ति**-नाश नहीं होता है **तथा**-उसी प्रकार **जागरदृष्टे अपि**-जाग्रत अवस्था में भी दृष्ट शरीरादिक का विनाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता है। **विपर्यासाविशेषतः**-क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में जो विपरीत प्रतिभास होता है उसमें परस्पर कोई भेद नहीं है।

यदि किसी व्यक्ति ने सपने में देखा कि मेरी मृत्यु हो गयी या किसी सामने वाले की मृत्यु हो गयी या मकान टूट गया आदि स्वप्न में कुछ देखा तो स्वप्न का देखा सच नहीं होता। स्वप्न में देखा है वास्तव में मृत्यु नहीं हुयी स्वप्न-स्वप्न है। स्वप्न में देखी जन्म-मृत्यु, राजा रंक होना, स्वप्न में व्यक्ति न जाने क्या-क्या करता है उस समय वह असत्य है यह जानता है ऐसे ही यहाँ कह रहे हैं जिस तरह स्वप्न में नष्ट हुयी वस्तु नष्ट नहीं मानी जाती है वह तो बुद्धि या अबुद्धिपूर्वक देखा गया चित्रण है वह सही में नहीं हुआ ऐसे ही प्रत्यक्ष में देह के नष्ट होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। जाग्रत अवस्था में जैसे मालूम पड़ता है कि जो संयोग-वियोग देखा था वह स्वप्न में था, वह हमारा विपर्याय था अर्थात् विपरीत आशय ग्रहण कर लिया था, जाग्रत होने पर वह नष्ट हो जाता है। सत्यता सामने आ जाती है कि वह वास्तव में स्वप्न था, वस्तु नष्ट कहाँ हुयी। ऐसे ही जो बहिरात्मा है देह के नष्ट होने पर विपरीत आशय ग्रहण कर लेता है कि आत्मा नष्ट हो गयी। न पुद्गल नष्ट हुआ न जीव नष्ट हुआ, केवल पुद्गल की पर्याय बदल गयी है। पुद्गल अभी भी है, आगे भी रहेगा, आत्मा पहले भी था, आगे भी रहेगी।

किसी व्यक्ति ने सोने के कड़े को तुड़वाकर के चेन बनवा ली तो क्या सोना नष्ट हो गया? एक व्यक्ति उस चेन को प्राप्त कर खुश हो रहा है, वहीं दूसरा कड़ों के टूटने पर रो रहा है किन्तु उनका पिता न हँस रहा है न रो रहा है क्यों ? क्योंकि वे दोनों पर्यायों को देख रहे हैं, एक नष्ट हुयी पर्याय के लिये रो रहा है, एक नयी पर्याय की प्राप्ति पर हँस रहा है किन्तु पिता न हँस रहा है, न रो रहा है क्योंकि सोना पहले भी था, अभी भी है। सोना कोई नया उत्पन्न नहीं हुआ, न नष्ट हुआ ऐसे ही स्वप्न में यदि किसी की मृत्यु हो गयी है तो कोई रोता नहीं, स्वप्न की मृत्यु में स्वप्न में तो रोते हैं और जाग गये तो कोई फर्क नहीं।

यहाँ आचार्य महाराज यह समझाने की चेष्टा कर रहे हैं कि जैसे स्वप्न में व्यक्ति/वस्तु के नष्ट होने पर व्यक्ति या वस्तु नष्ट हुआ नहीं माना जाता उसी प्रकार बहिरात्मा व्यक्ति देह के नष्ट

होने पर अपना विनाश मान लेता है किन्तु वास्तव में देह के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होती केवल पर्याय बदलती है। जैसे वस्त्रों के बदलने से व्यक्ति नहीं बदलता है।

पूर्व कर्म का फल आज प्राप्त होता है, आज के कर्म का फल कल प्राप्त होगा। आत्मा शरीर को बदल ले, अब आत्मा ने जो पूर्व कर्म किये वे थोड़े ही न चुक गये, यदि अच्छे कर्म करे हैं तो अच्छा फल, बुरे किये तो बुरा फल मिलेगा। यहाँ यही कह रहे हैं कोई भी द्रव्य मूलत: नष्ट नहीं होता हर द्रव्य नियम से शाश्वत है केवल उसकी पर्याय बदलती है।

तात्पर्य यही है-जैसे नींद में ऐसा स्वप्न आये कि मैं मर गया, तो क्या वहाँ नींद लेने वाला मर गया ? नहीं मरा ! वह तो नींद में स्वप्न में ऐसा झूठा स्वप्न देख रहा है, भ्रम कर रहा है, इसी प्रकार आँखों से जगते हुये भी मोहनींद के स्वप्न में अर्थात् मोह जन्म कल्पना में शरीरादिक के वियोग से यह मोही अपना नाश मानता है किन्तु वास्तव में वहाँ आत्मा का नाश नहीं हो रहा है, जैसे नींद में स्वप्न वाले ने भ्रम किया ऐसे ही मोह में कल्पनावश इस मोही ने भी भ्रम किया है। हे आत्मार्थी पुरुषों ! अपने आपको अविनाशी ज्ञान धन जानकर देह से वियोग को अपना नाश मत मानो।

अदु:खभावितं ज्ञानं क्षीयते दु:ख सन्निधौ।
तस्मात् यथाबलं दुखैरात्मानं भावयेन्मुनि:॥१०२॥

अन्वयार्थ-अदु:खभावितं ज्ञानं-जो भेद विज्ञान दु:खों की भावना से रहित है-उपार्जन के लिये कुछ कष्ट उठाये बिना ही सहज सुकुमार उपाय-द्वारा बन आता है-वह **दु:खसन्निधौ**-परीषह-उपसर्गादिक दु:खों के उपस्थित होने पर **क्षीयते**-नष्ट हो जाता है। **तस्मात्**-इसलिए **मुनि:**-अन्तरात्मा योगी को **यथाबलं**-अपनी शक्ति के अनुसार **दु:खै:**-दु:खों के साथ **आत्मानं भावयेत्**-आत्मा की शरीरादिक भिन्न भावना करनी चाहिये।

यहाँ कह रहे हैं-जिस साधु ने अनुकूलता में साधना की, अनुकूलता में शास्त्रों का अध्ययन किया, अनुकूलता में तत्त्वचिंतन किया है, अनुकूलता में धर्मोपदेश दिया है, अनुकूलता में तप किया है, त्याग किया है वह साधु प्रतिकूलता आने पर विचलित होगा, संक्लेशता का अनुभव करेगा और यदि ज्यादा प्रतिकूलता हुयी तो संभव है कभी संयम व धर्म से भी च्युत हो सकता है। किन्तु जिस साधु ने प्रतिकूलता में ही ग्रहण किया है, प्रतिकूलता में जो उपलब्धि प्राप्त की है उसे कोई भी प्रतिकूलता छीन नहीं सकती, जीवन में कभी भी उन प्रतिकूलताओं से वह उपलब्धि च्युत नहीं होगी।

जैसे किसी व्यक्ति ने गरीबी में धन अर्जन किया, एक-एक पैसे को जोड़ा ऐसे व्यक्ति का ईमानदारी से कमाया गया धन कभी नष्ट नहीं होगा। यदि उसने वह प्रतिकूलताओं का समय देखा

है तो ऐसा व्यक्ति धन का दुरुपयोग नहीं करेगा, सदुपयोग ही करेगा। जिस व्यक्ति ने सदैव अनुकूलता ही देखी है, तो वह कभी धन की कीमत नहीं करेगा।

पिता के धन को बर्बाद करना सरल है किन्तु जो धन उसने स्वयं पसीना बहाकर कमाया है तब उस धन को खर्च करने में सोचता है मैं धन खर्च करूँ या न करूँ। एक राजकुमार पिता के धन को खूब बर्बाद करता था, एक राजकुमारी थी उसने संकल्प किया था कि मैं एक ऐसे पति को चुनूँगी जो पति अपने आप में विशेष हो। राजकुमारी व राजकुमार का विवाह हुआ, राजकुमार ने शर्त रखी मेरा नियम ये है कि मैं तुम्हें सुबह-सुबह सौ जूते मारूँगा, राजकुमारी ने शर्त स्वीकार कर ली। पहला दिन हुआ, राजकुमार जूते मारने आया, राजकुमारी ने कहा ठहरो! मैं अभी तक मायके में थी अपने पिता का खाती थी, ससुराल में अब आपका खाऊँगी किन्तु तुमने क्या कमाया ? पहले तुम कमाकर के लाओ, फिर मुझे अपनी कमाई खिलाओ तब तुम्हें कहने का, मारने का, डाँटने का सब अधिकार देती हूँ। उसने कहा ये पूरा राज्य ही मेरा है, मैं ही इसका उत्तराधिकारी हूँ। वह बोली अभी तो ये पिता का ही है तुम कमाकर लाओ, मेहनत से लाओगे तभी मैं तुम्हारी बात सुनूँगी।

राजकुमार गया, किन्तु राजकुमार ने कभी काम किया हो तो जाने, वह मौज-मस्ती में रहने वाला, सुख-सुविधाओं में पलने वाला था। किन्तु फिर भी वह गया। सुबह से शाम तक खूब मेहनत करता है, उसकी इस मेहनत पर उसका मालिक उसे बस उतना ही देता है जिससे उसका पेट भर जाये, अब जोड़ नहीं पा रहा, वह नौकरी छोड़कर आगे गया, वहाँ भी काम किया किन्तु पैसा नहीं जोड़ पाया। एक बार वह नौकरी ढूँढते-ढूँढते एक ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ सरसों की खली को पेला जा रहा था, उसने सोचा मैं यहाँ काम करूँगा। वहाँ वह बैलों के स्थान पर खुद जुत गया और काम में लग गया, वहाँ के मालिक ने उसे भोजन-पानी के साथ रोज का 1 पैसा देना प्रारंभ किया। 1-1 पैसे करके उसके पास 100 पैसे हो गये, अर्थात् 1 रु. बन गया।

3-3.5 माह हो गये, लौटकर नहीं आया, घर वालों को भी चिंता हुई बेटा कहाँ गया, बहुत खोज करवायी। राजकुमारी ने भेष बदलकर घोड़े पर सवार होकर उसे ढूँढना प्रारंभ किया और ढूँढते-ढूँढते पहुँच गयी जहाँ तेल निकाला जा रहा था और देखते ही पहचान लिया। उसने कोल्हू वाले से कहा ये तुम्हारे यहाँ कौन नौकर है? इसको छोड़ दो, वह कोल्हू वाला उस सैनिक भेष वाले को देखकर डर गया और छोड़ दिया, उस राजकुमार के कपड़े बदलवाये, बाल जो बड़े-बड़े हो गये थे वो बनवाये और उसका 1 रु. देकर छोड़ दिया। वह राजकुमार खुश होता हुआ घर आ गया। घर आकर सो गया और प्रात:काल होते ही जूता लेकर खड़ा हो गया राजकुमारी के सामने। उसने 1 रु. फेंका और कहा अब मैं 100 जूते मारूँगा।

पत्नी ने कहा-ठहर जाओ ! और एक पोटली सामने लायी जिसमें उसके तेल से सने कपड़े और कटे बाल रखे थे। ज्यों ही राजकुमार ने देखा और तुरंत पोटली बंद कर दी। कहा-बस ! रहने दो, ये राज तुम जानो या मैं जानूँ। बात को यहीं छोड़ो।

महानुभाव ! पैसा कैसे कमाया जाता है इस बात को वही समझ सकता है जिसने मेहनत की हो। यहाँ बता रहे हैं जिस व्यक्ति ने प्रतिकूलता में ज्ञान प्राप्त किया है ऐसा व्यक्ति उच्च पद को प्राप्त कर सकता है। गरीब बालक स्ट्रीट लाइट में पढ़कर, दूसरे की पुस्तक व रोशनी में पढ़कर भी उच्चपद को प्राप्त कर सकता है और एक अमीर बालक को सभी अनुकूलतायें मिलने पर भी जरूरी नहीं कि उच्च पद पा ही ले। जिसे पढ़ने की लगन है वह किसी भी प्रतिकूल माहौल में बैठकर पढ़ सकता है व ऐसी योग्यता को प्राप्त कर सकता है जो योग्यता सुख-सुविधा में पढ़ने वाला व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

महानुभाव ! मुनि के लिये कहा हे मुने ! तुम प्रतिकूलताओं में अपनी साधना को वृद्धिंगत करो। उपवास के लिये तो पहले से मन बना रखा था कि अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करूँगा किन्तु अचानक आते अंतराय का भी पालन करो, या उपवास था फिर अंतराय भी हो गया, विहार भी करना है या और भी कोई प्रतिकूलता हो गयी तो उन सभी को सहन करते जाओ, इससे समाधि के समय जब शरीर क्षीण होगा, वेदना होगी या आहार नहीं चलेगा, उस समय भी तुम्हारे परिणामों में समता बनी रहेगी। जो व्यक्ति बड़ी प्रतिकूलताओं को सहन कर लेता है फिर छोटी-मोटी प्रतिकूलता उसे सहज लगने लगती हैं अन्यथा जिसने कभी प्रतिकूलता का सामना ही नहीं किया तो छोटी सी प्रतिकूलता भी उसे बड़ी लगेगी।

तो यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि मुनि को सतत यह भावना भानी चाहिये कि चाहे कैसी ही प्रतिकूल स्थिति आ जाये में डिगूँगा नहीं। प्रतिकूलताओं का अभ्यास करना चाहिये, अपनी परीक्षा स्वयं देना चाहिये। इसलिये मुनिराज गर्मी में, सर्दी में, बरसात में अपनी शक्ति को नाप-तौल कर धीमे-धीमे अपनी शक्ति बढ़ाते जाते हैं और प्रतिकूलता सहन करते जाते हैं।

ज्ञान के संबंध में सुखाभिलाषी को विद्या प्राप्त नहीं होती, विद्यार्थी को सुख प्राप्त नहीं होता इसलिये सुखार्थी को विद्या का त्याग कर देना चाहिये और विद्यार्थी को सुख का त्याग कर देना चाहिये। प्रतिकूलताओं में, संघर्षों के साथ जो उपलब्धि प्राप्त की है विश्व की कोई भी शक्ति उसे छीन नहीं सकती। और यदि आपने कम परिश्रम से ज्यादा पारिश्रमिक प्राप्त कर लिया है तो आगे परिश्रम करना पड़ेगा या वह छोड़ना पड़ेगा इसलिये पर्याप्त परिश्रम करना जरूरी है उस ज्ञान के लिये उतना परिश्रम व सहनशीलता भी आवश्यक है तभी आप उसे प्राप्त कर पायेंगे, तभी वह आयेगा और ठहरेगा, तभी आप उसे भोग पायेंगे।

यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं-वस्तु स्वरूप का बार-बार मनन चिन्तन करने से सुकुमार उपाय द्वारा, कष्ट सहे बिना जिसे आत्म स्वरूप का परिज्ञान हुआ है, उस पुरुष पर कदाचित् कोई कष्ट आ पड़े तो वहाँ यह सम्भावना अत्यधिक है कि उसका यह ज्ञान क्षीण हो जाये, क्योंकि उस पुरुष को कष्ट सहने का अभ्यास ही न था। इस कारण ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि शक्ति के अनुसार नाना काय क्लेशादिक तपों को करके, कष्ट सहिष्णु बनता हुआ अर्थात् कष्टों के सहने की क्षमता उत्पन्न करता हुआ, आत्मस्वरूप की भावना करे। इसमें यह शिक्षा दी गई है कि हितार्थी को शक्त्यानुसार व्रत, नियम, तप, संयम आदि को निभाना चाहिये और उसमें कोई कष्ट भी आये तो कष्ट सहिष्णु बनना चाहिये, ऐसे वृत्ति सहित वह आत्म स्वरूप की भावना में प्रगति करे।

५१. भववर्द्धिनी-इच्छा

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेष प्रवर्तितात्।
वायोः शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु॥१०३॥

अन्वयार्थ-आत्मनः-आत्मा के **इच्छाद्वेषप्रवर्तितात्-प्रयत्नात्**-इच्छा और द्वेष की प्रवृत्ति से होने वाले प्रयत्न से **वायुः**-वायु उत्पन्न होती है-वायु का संचार होता है **वायोः**-वायु के संचार से **शरीर यंत्राणि**-शरीर रूपी यंत्र **स्वेषु कर्मसु**-अपने अपने कार्य करने में **वर्तन्ते**-प्रवृत्त होते हैं।

आत्मा में जब इच्छायें ज्यादा होती हैं, चाहे वे सद्इच्छा हो या असद् इच्छा होने से राग द्वेष की प्रवृत्ति होती है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति होने से आत्मा में वायु उत्पन्न होती है या आत्मा में आत्म शक्ति संग्रहित होकर उस ओर प्रवृत्त कराती है। व्यक्ति इच्छा से रहित है तो शांति से बैठ सकता है और ज्यों ही व्यक्ति में कोई इच्छा जाग्रत होती है तो वह शांति से नहीं बैठ सकता है। प्यास व्यक्ति को गतिमान बनाती है चाहे किसी भी प्रकार की प्यास हो। प्यासा व्यक्ति स्थिर नहीं होता है, वह कहीं न कहीं प्रवृत्ति करेगा, खोज करेगा। जिसे कुछ चाहिये वह आँख बंद करके नहीं बैठ पायेगा, बाहर देखेगा।

यदि आप किसी की इंतजारी कर रहे हैं, आँख बंद करके बैठना बड़ा मुश्किल हो जायेगा, इधर-उधर देखते ही रहेंगे, और जब किसी की इतंजारी नहीं कर रहे न मित्र न शत्रु तो आँख बंद करके शाँति से बैठ सकते हैं। जीवन में जब-जब इच्छायें उत्पन्न होती हैं, द्वेष की प्रवृत्ति होती है तब-तब नियम से वायु संचालित होती है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी उच्चकोटि के आचार्य जो सभी विद्याओं में पारंगत थे, चाहे वे नीतियों में हों, भक्ति में हो, न्याय में हो, व्याकरण, आयुर्वेद आदि सभी विद्याओं के पारंगत आचार्य कह रहे हैं कि व्यक्ति के जीवन में ज्यों-ज्यों राग द्वेष बढ़ता चला जाता है त्यों-त्यों व्यक्ति चंचल होता जाता है। बंदर हरे-भरे फलों से लदे पेड़ पर चढ़कर फल खाता रहता है और सूखी डाली कहीं मिल जाये उसे पकड़कर हिला देता है, ऐसे ही जब मन तृप्त व संतुष्ट हो जाता है तो शांति से सो जाता है, और यदि किसी बालक के शरीर में वेदना हो रही हो तो उस समय तड़पन होगी, चाहे वेदना भूख की हो, प्यास की या रोग की या अन्य किसी प्रकार का कष्ट हो वह निराकुलता से नहीं बैठ पायेगा या तो वह मूर्च्छित हो जाये या किसी दवा से सो जाये तब तो निराकुल चेष्टा हो सकती है अन्यथा वह हाथ और पैर पटकेगा।

आचार्य महाराज कह रहे हैं जब आत्मा में राग-द्वेष की तीव्रता बढ़ती है, तीव्रता बढ़ने से वायु पैदा होती है उस वायु के संचालन से पूरा शरीर ही संचालित होता है। फिर वह शांति से बैठता नहीं। आगे कह रहे हैं-वायु के द्वारा शरीर रूपी जो यंत्र है वह चंचल होकर प्रवृत्ति करता है। जैसे कुम्हार का चाक, उसे पहले डंडे से घुमाया पुनः वह स्वयं घूमता रहता है, कुछ खिलौने ऐसे होते

हैं जिसमें चाबी भर दी वे स्वयं चल रहे हैं ऐसे ही आत्मा में जब राग-द्वेष की वायु भर दी जाती है पुनः स्वयं संचालित होता है।

राग-द्वेष योग के कारण हैं, जब राग-द्वेष नष्ट हो जाता है तब योग की प्रवृत्ति इतनी खतरनाक नहीं रहती है राग-द्वेष 10वें गुणस्थान तक रहते हैं, 11वें में उपशांत मोह 12वें में क्षीण मोह, 13 वें में सयोग केवली यहाँ आश्रव तो है योगों के माध्यम से किन्तु वह खतरनाक नहीं है और 14वें गुणस्थान में योग ही नहीं है योग से रहित अवस्था। यहाँ बता रहे हैं इस संसार में जीव आत्मा में जब प्रयत्न पूर्वक इच्छा या द्वेष पैदा होता है। प्रयत्न पूर्वक इच्छा द्वेष पैदा होना अर्थात् बुद्धिपूर्वक। कोई एक व्यक्ति चाहता है मिल जाये तो ठीक है, नहीं मिले तो कोई हर्ज नहीं है उसमें इतनी लालसा नहीं है इसलिये पुरुषार्थ भी तीव्र नहीं होगा।

एक बार विदेश में एक होटल में तीन स्थान के व्यक्ति चाय पीने आये एक जर्मन का, एक अमेरिका का और एक भारतीय, एक ने अपना कप सीधा रख दिया, एक ने अपना कप उल्टा रख दिया भारतीय व्यक्ति ने सोचा अब मैं क्या करूँ उल्टा रखूँ या सीधा रखूँ उसने सोचा मैं तिरछा रखूँगा, वेटर आया उसने पूछा-तुमने कप ऐसे क्यों रखा ? प्रतिप्रश्न करते हुये भारतीय ने वेटर से पूछा-इन दोनों में से एक ने सीधा एक ने उल्टा कप क्यों रखा? वेटर ने बताया-जिसने कप सीधा रखा उसका मतलब है ये एक कप चाय और चाहता है, और दूसरे ने उल्टा कप रखा क्योंकि अब वह और चाय नहीं चाहता अब तुम बताओ, तुम क्या कहना चाहते हो ? वह बोला-मिल जाये तो ठीक, नहीं मिल जाये तो ठीक।

तो अबुद्धि पूर्वक इच्छा ऐसी होती है मिल जाये तो ठीक, नहीं मिल जाये तो ठीक। जब चाहिये तब प्रवृत्ति ज्यादा होती है तीव्र होती है मिलना ही मिलना चाहिये और जितनी तीव्रता होती है व्यक्ति उतना परिश्रम करता है, स्वयं करता है, जो उस पुरुषार्थ में निमित्त बन सकते हैं उनके पास जाता है, धन नहीं है तो धन मांगने जायेगा, जब शाक्ति नहीं है तो शक्ति माँगने जायेगा और कार्य करेगा। तीव्र इच्छा के साथ क्रिया में जोश भी तीव्र होता है और अनिच्छा में जोश भी कम होता है फिर शरीर रूपी यंत्र में भरी हुयी वायु भी कम हो जाती है। तो वायु की प्रवृत्ति किससे होती है? इच्छा से और इच्छा/राग जहाँ होता है वहाँ पर विपरीत के प्रति द्वेष भी होता है। यहाँ बस इतनी सी बात बतायी है कि प्रयत्न पूर्वक आत्मा की इच्छा-द्वेष पूर्ण प्रवृत्ति होने से वायु निष्पन्न होती है। वायु के माध्यम से शरीर का जो यंत्र है वह अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्ति करता है। यह शरीर एक खिलौना है इसमें जितनी चाबी भर दी जाये उतना ही खिलौना चलता है। इच्छा की चाबी बंद कर दो तो खिलौना शांति से बैठता है। संसारी प्राणी संसार में क्यों घूम रहे हैं? क्योंकि उनमें इच्छा व द्वेष रूपी चाबी भरी हुयी है, इसलिये संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, जब राग द्वेष नष्ट हो जाये तो संसार का भ्रमण भी नष्ट हो जायेगा, तो सुख का कारण तो ये ही है

कि इच्छायें कम करो, हेय प्रवृत्ति को कम करते जाओ। मोहनीय कर्म ज्यों-ज्यों उपशम होता चला जायेगा इच्छा आपकी उतनी ही कम होती चली जायेगी। उसका एक ही उपाय है संतोष वृत्ति। जो कुछ भी है उसमें ही राजी। नाराजी व्यक्त करने वाला पहले स्वयं नाखुश होता है फिर दूसरे को नाखुश करता है, राजी होने वाला व्यक्ति स्वयं तो राजी है ही, सामने वाला भी उससे राजी हो जाता है।

किसी महिला ने भोजन बनाया, खाने वाले ने खुश होकर खाया तो महिला के चेहरे की प्रसन्नता ही अलग होती है और खाने वाले ने नाक-मुँह टेड़ा कर लिया तो उसका दिमाग भी ठनक जाता है, और यदि खाने वाले ने थाली ही उठाकर फेंक दी तो महिला भी सोचती है बस चले तो मैं भी इसे फेंक दूँ। महानुभाव ! ये एक प्रवृत्ति है, जब तुम राजी हो तो निःसंदेह सामने वाले को भी राजी कर सकते हो। दया कभी अकेले नहीं आती, हम अपनी आत्मा पर दया करते हैं तो सामने वाले की रक्षा होती है, सामने वाले की रक्षा करते हैं तो हम अपनी आत्मा पर भी दया करते हैं। जब कोई क्रूरकर्मी व्यक्ति सामने वाले की हत्या करता है तो वह उस पर भी निर्दयी है और अपनी आत्मा पर भी निर्दयी है। हम कोई भी कार्य करेंगे, प्रभाव दोनों पर पड़ता ही है, ऐसा नहीं है कि दीपक जले वह दूसरों को तो दिखा दे पर स्वयं को न दिखा पाये। ऐसे ही कोई भी कार्य करते हैं तो उसका असर अपने पर भी होता है, और दूसरे के ऊपर भी होता है। हमारी संतुष्टि की वर्गणायें सामने वाले की संतुष्टि का भी कारण बनेंगी, यदि हमारे अंदर असंतुष्टि है तो सामने वाले के लिये भी असंतुष्टि का कारण बनेंगी।

महानुभाव ! यहाँ बता रहे हैं-इच्छा व द्वेष की प्रवृत्ति होने से आत्मा में वायु पैदा होती है और वायु पैदा होने से ये शरीर का यंत्र संचालित हो जाता है और चलता रहता है, जितनी ज्यादा वायु पैदा होती है, उतनी तीव्र गति से चलता है। पूज्यपाद स्वामी कहते हैं मन में कोई गाँठ मत रखो, वे लोग अच्छे होते हैं जो अपने मन की बात को कह देते हैं, गंदगी ज्यादा देर तक रखनी नहीं चाहिये ये बदबू बढ़ायेगी। संतुष्टि को अंदर में ले जाओ, अच्छी बात को अंदर तक गहराई से सोचो और बुरी बात को पहले सुनो ही मत, शब्द आ गये तो जल्दी से निकाल दो। यहाँ कह रहे हैं-वचन से काय से यदि कभी पाप प्रवृत्ति हो जाये तो वे ज्यादा ठहरेंगे नहीं। मन में पाप को मत ले जाओ। अच्छे कार्य जब भी करना है शरीर से वचनों से कर पाओ या न कर पाओ मन से जरूर करो।

शरीर से मुनि न बन पाओ कोई बात नहीं, वचनों से न कह पाये कोई बात नहीं किन्तु मन से प्रतिदिन भावना भाओ चाहे कुछ भी हो जाये मेरा संकल्प है मैं मुनि बनकर ही शरीर का त्याग करूँगा। तो जो मन का संकल्प है वह मुनि बनाकर ही रहेगा और यदि कोई व्यक्ति जिसकी मन

से तो भावना नहीं है किन्तु वचनों से कह रहा है मैं मुनि बनूँगा। यदि कहने से वह बात मन तक नहीं जा रही है तो कहना उतना लाभदायक नहीं है। मन में भी हो, वचन में भी हो और शरीर में भी हो तो समझो पक्का विचार है।

तो बताया अच्छी बातों को मन तक ले जाओ। केवल अच्छे कार्य शरीर से मत करो, केवल वचनों से मत बोलो अच्छे विचारों-संस्कारों को मन में रखो क्योंकि वह स्थान बहुत सुरक्षित है वहाँ अंदर रखी हुयी चीज वृद्धि को प्राप्त होती है। बुराई रखोगे तो बुराई वृद्धिंगत होगी, अच्छाई रखोगे तो अच्छाई। छिपाना है तो अच्छाई को छिपाओ, बताना है तो बुराई को बताओ। बुराई बताओगे तो वह कपूर की तरह उड़ जायेगी, अच्छाई को छिपाओगे तो वह बढ़ती चली जायेगी।

प्रश्न- वायु शब्द यहाँ लिया, विचार जो उत्पन्न हो रहे हैं वे मन में हो रहे हैं या आत्मा में ?

उत्तर-आत्मा में प्रवृत्ति होती है रागद्वेष की और जो मन धारी हैं संज्ञी हैं वे उस राग द्वेष के बारे में विचार करते हैं। वह मन उस राग-द्वेष को हवा दे रहा है, जैसे किन्हीं दो व्यक्तियों में लड़ाई हो जाये तो तीसरा आकर बढ़ावा देता है। ऐसे ही मन बढ़ावा देता है। वचन व शरीर भी बढ़ावा देते हैं।

दोऊ कढईयन देवो तेल, तुम नाचो हम देखें खेल

ऐसे नारद जैसे रोल निभाने वाले भी लोग होते हैं आत्मा में पहले राग-द्वेष पैदा होते हैं। मन धोंकनी का कार्य (हवा देने का) करता है। कोयला जल रहा है भट्टी बनी हुयी है। भट्टी तो यह देह हो गया, कोयला माना कि वचन हो गये और मन हवा दे रहा है। जो अग्नि पड़ी हुयी है वह राग-द्वेष से पैदा होने वाले विचार हैं।

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जड़ः।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम्॥१०४॥

अन्वयार्थ-जड़-मूर्ख बहिरात्मा **साक्षाणि**-इन्द्रियों सहित **तानि**-उन औदारिकादि शरीर यन्त्रों को **आत्मनि समारोप्य**-आत्मा में आरोपण करके-मैं गौरा हूँ, मैं सुलोचन हूँ इत्यादि रूप से उनके आत्मत्व की कल्पना करके **असुखं-आस्ते**-दुःख भोगता रहता है **पुनः**-किन्तु **विद्वान्**-ज्ञानी अन्तरात्मा **आरोपं त्यक्त्वा**-शरीरादिक में आत्मा की कल्पना को छोड़कर **परमं पदं**-परम पदरूप मोक्ष-को **प्राप्नोति**-प्राप्त कर लेता है।

उनको, किनको? जिससे वायु पैदा होती है ऐसे विकल्पों को राग-द्वेष के विकल्पों को, इच्छाओं के विकल्पों को, इन्द्रियों की माँग को आत्मा में आरोपित करके, आत्मा में है नहीं किन्तु फिर भी उन विकल्पों को स्थापित करके मूर्ख (बहिरात्मा) व्यक्ति आत्मा में उन विकल्पों को स्थापित करके दुःख को प्राप्त करता है।

जितने विकल्प उतना दु:ख, जितनी अग्नि उतनी उष्णता, अग्नि घटाते जाओ तो ताप कम होता चला जायेगा। किन्तु जो विद्वान् उन विकल्पों को छोड़ देता है वह परमपद को प्राप्त करता है।

ज्ञानी वह है जो जानता है अग्नि जलाती है तो स्वयं को अग्नि से बचा ले, मूर्ख वह है जो स्वयं को अग्नि से न बचा पाये, वह जानता है या नहीं ये बात महत्वपूर्ण नहीं है, जो स्वयं को बचा ले वह ज्ञानी है न बचा पाये तो अज्ञानी है। शब्दों का कोष है कि अग्नि जलाती है, फिर भी उसमें हाथ डालता जाये तो उसे ज्ञानी नहीं कहते हैं। ज्ञानी से आशय है जो स्वयं को पापों से, प्रतिकूलताओं से, इन्द्रिय विषयों की आसक्ति से राग-द्वेष से बचा लेता है वह ज्ञानी होता है, जो अपने आपको किसी भी प्रकार से बचाने में असमर्थ है, भले ही दूसरों को बचाने की चेष्टा कर रहा है फिर भी वह अज्ञानी कहलाता है।

प्रश्न-यहाँ असुख शब्द क्यों कहा ? दु:ख भी कह सकते थे ?

उत्तर-आपकी बात ठीक है किन्तु असुख इसलिये लिखा क्योंकि इन्द्रियों के विषयों से संसारी प्राणियों को सुख प्राप्त होता है। मूर्ख की भाषा में वे इन्द्रिय रूप विषय, सुख के कारण हैं किन्तु विद्वान् की दृष्टि में जब वह विकल्पों का त्याग करता है तो वह सुख असुख में बदल जाता है। वह दु:खरूप है। जिसे हम पहले सुख कह रहे थे वह हमारी अज्ञान दशा है ज्ञान दशा होते ही, धारणा बदलते ही वह सुख का असुख हो गया।

प्रश्न-पुनर्विद्वान से क्या आशय है ?

उत्तर-पुन: अर्थात् अनन्तर, बाद में, पहले तो मूर्खता की बात बता दी, रात्रि के अनंतर दिन, अंधकार के बाद प्रकाश, अज्ञान के बाद ज्ञान। अनादि काल से व्यक्ति उसी धारणा में चल रहा है, पुन: अर्थात् पश्चात्। पहले तो वे क्रियायें कर रहा है पश्चात् उन्हें छोड़कर वह विद्वान कहलायेगा। ज्ञानी बाद में अज्ञानी नहीं बनता। अनादिकाल से हम अज्ञानी रहे, अब ज्ञानी बनेंगे अनंतकाल के लिये। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई जीव अनादि काल से ज्ञानी हो अब अनंतकाल के लिये अज्ञानी बन जाये। तो पुन: अर्थात् बाद में जब उसकी धारणा बदल गयी तो सुख भी असुख हो गया।

५२. उपसंहार

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च, संसार दुःख जननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुख मुपैति परात्मनिष्ठ-, स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम्॥१०५॥

अन्वयार्थ-तन्मार्गं-उस परमपद की प्राप्ति का उपाय बतलाने वाले **एतत् समाधितंत्रम्**-इस समाधि तंत्र को-परमात्मस्वरूप संवेदन की एकाग्रता को लिए हुए जो समाधि उसके प्रतिपादक इस 'समाधि-तन्त्र' नामक शास्त्र को **अधिगम्य**-भले प्रकार अनुभव करके **परात्मनिष्ठः**-परमात्मा की भावना में स्थिर चित्त हुआ अन्तरात्मा **संसार दुःख-जननीं**-चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों को उत्पन्न करने वाली **परत्र**-शरीरादि परपदार्थों में **अहं धियं पर बुद्धिं च**-जो स्वात्मबुद्धि तथा परात्मबुद्धि है उसको **मुक्त्वा**-छोड़कर **जननाद्विमुक्तः**-संसार से मुक्त होता हुआ **ज्योतिर्मयं सुखं**-ज्ञानात्मक सुख को **उपैति**-प्राप्त कर लेता है।

इस समाधितंत्र ग्रंथ से उस आत्मा को जानकर उस परात्मनिष्ठ अवस्था को जो ज्योतिर्मय है उसे प्राप्त कर लेता है।

पहले देखें-परम पद की प्राप्ति का मार्ग क्या है? मार्ग है परममार्ग, अपरम पद की प्राप्ति का मार्ग है अपरममार्ग। मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग मोक्षमार्ग है, संसार की प्राप्ति का मार्ग संसार मार्ग है, शुद्धात्मा की प्राप्ति का मार्ग है अशुद्ध अवस्था का त्याग करके शुद्ध अवस्था की प्राप्ति। संसार की प्राप्ति उसका संवर्धन बहिरात्मपने से ही टिक सकता है। जब तक संसार और मोक्ष दोनों में भेद नहीं है, जब तक आत्मा और अनात्मा में भेद नहीं है, जब तक कल्याण अकल्याण में भेद नहीं है, जब तक तन और चेतन में भेद नहीं है तब तक संसार ही संसार है, और जब आत्मा-अनात्मा में भेद हो गया, जब तन और चेतन में भेद हो गया जब व्यक्ति ने जान लिया कि ये संसार है ये मोक्ष है दोनों को अलग-अलग शब्दों में भी जान लिया, अर्थों में भी जान लिया, जान करके अलग-अलग कर लिया तब संभावना है वह जिसे प्राप्त करना चाहेगा, उसे प्राप्त कर लेगा।

जिसने जान लिया दूध में घी है, दूध घी नहीं है, घी अलग है-छांछ अलग है दोनों चीजें उस दूध में विद्यमान हैं जिसे जो चाहिये वह ले ले। छांछ चाहिये तो घी को निकाल कर फेंक दे और घी चाहिये तो छांछ को अलग कर दे। दोनों चीजें नहीं। संसारी प्राणी के पुरुषार्थ के माध्यम से संसार भी मिलता है, मोक्ष भी मिलता है। दोनों को प्राप्त करने का मार्ग अलग-अलग है।

चार पुरुषार्थ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष कहे। धर्म और मोक्ष के बीच में चलने वाला पुरुषार्थ जीवन में सुखकारी होता है मोक्ष देता है किंतु जो अर्थ और काम पुरुषार्थ में रहता है वह संसार मार्गी है। धर्म मार्ग है और मोक्ष उसका फल है। अर्थ और काम में अर्थ मार्ग है और काम मंजिल।

संसार के जो कोई भी प्राणी अर्थोपार्जन करते हैं धन का संग्रह करते हैं, वस्तुओं का संग्रह करते हैं वह इन्द्रिय विषयों का सुख भोगने के लिये, काम सेवन करने के लिये किन्तु जिसने काम सेवन का त्याग कर दिया हो उसे वस्तु संग्रह करने की आवश्यकता नहीं रही। न ही धन कमाने की आवश्यकता होगी। अंगना उसे चाहिये जो अंगना का सुख चाहता है रौद्रध्यान चार प्रकार के कहे।

हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी और चौथा कुशीलानंदी नहीं कहा परिग्रह संरक्षणानंदी कहा। क्योंकि वे एक में ही दोनों पापों को मिलाकर चल रहे हैं। जब परिग्रह है तो परिग्रह का संचय विषय सेवन के लिये किया जाता है। विषय संरक्षण में आनंद मानना यह रौद्र ध्यान हो गया। यहाँ पर भी कह रहे हैं जो व्यक्ति अभी आत्मा-अनात्मा का भेद नहीं जान पाया, ऐसा व्यक्ति आत्मा को कैसे प्राप्त करेगा ? नारियल को प्राप्त करके अंदर की गरी को व नारियल को जानता ही नहीं है उसे बस बाहर से नारियल दिखाई दे रहा है अंदर की गरी को प्राप्त नहीं कर सकता। यदि वह तोड़ता भी है तो नारियल के साथ-साथ अंदर का गोला भी टूट जायेगा। पहले तो तोड़ना नहीं चाहेगा सुरक्षित नहीं रखना चाहेगा चाहे पानी, रखा-रखा सूख जाये या सड़ जाये वह फोड़ेगा नहीं तो जिसे इस बात का बोध है कि ये ग्राह्य नहीं है, ये तो सुरक्षा का कवच है अंदर की वस्तु मुझे ग्रहण करने के योग्य है ऐसा व्यक्ति उसे पहले सुखा लेता है जिससे वह अलग हो जाये।

अन्तर्ज्ञान, भेदज्ञान के चिंतन से वह शरीर व आत्मा को अलग-अलग कर लेता है जैसे मशीन के माध्यम से क्रीम अलग कर ली पानी अलग, यह कार्य प्रयत्न पूर्वक करना पड़ता है, सहजता से अलग नहीं होता या भाग्य से, सौभाग्य से देवयोग से वह अवस्था प्राप्त नहीं होती उसकी प्राप्ति में तो केवल एक ही उपाय है, एक ही कारण है वह है प्रयत्नपूर्वक।

जोलों पौरुष थके न तौलों, उद्यम सो चरना

यत्न करके ही वह प्राप्त किया जा सकता है। तो यहाँ कह रहे हैं पहले बुद्धि पूर्वक 'परत्र' जो पर पदार्थ हैं, पर विषय हैं उनका त्याग करो, फिर 'अहंधियं' जो पर पदार्थों में मेरेपने की बुद्धि है उसका त्याग करो। उन पर पदार्थों को छोड़ना भी जरूरी है क्योंकि उन्हें छोड़े बिना कल्याण नहीं होगा। हमें आत्म वैभव को प्राप्त करना है तो पर के वैभव को छोड़कर ही मिलेगा। हम जब तक चोर बनकर रहेंगे दूसरे की वस्तु को अपना मानकर रहेंगे, तब तक हमें अपनी वस्तु मिलेगी नहीं, उस अपराध में हमें सजा भुगतनी पड़ेगी। जब हमें ये बोध हो जायेगा कि ये वस्तु हमारी नहीं है तो हम छोड़ देंगे, किन्तु वस्तु छोड़ने के साथ-साथ वस्तु में अपनत्व भाव भी छोड़ना है।

'कायोत्सर्ग' का अर्थ होता है-काया से ममत्व का त्याग करना, जब काया से ममत्व छूटेगा तो व्यक्ति तड़पेगा नहीं रोयेगा नहीं। काया को यदि छोड़ना है तो पहले ममत्व छोड़ा जाता है। ये काया मेरी नहीं है और कायोत्सर्ग को वही कर सकता है जो व्यक्ति अन्तर्ज्ञानी हो, भेदविज्ञानी

हो। मिथ्यादृष्टि कायोत्सर्ग नहीं कर सकता नौ बार णमोकार मंत्र पढ़ सकता है 108 बार या उससे भी ज्यादा बार पढ़ सकता है किन्तु कायोत्सर्ग तो सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है। क्योंकि बहिरात्मा काया को आत्मा से अलग मानता ही नहीं है, जब मानता ही नहीं है तो उसके प्रति ममत्व छोड़ेगा कैसे? जिस व्यक्ति ने जान लिया घर अलग है, मैं अलग हूँ तब तो घर के प्रति मोह छोड़ देगा, घर के जलने से मैं नष्ट नहीं होता और जो घर को मान रहा है कि मैं हूँ तो घर टूटेगा और इसको अटैक पड़ेगा या आँखों में आँसू बहेंगे।

यहाँ पर बता रहे हैं कि जब तक आत्मा के अलावा पर-पदार्थों में आत्म-बुद्धि है तब तक उसे मोक्षमार्ग नहीं मिलता, तब तक वह मुक्त नहीं होता, कल्याण को प्राप्त नहीं करता यहाँ दोनों बातों को कहा।

मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने के लिये, कल्याण को प्राप्त करने के लिये यह 'समाधितन्त्र' नाम का ग्रंथ है इसे अच्छी तरह पढ़ो और विचार करो। यह ग्रंथ तो एक वृक्ष है जिस पर फल लगते हैं। पहले फल लगते हैं पर वस्तु को छोड़ने के फल, पर वस्तु को छोड़ दिया किंतु उसमें आत्मबुद्धि को नहीं छोड़ा तो वे फल कटुक ही रहेंगे, बिना वैराग्य के त्याग दु:खद हो जाता है। वैराग्य होता है तो त्याग होता ही होता है यहाँ बता रहे हैं कि समाधितंत्र ग्रंथ को पढ़कर के, फिर उस मोक्षमार्ग में संलग्न हो जाओ। पर वस्तु को छोड़ दो और उसमें निहित आत्म-बुद्धि को भी छोड़ दो, जब दोनों को छोड़ दोगे तो फिर आप आत्मा के वैभव को प्राप्त कर सकोगे।

आत्मा का वैभव कैसा है? वह वैभव ज्योतिर्मय है। अनंतज्ञान पुंज युक्त है। वह उत्कृष्ट आत्म निष्ठा से युक्त है, वह अपने आप में पूर्ण है, अपने आप में लीन रहने के योग्य है और उस उत्कृष्ट आत्मा की दशा ये ही है कि जब आत्मा पूर्ण रूप से आत्मा-आत्मा रह जाये, आत्मा आत्मा में समा जाये तो समझ लेना परमात्म दशा की प्राप्ति हो गयी। जब तक आत्मा आत्मा के अलावा किसी और में समायी हुयी है या आत्मा में आत्मा के अलावा कुछ और समाया हुआ है तब तक वह आत्मा परमात्मा नहीं बनी, परात्मनिष्ठ नहीं कहलायेगी।

इस प्रकार यहाँ 3-4 बातें इस अंतिम काव्य में कहीं-जो व्यक्ति पर पदार्थों को छोड़ देता है, पर पदार्थों में आत्म बुद्धि को छोड़ देता है इस समाधितंत्र ग्रंथ को पढ़कर के स्वयं ज्योतिर्मय होकर के अनंतज्ञान को धारण करके परम सुख का भोग करता है।

ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्म मल, वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते हैं अमल निकल परमातम, भोगें शर्म अनंता॥

इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह अवस्था ही परात्मनिष्ठ अवस्था है, उत्कृष्ट आत्मा की अवस्था है जो आत्मा में आत्मा के होने से होती है। 'शुद्धप्पा' वही स्वात्मोपलब्धि है

स्वस्वरूप की प्राप्ति है। इसे प्राप्त करने के लिये समाधितंत्र प्रकाश पुंज की तरह है। बाहर का प्रकाश बाहर के व्यक्ति दे सकते हैं अंतरंग का प्रकाश (दीपक) तो हमें स्वयं ही जलाना पड़ेगा, बाहर चौपाल पर दीये जलाने वाले तो बहुत लोग मिलेंगे तुम्हारी आत्मा में दीपक जलाने वाला कोई न मिलेगा। तुम्हें यदि लगे मेरी आत्मा में अंधेरा हो रहा है तो समाधितंत्र जैसे ग्रंथों को पढ़कर के, आचार्यों की वाणी को सुनकर पढ़कर के उनके प्रज्ज्वलित दीपक को देखकर अपने आत्मदीप को भी जलाने की कोशिश करना यदि न जला पाओ तो उनके चरणों में माथा रगड़ के उनकी ज्योति का संस्पर्श करना, जिससे आपके अंदर बुझी ज्योति भी जल जायेगी। चाहे धोखे से, भूल से चाहे बुद्धिपूर्वक या श्रद्धा से या बिना श्रद्धा से यदि एक बार भी बुझी हुयी ज्योति प्रज्ज्वलित दीपक के साथ संस्पर्शित करती है तो बुझा हुआ दीपक भी जाज्वल्यमान हो जाता है।

वीतरागी प्रभु से आपने राग किया है या द्वेष किया कल्याण नियामक है। चंदन पुष्प को हाथ में रखें या घिसें गंध तो आयेगी ही और अग्नि से कोई प्यार करे या पैरों से फेंके तो वह जलायेगी ही जलायेगी। जिसका जैसा स्वभाव होता है उससे उसी की प्राप्ति होती है। वीतरागता के पास पहुँचकर आपने राग किया या द्वेष, वीतरागता को अपने चित्त में बसाया तो उसका कल्याण हो गया।

इस प्रकार यह ग्रंथ पूर्णता को प्राप्त हुआ।

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

प्राकृत साहित्य

1. प्राकृत वाणी भाग-1, 2, 3
2. अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)
3. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
4. अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)
5. जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
6. जदि-किदि-कम्मं (यति कृतिकर्म)
7. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
8. णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
9. तच्चसारो (तत्त्व सार)
10. धम्म-सुत्तं (धर्म सूत्र)
11. रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)
12. सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
13. अप्पणिब्भर भारदो (आत्मनिर्भर भारत)
14. विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्या वसु श्रावकाचार)
15. अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
16. अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)
17. णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
18. मूल-वण्णो (मूल वर्ण)
19. मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)
20. विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)
21. विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)
22. समवसरण सोहा (समवशरण शोभा)
23. वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)
24. अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)
25. कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)
26. को विवेगी (विवेकी कौन)
27. पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)
28. तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)
29. रयणकंडो (सूक्ति कोश)
30. धम्म-सुत्ति-संगहो (धर्म सूक्ति संग्रह)
31. कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
32. खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
33. सिरि सीयलणाह चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)
34. अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
35. समणायारो (श्रमणाचार)

भावार्थ

1. अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
2. णिग्गंथ-थुदि (निर्ग्रंथ स्तुति)
3. तच्च-सारो (तत्त्वसार)
4. रट्ठसंति-महाजण्णो (राष्ट्रशांति महायज्ञ)
5. णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
6. अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)

टीका ग्रंथ

1. प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)
2. वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3. नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)

इंग्लिश साहित्य

Inspirational Tales Part- 1 & 2

2. Meethe Pravachan Part-1

वाचना साहित्य

1. मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)
2. बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
3. शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)
4. स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)

प्रवचन साहित्य

1. आईना मेरे देश का
2. उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3. उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
4. उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)
5. उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)
6. उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7. उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)
8. उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9. उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)
10. उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11. उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)
12. खुशी के आँसू
13. खोज क्यों रोज-रोज
14. गुरुत्तं भाग 1-16
15. चूको मत
16. जय बजरंगबली
17. जीवन का सहारा
18. ठहरो! ऐसे चलो
19. तैयारी जीत की
20. दशामृत
21. धर्म की महिमा
22. ना मिटना बुरा है न पिटना
23. नारी का धवल पक्ष
24. शायद यही सच है
25. श्रुत निर्झरी
26. सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
27. सीप का मोती (महावीर जयंती)
28. स्वाती की बूँद

हिंदी गद्य रचना

1. अन्तर्यात्रा
2. अच्छी बातें
3. आज का निर्णय
4. आ जाओ प्रकृति की गोद में
5. आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान
6. आहारदान
7. एक हजार आठ
8. कलम पट्टी बुद्धिका
9. गागर में सागर
10. गुरु कृपा
11. गुरुवर तेरा साथ
12. जिन सिद्धांत महोदधि
13. डॉक्टरों से मुक्ति
14. दान के अचिन्त्य प्रभाव
15. धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)
16. धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17. निज अवलोकन
18. वसु विचार
19. वसुनन्दी उवाच
20. मीठे प्रवचन (भाग 1-6)
21. रोहिणी व्रत कथा
22. स्वप्न विचार
23. सद्गुरु की सीख
24. सफलता के सूत्र
25. सर्वोदयी नैतिक धर्म
26. संस्कारादित्य
27. हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना

1. अक्षरातीत
2. कल्याणी
3. चैन की जिंदगी
4. ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5. मुक्ति दूत के मुक्तक
6. हाइकू
7. हीरों का खजाना
8. संस्कार वाटिका

विधान रचना

1. कल्याण मंदिर विधान
2. कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3. चौसठऋद्धि विधान
4. णमोकार महार्चना
5. दु:खों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)
6. यागमंडल विधान
7. समवशरण महार्चना
8. श्री नंदीश्वर विधान
9. श्री सम्मेदशिखर विधान
10. श्री अजितनाथ विधान
11. श्री संभवनाथ विधान
12. श्री पद्मप्रभ विधान
13. श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)
14. श्री चंद्रप्रभ विधान
15. श्री पुष्पदंत विधान
16. श्री शांतिनाथ विधान
17. श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान
18. श्री नेमिनाथ विधान
19. श्री महावीर विधान
20. श्री जम्बूस्वामी विधान
21. श्री भक्तामर विधान
22. श्री सर्वतोभद्र महार्चना

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य

1. आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)
2. आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य जी)
3. आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)
4. कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. कर्म प्रकृति (सिद्धांत चक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)
6. गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7. चार श्रावकाचार संग्रह
8. जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9. जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)
10. जिन सहस्रनाम स्त्रोत
11. तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)
12. तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13. तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)
14. तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15. तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)
16. तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17. धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)
18. धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19. ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)
20. नीतिसार समुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदी स्वामी जी)
21. पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)
22. प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23. पंचरत्न
24. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्र स्वामी जी)
25. मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)
26. भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी जी स्वामी)
27. भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)
28. मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्ति स्वामी जी)
29. योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबालचंद्र जी)
30. योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31. रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)
32. वसुऋद्धि
    - रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)
    - पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)
    - लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)
    - अर्हत प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)
    - स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
    - इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
    - वैराग्यमणि माला (आ. श्री विशाल कीर्ति जी)
    - ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33. सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगति स्वामी जी)
34. सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35. समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
36. समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37. सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)
38. विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय जी)

प्रथमानुयोग साहित्य

1. अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)
2. आराधना कथा कोष (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3. करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)
4. कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5. गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)
6. चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7. चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)
8. चेलना चारित्र
9. चंद्रप्रभ चरित्र
10. चौबीसी पुराण
11. जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
12. त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13. देशभूषण कुलभूषण चरित्र
14. धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15. धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
16. नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17. नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)
18. प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19. पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)
20. पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21. पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)
22. पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23. भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)
24. भद्रबाहु चरित्र
25. मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
26. महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27. महापुराण (भाग 1-2)
28. महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29. मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)
30. यशोधर चरित्र
31. रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)
32. रोहिणी व्रत कथा
33. व्रत कथा संग्रह
34. वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35. विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)
36. वीर वर्धमान चरित्र
37. श्रेणिक चरित्र
38. श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39. श्री जम्बूस्वामी जी चरित्र (श्री वीर कवि)
40. शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41. सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)
42. सम्यक्त्व कौमुदी
43. सती मनोरमा
44. सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45. सुरसुंदरी चरित्र
46. सुलोचना चरित्र
47. सुकुमाल चरित्र
48. सुशीला उपन्यास
49. सुदर्शन चरित्र (पं. गोपालदास बैरया)
50. सुभौम चरित्र
51. हनुमान चरित्र
52. क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
   - नवग्रह विधान
   - वास्तु निवारण
   - मृत्युंजय (पं. आशाधर जी कृत)
2. श्री जिनसहस्त्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान
3. श्री जिनसहस्त्रानाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक
4. शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान
   - भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल))
   - शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी)
   - सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)
5. कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)
6. तत्त्वोपदेश (छहढ़ाला) (पुं. प्रवर दौलतराम जी)
7. दिव्य लक्ष्य (संकलन-हिंदी पाठ, स्तुति आदि)
8. धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
10. भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11. विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)
12. सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13. संसार का अंत
14. स्वास्थ्य बोधामृत

गुरु पद विनयांजली साहित्य

1. आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)
2. अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3. पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)
4. वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5. दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्वनंदनी, वर्चस्वनंदनी)
6. स्मृति पटल से भाग 1-2 (आ. श्री वर्धस्वनंदनी)
7. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
8. गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)
9. परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
10. स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)
11. स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
12. हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)
13. वसु सुबंध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद्र जी जैन)
14. समझाया रविन्द न माना (सचिन जैन 'निकंज')

नोट

(307)

नोट